से गम्भीर ग्रन्थपर भी बहुत कम हैं। इतने पर भी यह व्यापार अभी बन्द नहीं है। नयी टीकाएँ बनती ही चली जा रही हैं। सब-पर तो नहीं पर बहुतोंपर भोजदेव—(पातञ्जल दर्शनपर 'राजमार्तण्ड'-वृत्तिकार)—की यह उक्ति थोड़ी बहुत चरितार्थ होकर रह जाती है—

"दुर्बोधं यदतीव तद्विजहति स्पष्टार्थमित्युक्तिभिः
स्पष्टार्थेष्वपि विस्तृतिं विदधति व्यर्थैः समासादिकैः।
अस्थानेऽनुपयोगिभिश्च बहुभिर्जल्पैर्भ्रमं तन्वते,
श्रोतॄणामिति वस्तुविप्लवकृतः सर्वेपि टीकाकृतः॥" ❀

पर इसमें टीकाकारों बेचारोंका इतना अपराध नहीं, व्याख्येय ग्रन्थ की गम्भीरता और दुर्बोधताका भी दोष है।

ध्वनि व्यञ्जना प्रधान कविताके मर्मका समझना बड़ा कठिन है, और फिर उसे औरोंको समझाना तो और भी कठिन है। कविका आशय क्या है—किस भावको लक्ष्यमें रखकर कविने यह रचना रची है, यह तो स्वयं कवि ही कह सकता है। व्याख्याकारों-का तो अक्सर अटकलहीसे काम चलाना पड़ता है। उसमें कहीं कविके अभिप्रेत लक्ष्य पर पहुंच जाते हैं, कहीं भटककर उससे दूर जा पड़ते हैं। "गूंगे की सैन - (इशारा)--और निगूढार्थ काव्य-

---

❀ अत्यन्त दुर्बोध स्थलको "स्पष्ट है" कहकर छोड़ देते हैं, और जहां व्याख्याकी अपेक्षा नहीं—अर्थ स्पष्ट है—वहाँ समासको बखिया उधेड़-कर और रूप आदिके अवतरण दे देकर व्यर्थ ही विस्तार कर देते हैं। जहाँ आवश्यकता नहीं, वहां अनुपयोगी जल्पोंसे — पूर्व पक्ष उत्तर पक्ष आदिके विकल्पोंसे— बातका बतंगड़ बनाकर श्रोताओंको (पाठकोंको) भ्रम जाल में फंसा देते हैं।

—इस प्रकार सब ही टीकाकार सुलझानेके बदले और उलटा उलझाने वाले— मतलब नष्ट करने वाले — होते हैं।

का आशय समझना कुछ एक सी बात है। एक ही कविताका भाव कोई कुछ समझता है, कोई कुछ। कोई भी टीकाकार जान बूझकर अपने पाठकोंको भ्रममें भटकाना नहीं चाहता — वस्तु-विप्लव नहीं करता— वह वस्तु — (प्रतिपाद्य विषय) — ही 'इलहाम' या गूंगेकी सैनके समान दुर्ज्ञेय हो तो व्याख्याकार बेचारा क्या करे ! अपनी अपनी समझसे सब ही "ग्रन्थग्रन्थियां" सुलझानेकी चेष्टा करते हैं, फिर भी सब को सर्वत्र सफलता प्राप्त नहीं होती, कहीं न कही किसी उलझनमे उलझकर रही जाते हैं। अभिप्राय यह कि व्याख्याकारोंके मतभेद या अर्थविरोधमे मानवस्वभाव-सुलभ मतिभ्रमके अतिरिक्त यह भी एक प्रधान कारण है। जो कुछ भी हो टीकाकारोकी सम्मति सब जगह एक दूसरेसे प्राय: नहीं मिलती। यह कुछ विहारीसतसईके टीकाकारोहीकी बात नहीं, संस्कृतसाहित्यके व्याख्याकारोंकी भी यही दशा है, वहां यहाँसे भी अधिक मतभेद पाया जाता है। यदि ऐसा कहा जाय कि यह परिपाटी वहींसे हिन्दीमे भी आयी है तो अनुचित न होगा। ऐसे प्रकरणोंमे — मतभेदके प्रसङ्गोंमे — किसका मत ठीक है, इसका निर्णय विवेकी पाठकोंकी समझ और रुचिपर अवलम्बित रहता है।

दोहोंका क्रम

विहारी-सतसईके दोहोंका क्रम प्राय: सब पुस्तकोंमे एक दूसरेसे भिन्न है—किसी का क्रम किसीसे नहीं मिलता—इसका कारण यही प्रतीत होता है कि कविने किसी क्रमको लक्ष्यमे रखकर दोहोंका निर्माण नही किया, (किसी किसीका मत है कि क्रमके चक्करमे पड़कर विहारी यदि दोहोंकी रचना करते, तो उनमें यह असाधारण चमत्कार शायद ही होता !) कारण कुछ भी रहा हो, पर यह निर्विवाद है कि दोहोंकी रचना किसी क्रमविशेषके

आधारपर नहीं हुई। पीछे से अपनी अपनी रुचिके अनुसार टीकाकारोंने "मिसलबन्दी" कर ली है। यही बात सुप्रसिद्ध "सुरतिमिश्र" ने अपनी टीका "अमरचन्द्रिका" में लिखी है—

"कियो विहारी सतसया सु तौ अगरजा वेस,
मिसलबार पै यह भई टीकाहित अमरेस।"
चमत्कार ही मुख्य है या सतसैया माहिं,
नहीं अनुक्रम नायिका ग्रन्थरीति ह्यां नाहि॥"

—जिस प्रकार "अगरजे मे" (एक प्रकारके सुगन्धित अंगराग या उबटने में)-केसर, कस्तूरी, चन्दन, कपूर आदि सब एकमें मिले जुले रहते हैं—(वैष्णवों के "सकल पुंगल" के समान!)-इसी प्रकार 'सतसई' कविता-कामिनी का "अरगजा"+ है! इसमें "चमत्कार" ही मुख्य है। यह नायिकाभेद आदि की रीति का अनुक्रम ग्रन्थ नहीं है।

इन विखरे हुए आवदार मोतियों को अनुक्रमकी लड़ियोंमें पिराकर अपनी अपनी मरज़ी से "मिसलबन्दी" की मालाएं—(मुक्ताहार)—बना ली हैं। किसी 'मिसलबन्द' का दोहा है—

"जदपि सोभा है घनी मुक्ताफल मे देख,
गुहे ठौर की ठौर में लरमें होत विसेख।"

"मिसलबन्दी"

पुराने टीकाकारोंमें सबसे पहले कृष्णकविने 'मिसलबन्दी' की है, पर उसमें प्रकरणविभागानुसार क्रमनिर्देश नहीं है।

उसके पीछे "अनवरचन्द्रिका" में क्रम बैठाया गया है। उसमें नीचे लिखे १५ प्रकाशों में— प्रकरणों में— सतसई को विभक्त

× 'अरगजा"—"यक्षकर्दम"। "अलग्राजा।"

किया गया है—

१—साधारण नायिका वर्णन

२—सिखनख वर्णन

३—मुग्धाआदि त्रिविधनायिका वर्णन

४—स्वाधीनपतिका आदि अष्ट नायिका वर्णन

५—प्रेमप्रशंसा वर्णन

६—मानिनी वर्णन

७—सुरति सुरतान्त वर्णन

८—परकीया वर्णन

९—दशदशा वर्णन,

१०—सात्त्विक भाव वर्णन

११—मद्यपान वर्णन

१२—हाव वर्णन

१३—नवरस वर्णन

१४—षडऋतु वर्णन

१५—प्रस्ताविक अन्योक्ति वर्णन ×

"प्रतापचन्द्रिका" मे भी इसी क्रमका अनुसरण किया गया है।

श्रीयुत सुरतिमिश्र ने (अमरचन्द्रिका में) इन नीचे लिखे पांच प्रकरणों में विभक्त करके सतसई को "मिसलवार" किया है——

१—भक्तिमार्ग वर्णन विलास

२—शृंगाररस वर्णन विलास

३—प्रस्ताविक वर्णन विलास

४—अन्योक्ति वर्णन विलास

५—शान्तरस वर्णन विलास।

+अनवरचन्द्रिकाकारने प्रकरणविभाग की संख्या १६ लिखी है। पर पहला 'प्रकाश' (प्रकरण) 'प्रभु वशवर्णन' मूल ग्रन्थ से सम्बन्ध नहीं रखता।

हरिकविकी "हरिप्रकाश टीका" पुरुषोत्तमदासजी के बांधे हुए क्रमपर है, पर इसमे "अनवरचन्द्रिका" या "अमरचन्द्रिका" के समान प्रकरणविभाग नहीं है।

पुरानी टीकाओं मे सबसे पिछला क्रम "आजमसाही" क्रम है, जिसपर सुप्रसिद्ध श्रीलल्लूलालजी की "लालचन्द्रिका" है। 'सुकवि' व्यासजी के "विहारीविहार" मे भी इसी क्रमपर "कुंडलियां" हैं। और क्रमोंकी अपेक्षा यह कुछ अच्छा है, सरल है। "सतसई-सञ्जीवन" मे दोहों का पाठ, क्रम और विषयसूचनिका-शीर्षक इसीके-लालचन्द्रिकानुसृत आजमसाही क्रमके—अनुसार ही रक्खा गया है। इस क्रम मे प्रकरण-विभाग इस प्रकार है—

१—नायक नायिका वर्णन
२—संयोग वियोग शृंगार वर्णन
३—सिख नख ऋतु वर्णन
४—प्रस्ताविक, अन्योक्ति, नवरस, नृपस्तुति, परिशिष्ट, त्रुटित वर्णन।

"आजमशाही" क्रमके सम्बन्धमे अबतक सर्वसाधारणकी यह धारणा चली आती थी कि इसका निर्माता या निर्मापयिता शाहज़ादा "आज़मशाह"-(औरंगज़ेब का पुत्र) -है पर अब इस मत-में परिवर्तन हुआ चाहता है। श्रीयुत बाबू जगन्नाथदासजी "रत्नाकर" बी० ए० को पता चला है-उन्हे कहीं से कोई पुष्ट प्रमाण मिला है—कि उक्त धारणा निरी निराधार है, "रत्नाकर जी" कहते है कि "यह क्रम—(आज़मशाही क्रम)—संवत् १७८१ वि० मे जौनपुर-निवासी "हरजू" कवि ने आज़मगढ़ के अधीश आज़मखां के लिये बांधा था"—अस्तु।

सतसई-सञ्जीवनकी रचनामें जिन प्राचीन टीकाओंसे सहायता ली गयी है, उनमें विशेषरूपसे उल्लेख्य ये हैं —

१—"लालचन्द्रिका" (डाक्टर ग्रियर्सन साहब वाला संस्करण)

२— व्यासजीका "विहारी-विहार"

३— "हरिप्रकाश"

४— कृष्ण कविकी टीका

५—"शृंगारसप्तशती" (कवि परमानंदकृत संस्कृत अनुवाद)

हस्तलिखित—

६—"अनवरचन्द्रिका"(श्रीयुत पण्डित ज्वालादत्तजी शर्म्मा मुरादाबादसे प्राप्त)

७—"अमरचन्द्रिका" (श्रीयुत पण्डित हरिनाथजी शास्त्री, छातावलिया—से प्राप्त)

८—"प्रतापचन्द्रिका" (विद्यानिधि श्रीयुत प० गिरिधरजीशर्म्मा चतुर्वेद जयपुरसे प्राप्त)

९—"रसचन्द्रिका" (श्रीयुत कविवर बाबू मैथिलीशरणजी गुप्त चिरगांव—झाँसी—से प्राप्त)

उल्लिखित टीकाओंका (प्रतापचन्द्रिकाको छोड़कर) ऐतिह्य विवरण "विहारीविहार" की भूमिकामे विस्तृत रूपसे वर्णित है। यहाँ हस्तलिखित टीकाओंकी उन प्रतियोके सम्बन्धमें संक्षिप्त निवेदन कर देना उचित प्रतीत होता है, जो मुझे मिली है।

"अमरचन्द्रिका" की वह प्रति जिसका उपयोग मैंने किया है, १५० वर्ष पुरानी लिखी हुई है। पुस्तककी समाप्ति पर यह लेख है "सवत् १८२९ वर्पे पौप कृष्णा २ शनौ लिखितमिदं पुस्तकम्।"

लेखकने अपना नाम धाम नहीं लिखा, पुस्तक पक्की स्याहीसे पक्के- सुपाठ्य — अक्षरोमें एकही हाथकी लिखी हुई, पत्राकार है।

इतनी पुरानी होने पर भी इसमे एक 'नवीनता' है, वह (नवीनता) अकारादि क्रमसे दोहोका सूचीपत्र है, जो नवीन प्रणालीके

सूचीपत्रोंके ढंगसे वहुत कुछ मिलता जुलता है, इस सूचीपत्रमें एक विशेपता है, प्रत्येक सवर्णादि दोहोंकी प्रतीकके प्रारम्भमे उनका योग (टोटल) दिया हुआ है, यथा 'क' दोहा ६८ 'ग' दोहा २१ इत्यादि।

इससे यह प्रमाणित होता है कि अकारादिक्रमके सूचीपत्र-निर्माणकी प्रथा पुरानी है, नयी नहीं। "विहारीविहार" मे व्यासजी ने जो दोहोंके क्रमकी सूची दी है उसमें "अमरचन्द्रिकाके" कोष्ठ-कमे अनेक दोहोंके आगे + यह चिह्न लगाकर यह सूचित किया है कि उन पर "अमरचन्द्रिका" नहीं है, पर इसमे दोचारको छोड़कर वे सब दोहे है जो व्यासजीको उस पुस्तकमे (अमरचन्द्रिकामें) नही थे। व्यासजीकी वह आदर्श पुस्तक संवत् १८५४ वि० की लिखी हुई थी, यह उससे २५ वर्ष पुरानी है।

"अनवरचन्द्रिका" की समाप्तिपर लेखकने अपने नाम तथा पुस्तक लिखनेके समयका उल्लेख इस प्रकार किया है —

"लेखितं मया त्रिपाठिलालासर्मेति (शर्मणेति) संवत् १८५८ पौष शुक्ल: । तिथौ षष्ठ्यां शनिवारान्वितायां क्रकचाख्ययोग ।"

"अनवरचन्द्रिका" अनवरखां के लिये शुभकरण कविने संवत १७७१ वि०मे वनायी थी। ग्रन्थारम्भमे मङ्गलाचरणके छप्पयमे शुभ-करण कविकी 'छाप' है। शुभकरण कविने अनवरखांकी प्रशस्तिमें भी कोई ग्रन्थ लिखा था, जिसके कई दोहे इस पुस्तकमे यत्र तत्र उद्धृत है।

"अलापचन्द्रिका" मे भी शुभकर्णके नाम से यह दोहा रौद्ररस के उदाहरणमे दिया है—

"लखि दुरजन अनवर प्रबल, कीनों कोप कराल।
चढ़ी भ्रुकुटि फरके अधर भये नैन जुग लाल॥

व्यासजी ने '(विहारी विहार" की भूमिकामे) अनवरचन्द्रि—काके सम्बन्धमे लिखा है कि—

"यह ग्रन्थ नवाव अनवरखांकी सभाके कँवलनयन आदि कवियोंने नवाबके लिये बनाया था।"

सम्भव है ग्रन्थकी रचनामे शुभकर्णकविके साथी कमलनयन आदि अन्य कवि भी रहे हों, पर इस पुस्तकमें केवल शुभकर्ण कविही का नामोल्लेख है।

यह टीका संक्षिप्त होनेपर भी अलङ्कार आदि-सूक्ष्म पर महत्त्वपूर्ण बाते जाननेमे साहित्यजिज्ञासुओंके लिये अत्यन्त उपयुक्त है।

"प्रतापचन्द्रिका" जयपुराधीश महाराज प्रतापसिहजीके आदेशसे उन्हीके नामपर संवत् १८४२ वि०मे मनीराम कविने बनायी थी। इसमे प्रकरणविभाग दोहोका क्रम आदि सब कुछ अनवरचन्द्रिकाके अनुसार है। यह उसीके आधारपर बनी है। प्रत्येक दोहेपर "अनवरचन्द्रिका" लिखकर "अमरचन्द्रिका" भी पूरी उद्धृत कर दी है। अपने पृथक् मत का भी कहीं कही उल्लेख है।

अलङ्कार अलबत्ता इसमे सब से अधिक है। ढूंढ भाल कर कोई न कोई नया अलङ्कार हर दोहे पर पहली टीकाओंसे अधिक लिखा गया है। यही इसकी विशेषता है। टीकाकी समाप्तिपर मनीराम जी ने यह "विशेषता" लिख भी दी है—

"अनवरखा अरु अमरते भूषन, अधिक सु जोइ।
श्रीप्रताप की चन्द्रिका, रिपे लिखे कवि जोइ॥"

"रसचन्द्रिका" सतसईकी यह गद्य टीका नरवरगढ़के राजा छत्रसिहके लिये नवाब ईसवीखांने संवत् १८०६ में वि० मे बनायी या बनवायी थी। यह बात इसी ग्रन्थ के अन्त मे लिखी है। इसके सम्बन्धसे श्रीव्यासजीने "विहारीविहार" की भूमिकामे लिखा है—

"सबसे विलक्षण बात इसमें (रसचन्द्रिकामे) यह है जो

सब अकारादिक्रमसे रक्खे हैं। पहला दोहा "अपने अपने मत लगे" और अन्तका "हा हा वदन उघारि दृग" है।"

"रसचन्द्रिका" की जो प्रति मेरे पास है, वह चैत्र वदि ५ संवत् १८८५ वि० लिखी हुई है, इसमें व्यासजीका लिखा उक्त क्रम नहीं है। यहां पहला दोहा "मेरी भव बाधा हरौ" और अन्त का "गली अंधेरी सांकरी" है। अस्तु। पुरानी उपलब्ध गद्य टीकाओं में ("हरिप्रकाश" को छोड़कर) यह टीका अच्छी है। भाषा मध्य-भारत की ब्रजभाषा और खड़ी बोली का संमिश्रण है।

अप्रकाशित पुरानी टीकाएँ किसी सम्मेलन या सभाके उद्योगसे सुसम्पादित होकर शुद्ध रूपमे यदि प्रकाशित होजायँ तो "मनारंजन" व्यापारकी अपेक्षा साहित्योद्धारकी दृष्टिसे यह काम बड़े महत्त्व-का हो।

मुद्रित टीकाओंमे "कृष्ण कवि" की टीका जो छपी मिलती है, वह बहुत भ्रष्ट अपूर्ण और अशुद्ध है। हस्तलिखित पुरानी प्रतियोके आधार पर उसका संशोधन और सम्पादन होकर यह भी प्रकाशित होनी चाहिये। ऐसा होने पर इस बात का निर्णय भी होजायगा कि नवलकिशोर प्रेस मे मुद्रित प्रति मे कृष्णकवि के अतिरिक्त जो अन्यान्य (लगभग२५) कवियोकी कविता मिलीजुली मिलता है, इस-का रहस्य क्या है। अर्थात् कृष्णकवि ने उन उन दोहों पर अपनी कविता न रचकर दूसरे कवियों की — (जिनमे विहारीके पूर्ववर्त्ती भी हैं, समसामयिक भी और पश्चाद्वर्त्ती भी) — दोहोके भावसे मिलती जुलती समानार्थक सूक्तियां दे दी हैं, या पीछेसे किसी लेखकने कृष्णकविकी टीकामे प्रक्षिप्त रूपसे उन्हे मिला दिया है।

सतसईकी सर्वश्रेष्ठ पुरानी गद्य टीका "हरिप्रकाश" भी अब अप्राप्य हो चली है, उसकी भी रक्षा होनी चाहिये।

नये रंगढंगके टीका तिलक तो बनते ही रहेंगे, इन पुराने रत्नों-

की भी खबर लेनी ज़रूरी है—अनुपलब्धि की धूल से निकाल-कर इन्हे भी साहित्य की हाट मे सजाना चाहिये। साहित्यनुरागी सतसईके प्रेमी इस ओर ध्यान दे, इस प्रसंग में यही प्रार्थनीय है।

प्राचीन टीकाओंसे सतसई सञ्जीवनकी रचनामें जो अमूल्य साहाय्य मिला है, वह नामोल्लेखपूर्वक प्राय: उन्हींके शब्दोंमें, कहीं अपनी भाषासे लिख दिया है। अलंकारादिनिर्देशमें इन्हींके भावोंको अभिव्यक्त करनेके अभिप्रायसे, कुवलयानन्द, साहित्य-दर्पण, काव्यप्रकाशादि संस्कृत ग्रन्थोंसे तथा "भाषाभूषण" आदिसे अवतरण देकर लक्षणसमन्वय कर दिया है। "गाथासप्तशती" "आर्यासप्तशती" आदि इस विषयके आकर ग्रन्थोसे दोहोंके उपजीव्य पद्य उद्धृत करके यथामति तुलनात्मक समालोचना लिख दी है। समानार्थक सूक्तियां दे दी है

यह सब कुछ किया है, पर फिर भी 'भोजदेव' की उल्लिखित उक्ति बहुत जगह चरितार्थ होती दिखाई देगी !

विद्वद्वरेण्य महनीयचरित प्राचीन टीकाकारोंका (तथा जिन उदारचेता सज्जनोंसे यह अलभ्य ग्रन्थ-रत्न प्राप्त हुए उन सबका) नितान्त अनुगृहीत और अत्यन्त उपकृत हूं—

"एतेषां महान्तमुपकारभारं कृतज्ञतावनतेन शिरसा वहामि, श्रद्धासमन्वितेन चेतसा चिरं चिन्तयामि, हर्षगद्गदेन वचसा मुक्तकण्ठमुद्घोषयामि"—

इस भाष्याभासकी कुत्सित कन्थामें कोई चमकता हुआ कीमती टुकड़ा कहीं दिखाई दे तो वह इन्हींकी खान या दूकानका है। भ्रान्ति-यूका और अनौचित्य-मत्कुणका दोष-दंश विदग्धताके सुकुमार शरीरमें कहीं चुभता हुआ प्रतीत हो तो उसके उत्पादनका अपराधी लेखकका अज्ञान-प्रस्वेद है।

विवेचक विद्वानोंसे "चरकचतुरानन" के शब्दोंमें प्रार्थना है—

"सभ्याः सद्गुरुवाक्सुधास्रुति-परिस्फीतश्रुतीनस्मि वो,
नालं तोषयितुं पयोदपयसा नाम्भोनिधिस्तृप्यति।
व्याख्याभासरसप्रकाशनमिदं त्वस्मिन् यदि प्राप्यते,
क्वापि क्वापि कणो गुणस्य तदसौ कर्णे क्षणं दीयताम् ॥"

देहली,
शिवरात्रि, मंगलवार,
संवत् १९७९ वि०

विदुषां विधेयः
पद्मसिंहशर्मा
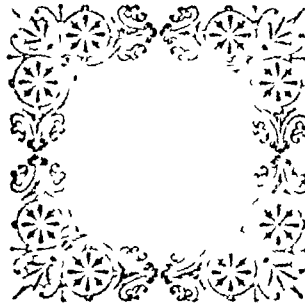
सम्मतियां

(विहारीके विशेषज्ञ श्रीयुत कविवर वावू जगन्नाथ-

दास जी "रत्नाकर" बी० ए० की सम्मति)

"श्रीयुत पण्डित पद्मसिह जी शर्म्मा के बिहीरीसतसई पर संजीवन भाष्य का भूमिकाभाग संवत १९७५ मे प्रकाशित हुआ था। इसमे उन्होने बिहारी के कतिपय दोहों की अनेक कवियों की रचनाओं से तुलनात्मक समालोचना करके सतसई का सौष्टव स्थापित किया था, जिससे हिंदी के लेखको तथा पाठको का ध्यान बिहारी की सतसई की ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ, और सब लोगों के हृदयो मे संजीवन भाष्य के दर्शनों की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हुई। आज उसी चिराभिलषित संजीवन भाष्य का एक खण्ड हमारे सामने उपस्थित है। इसमे शर्म्मा जी ने १२६ दोहों का भाष्य लिखा है। उनके लेख के निराले रंग ढंग तथा भाषा की सजीवता ने तो उनके भूमिकाभाग ही से पाठकों के हृदयों पर अपना प्रभाव जमा रक्खा है। उनके विषय मे हमारा कुछ कहना स्वयं प्रकाश को दिये से दिखलाना मात्र है।

शर्म्मा जी ने जो विहारी के दोहो के अर्थ किये हैं उनके विषय मे विशेष रूप से सम्मति प्रकाशित करना हम अपने लिए समुचित नहीं समझते, क्योकि हमने स्वयं भी विहारी की सतसैया की एक टीका लिखी है, और बहुत से दोहों के भावार्थो पर शर्म्मा जी के मत से हमारा मत भिन्न है। अतः यदि हम यह लिखें कि शर्म्मा जी ने भावार्थ बहुत अच्छे लिखे है तो हमको अपनी टीका मे उन का ग्रहण करना आवश्यक होजाता है। और यदि हम उनके अर्थों को ठीक न कहे तो हमारा अपने मत पर आग्रह करना समझा

जायगा। इन दोनों ही बातों के लिए हम तैयार नहीं हैं, अतः हम इस विषय में कुछ न कहकर केवल इतनी बात मुक्तकण्ठ से कह सकते है कि दोहों के भावार्थ जो शर्म्मा जी ने माने हैं उनका प्रकाश बड़ी अच्छी रीति तथा सरल भाषा में किया है। जिस से पाठक लोग बिना प्रयास ही के उनको समझ ले सकते हैं। जिन दोहों के अर्थों मे प्राचीन टीकाकारों के मतों मे भेद है उनके कई कई अर्थ भी शर्म्मा जी ने बड़ी सुन्दरता से लिख दिये हैं, जिससे पाठकों को स्वयं अर्थों के तारतम्य पर विचार करने का अवसर प्राप्त होता है।

प्रत्येक दोहे मे जो अलङ्कार कहे गए हैं उनके लक्षण संस्कृत तथा भाषा ग्रन्थों से उद्धृत करके ऐसी रीति पर समझाए गए है कि वे सामान्य पाठकों के भी भली भांति हृदयंगम हो सकते है, और उक्त लक्षणों को दोहे पर घटाकर भी दिखला दिया है जिससे अलङ्कार के ज्ञान प्राप्त करने मे विद्यार्थियों को बड़ी सहायता प्राप्त हो सकती है।

प्रायः दोहों की टीका में उन दोहों से मिलते जुलते अन्य संस्कृत अथवा भाषा के कवियों के छंद उद्धृत किये गए है। इससे दोहों के अर्थ स्पष्ट होजाने के अतिरिक्त पाठकों को इस बात पर भी विचार करने का अवसर प्राप्त होता है कि एक ही भाव को किस किसने किस किस प्रकार से शब्दों के आभूषण पहनाए है।

इस टीका में दोहों का क्रम लालचन्द्रिका के अनुसार रक्खा गया है। इसके विषय में एक यह आवश्यक वक्तव्य है कि यह क्रम आजमशाही कहलाता है और इसको बहुत से लोग औरंगजेब के बेटे आजमशाहका बंधवाया हुआ क्रम समझते हैं। पर उनका यह समझना सर्वथा भ्रममात्र है। वस्तुतः यह क्रम जवनपुरनिवासी हरजू कवि ने संवत् १७८१ में बांधा था, और इसको आजमगढ़

के अधीश आजमखां को समर्पित किया था। इन्हीं हरजू कवि ने उक्त आजमशाह के निमित्त एक भाषा अमरकोष भी बनाया था।

विहारी की सतसई के पढ़ने वालों के निमित्त, हमारी समझ में यह ग्रन्थ अवश्य देखनेके योग्य है, क्योकि, इससे साहित्यकी बहुत सी बातें ज्ञात हो सकती है। भाषा में यह अपने रंग ढंग का एक निराला ग्रन्थ है।"—जगन्नाथदास "रत्नाकर" बी० ए०
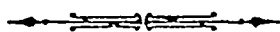
(श्रीमान् कविराज "शंकर" महाराज की सम्मति)

(दोहा)

हो सञ्जीवन भाष्य का, हृदय-पद्मपै बास।
क्यों न विहारीलाल की, कविता करे विलास॥

(राजगीत)

पण्डित पद्मसिंह शर्म्मा ने, सुन्दर सदनुष्ठान किया।
श्रद्धाधार प्रसिद्ध काव्य का, विस्तृत बोधविधान किया॥
सिद्ध सतसई के पद्यों का, शुभ सञ्जीवन भाष्य रचा।
अर्थ विहारी की कविताका, हस्तामलक समान किया॥
भूषण धार सजीले दोहे, नाच रहे रस रंग भरे।
दूषण दो हा खाकर भागे, खरता का अपमान किया॥
परख पुरानी टीकाओं को, भाव चमत्कृत चमकाये।
अपनी सञ्जीवनी ज्योति का, सबसे मर्म मिलान किया॥
योगयन्त्रसे काव्यकला का, सारा स्वरस निचोड़ लिया।
मित्रो! ठीक न्यायसे कहिये, कितना अनुसंधान किया॥

देखो उद्धृत किये अनूठे, सरस पद्य कवि लोगों के।
बोलो किस दोहासे किसने, अपना मान समान किया ॥
पाकर इष्टादर्श भाष्य को, वाचक-वृन्द प्रसन्न हुआ ।
माना गौरव "रत्नाकर"ने, रञ्जन-रत्न प्रदान किया ॥
भूल चूक बतलाने वाले, मुद्रित लेख समोद पढ़े ।
ठीक जिसे जाना वह माना, नेक नहीं अभिमान किया ॥
ब्रजभाषाके कवि-देवों का, कविकुल—इन्द्र विहारी है ।
किसी किसी ने सुनकर ऐसा, समझा असदुत्थान किया ॥
रख दो चार कटीले पौदे, निजरचना-फुलवाड़ी में ।
कहिये शर्म्मा जी क्यों इतना, शङ्कर-कृतिका मान किया ॥

(दोहा)

कवितादेवी ने दिये, तुक्कड़ देव बिसार ।
साथ विहारी शक्र के, करती फिरे विहार ॥ १ ॥

—नाथूराम शङ्कर शर्म्मा (शङ्कर)

अंक, द्वीप, ग्रह, चन्द्र ते संवत लेहु टटोल,
छिपी छटा छाई जगत, छप्यो ग्रन्थ अनमोल ।

"बेताब"

ग्रन्थोंकी वर्णक्रम-सूची

नीचे उन ग्रन्थोंका पृष्ठाङ्कसहित नामनिर्देश हुआ है, जिनकी प्रसङ्गानुसार " भूमिकाभाग "में चर्चा हुई है, या जिनसे कुछ अंश उद्धृत किये गये हैं।

नामोंकी वर्णक्रम-सूची

जिनका उल्लेख भूमिका-भागमें किसी प्रसङ्गमें हुआ है।

पद्योंकी वर्णक्रम-सूची—

नीचे संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी और उर्दू फारसीके उन पद्यो, पदों और प्रमाण-वाक्योंकी अकारादि क्रमसे सूची दी जाती है, जो भूमिकाभागमें किसी प्रसंगमे उद्धृत और उदाहृत हुए है—

संस्कृत

प्राकृत

हिन्दी

उर्दू-फ़ारसी

शुद्धि पत्र—

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	२३	रससे	रसके
८	६	वह	यह
४६	१२	इनके	इसके
४७	१२	बाहुसे	बाहुके
५४	२०	रयाम	स्याम
६२	७	वद्य	पद्य
७८	२	विलौ	विलो
७९	१६	रकीब	रकीबका
८२	११	समाप्त	समाप्ति
८३	१३	भूल	धूल
९२	२८	नकश	नक्श
९४	१५	परदें	पर्दे
११७	२३	गोपस्खलन	गोत्रस्खलन
१२३	१०	दोहोंमे	दोहेमे
१३४	३	कर	कह
१४०	८	मानहि	मानही
१७८	१५	अहां	यहां

२२१, २२३ पृष्टांक वाली पंक्तियोमे "दोष-परिहार" शीर्षक चाहिये।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२२२	१३	वृन्दवान	वृन्दावन

कहीं कहीं मात्राओंके न उठनेसे या भ्रम प्रमादवश और अशुद्धि छूट गयी हो तो विज्ञ पाठक उसे स्वयं ठीक करने की कृपा करें ।

भूमिका— पृ० १ से २४८ तक— की अनुक्रमणिका समाप्त हुई ।

विहारीकी सतसई

वक्तव्य

आज कलके कुछ वैज्ञानिक विद्वानोंका विचार है कि कविताका समय गया, वर्तमान युग विज्ञानका और सभ्यता का युग है, सभ्यता कविताकी विघातक है, कवितामें और मैजिक लैन्टर्नमें बहुत कुछ सादृश्य है, जिस प्रकार मैजिक लैन्टर्नका तमाशा अधिक अंधेरेमें ही अच्छा प्रतीत होता है, इसी प्रकार कविताका चमत्कार भी अविद्यान्धकारमें ही खूब चमकता है। कविता एक 'जादू' है, जादूका असर अशिक्षितो पर ही होता है।" सुशिक्षित और सुसभ्य 'विद्वच्चक्रचूड़ामणि' महाशयोका कविताके विषयमे ऐसा ही सिद्धान्त सुननेमे आता है।

"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन !"

भगवान् कृष्णका यह वाक्य कविताकी दशापर इस समय पूरी तरह चरितार्थ होरहा है, अन्यान्य कर्मकलाप तो ज्ञानाग्निकी लपटकी भेट होने से ज्यो त्यो बचा भी है, पर कविता-कर्म विज्ञानाग्निकी प्रचण्ड ज्वालामालामे पड़कर सचमुच ही

भस्मसात् हो गया है, विज्ञान-प्रभाकरके प्रखर प्रकाशपुञ्जमें कवितान्धकार एकदम विलीन होगया है, इसलिये इस समय उल्लिखित कृष्णवाक्य इस प्रकार पढ़ाजाय तो समुचित होगा-

" ज्ञानाग्नि. कविकर्माणि भस्मसात् कुरुते ध्रुवम् ।"

ऐसी दशामें इस विज्ञानयुगमे कविताकी चर्चा चलाना, वैज्ञानिक हृदयोपर कविताकी छाप वैठाना, पत्थरमें जोंक लगाने वा शिरीष पुष्पकी नोकसे वज्रमणिमे छेद करनेकी चेष्टा करना है। कविताका युग वीत गया, कविता हो चुकी अव उसकी चर्चा करनी गड़े मुर्दे उखाड़ना, वीती वातको रोना है। उर्दूके सुप्रसिद्ध कवि हालीने कविताके हालपर आंसू वहाते हुए निराशाजनक स्वरमे कहा है—

"शाइरी मरचुकी अव ज़िन्दा न होगी यारो !
याद कर करके उसे जी न कुढ़ाना हर्गिज़।"

यह एक पक्षका कथन है। दूसरा पक्ष कहता है कि नहीं ऐसा नहीं है, कविता कभी मर नही सकती, यह अमर है, जव तक मनुष्यके शरीर-यंत्रमें हृदयका पुर्ज़ा जुड़ा है, उसे स्निग्ध करने, कठोरताके मोरचेसे (ज़ंगसे) वचाने, मृदु मसृणगतिसे चलाते रहनेके लिये कविता-स्नेह नितान्त प्रयोजनीय है, अवश्य अपेक्षित है। जिस दिन मनुष्यसमाज सर्वथा हृदयहीन हो जायगा, उस दिन कविताकी ज़रूरत भी न रहेगी। मनुष्यताके दो प्रधान अङ्ग हैं, एक मस्तिष्क, दूसरा हृदय, विज्ञान मस्तिष्क है तो कविता हृदय, दोनोके कार्यक्षेत्र—अधिकार सीमा—पृथक् पृथक् हैं. मस्तिष्कका पौदा विज्ञानके खादसे वढ़ता और पलता है, हृदयकी कली कविताके प्रकाशसे खिलती है, मस्तिष्कका ढोल विज्ञानके डंकेसे वोलता है, और हृदयकी तंत्री कविताके तारसे गूंजती है, विज्ञान ग्रीष्मकालका प्रचण्ड

ववंडर है और कविता वसंतकी मलयसमीरका ठंडा झोंका, विज्ञान प्रचण्डरश्मि दिवाकरका प्रखर प्रकाश है, कविता सुधाकरकी दुःखसन्तापहारिणी शीतल ज्योत्स्ना ।

जब विज्ञानका बाज़ार नहीं लगा था तब भी कविताकी हाट खुली थी, इस विश्वप्रपञ्चका निर्माता स्वयं 'महाकवि' है, 'विज्ञान' नामसे एकाध बार उसका परिचय दिया गया है तो 'कवि' कहकर उसे बार बार पुकारा गया है, किसीने क्या खूब कहा है—

> "स्तोतुं प्रवृत्ता श्रुतिरीश्वरं हि
> न शाब्दिकं प्राह न तार्किकं वा ।
> * ब्रूते तु तावत्कविरित्यभीक्ष्णं
> काष्ठा परा सा कविता ततो नः ॥"

दुर्विदग्ध वैज्ञानिकमानीके सिवा कोई सच्चा वैज्ञानिक कविताविरोधी नहीं हो सकता ।

कविताकी उपयोगिताका अपलाप किसी प्रकार सम्भव नहीं है । कविता एक ऐसा चलता जादू है जो सिरपर चढ़कर बोलता है ।

बहुतसे महापुरुष कविताकी उपयोगिताका स्वीकार तो किसी प्रकार करते हैं, पर शृङ्गार रस उनके निर्मल नेत्रोंमें कुछ खार सा या तेज़ तेज़ाब सा खटकता है, वह शृङ्गारकी रसीली लताको विषैली समझकर कविता-वाटिकासे एकदम जड़से उखाड़ फेंकनेपर तुले खड़े हैं, उनकी शुभ सम्मतिमें शृङ्गार ही सब अनर्थोंकी जड़ है, शृङ्गार रसके 'अश्लील' काव्योंने ही संसारमें अनाचार और दुराचारका प्रचार किया है, शृङ्गारके

* "कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः"- "कविं पुराणमनुशासितारम्" इत्यादि शतशः श्रुतियां उच्चैःस्वरसे ईश्वरको 'कवि' कहकर पुकार रही हैं ।

साहित्यका संसारसे यदि आज संहार कर दिया जाय तो सदाचारका संचार सर्वत्र अनायास होजाय, फिर संसारके सदाचारी और ब्रह्मचारी बननेमें कुछ.भी देर न लगे !

कई महानुभाव तो भारतवर्षकी इस वर्तमान अधोगतिके श्रेयका सेहरा भी शृङ्गारके सिरपर ही बांधते हैं, ! उनकी समझमें शृङ्गार रसहीकी मूसलाधार अतिवृष्टिने देशको डुबोकर रसातल पहुँचाया है !

ठीक है, अपनी अपनी समझ ही तो है,इस विचारके लोग भी तो हैं जो कहते हैं कि वेदान्तके विचार —उपनिषदोंमे वर्णित अध्यात्म भावोंके प्रचारने— ही देशको अकर्मण्य, पुंस्त्वविहीन और जातिको हीन दीन बनाकर वर्तमान दशामे पहुंचाया है ! फिर वर्त्तमान शिक्षाप्रणालीके विरोधियोंकी भी कुछ कमी नहीं है, वह इस शिक्षाको ही सब अनर्थोंकी जननी जानकर धिक्कार रहे हैं, यदि यह पिछले मत ठीक है तो पहला भी ठीक हो सकता है, जब अन्तिम रस (शान्त) संसारकी अशान्तिका कारण हो सकता है तो आदिम (शृङ्गार) भी अनर्थका मूल सही ! पर तनिक ध्यान देकर देखा जायतो अपनी अपनी जगह सब ठीक हैं—

" गुलहाय - रङ्गारङ्गसे है जीनते-चमन ।
ऐ 'ज़ौक़' इस जहांको है ज़ेब इख्तलाफ़से ॥ "

पदार्थवैचित्र्यके साथ रुचिवैचित्र्य भी सदासे है और सदा रहेगा । यह विवाद कुछ आजका नहीं, बहुत पुराना है, पहले यहाँ शृङ्गाररस-प्राधान्य-वादियोंका एक पक्ष था। उसका मत था कि शृङ्गार ही एक रस है, वीर, अद्भुत आदिमें रसकी प्रसिद्धि गतानुगतिकताकी अन्धपरम्परासे यों ही होगयी है, इस मतके समर्थनमें सुप्रसिद्ध भोजदेवने

"शृङ्गारप्रकाश" नामक ग्रन्थ लिखा था, जिसका उल्लेख विद्याधरने *अपनी "एकावली" के रसप्रकरणमें इस प्रकार किया है—

"राजा तु शृङ्गारमेकमेव 'शृङ्गारप्रकाशे' रसमुररीचकार, यथा—

वीराद्भुतादिषु च येह रसप्रसिद्धिः
सिद्धा कुतोऽपि वटयक्षवदाविभाति।
लोके गतानुगतिकत्ववशादुपेता-
मेतां निवर्तयितुमेव परिश्रमो नः॥
शृङ्गार-वीर-करुणाद्भुत-हास्य-रौद्र-
बीभत्स-वत्सल-भयानक-शान्त-नाम्नः।
आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियो वयन्तु
शृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनामः॥"

* * *

इसी प्रकार एक दूसरा पक्ष था जो शृङ्गार रसको एक दम अव्यवहार्य समझता था, वह केवल शृङ्गारकाही नही, शृङ्गार-वर्णनके कारण काव्यरचनाहीका विरोधी था! उसकी आज्ञा थी—

"असभ्यार्थाभिधायित्वान्नोपदेष्टव्य काव्यम्"।

अर्थात्—असभ्य-अश्लील—अर्थका प्रतिपादक होनेके कारण काव्यका उपदेश (काव्यरचना) नहीं करनी चाहिये।

इसके उत्तरमे काव्यमीमांसाके आचार्य कविकुलशेखर "राजशेखर" कहते है कि—

"प्रक्रमापन्नो निबन्धनीय एवायमर्थः।"

---

* विद्याधरका समय १४वी शताब्दी है, इनकी 'एकावली' पर मल्लिनाथने टीका की है, मल्लिनाथने 'राजा तु' की व्याख्यामें लिखा है "भोजराज-मतमाह राजा त्विति।"

अर्थात् प्रक्रमप्राप्त ऐसे विषय-विशेषका वर्णन अपरिहार्य है, वह होनाही चाहिए, वह काव्यका एक अङ्ग है प्रकरण मे पड़ी बात कैसे छोड़ी जा सकती है ? जो बात जैसी है कवि उसका वैसा वर्णन करनेके लिये विवश है। शृङ्गार की सामग्री– तत्सम्बन्धी नाना प्रकारके दृश्य– जब जगत्में प्रचुर परिमाणमें सर्वत्र प्रस्तुत हैं, तब कवि उनकी ओरसे आंखें कैसे बंद करले? तद्विषयक वर्णन क्यो न करें ? कवि ही ऐसा करते हों, केवल वही इस 'असभ्याभिधान' अपराधके अपराधी हो, यह बात भी तो नहीं, राजशेखर कहते हैं—

"तदिदं श्रुतो शास्त्रे चोपलभ्यते"

इस प्रकारका वर्णन—जिसे तुम असभ्य और अश्लील कहते हो — श्रुतियोमे और शास्त्रोमे भी तो पाया जाता है ।

इसके आगे कुछ श्रुतियां और शास्त्रवचन उद्धृत करके राजशेखरने अपने उक्त मतकी पुष्टि की है। उनके उद्धृत वचनोंके आगे कवियोंके " अश्लील " वर्णन भी लज्जासे मुंह छिपाते हैं !

वास्तवमे देखा जायतो कवियोपर असभ्यता या अश्लीलताके प्रचारका दोषारोपण करना उनके साथ अन्याय करना है, कवियोंने अश्लीलताको स्वयं दोष मानकर उससे बचे रहनेका उपदेश दिया है, काव्यदोषोमे "अश्लीलता" एक मुख्य दोष माना गया है, फिर कवि अश्लीलताका उपदेश देनेके लिये काव्यरचना करें यह कैसे माना जा सकता है !

शृङ्गाररसके काव्योमे परकीयादिका प्रसङ्ग कुरुचिका उत्पादक होनेसे नितान्त निन्दनीय कहा जाना है ; यह किसी अंशमें ठीक हो सकता है, पर ऐसे वर्णनों से कविका अभिप्राय समाजको

नीतिभ्रष्ट और कुरुचिसम्पन्न बनाना नहीं होता, ऐसे प्रसङ्ग पढ़कर धूर्त विटोंकी गूढ लीलाओंके दाव घातसे परिचय प्राप्त करके सभ्य समाज अपनी रक्षा कर सके —इस विषयमें सतर्क रहे— यही ऐसे प्रसंगवर्णनका प्रयोजन है। काव्यालंकारके निर्माता रुद्रटने भी यही बात दूसरे ढंगसे कही है—

"न हि कविना परदारा, एष्टव्या नापि चोपदेष्टव्याः।
कर्त्तव्यतयान्येषां न च तदुपायोऽभिधातव्यः॥
किन्तु तदीयं वृत्तं, काव्याङ्गतया स केवलं वक्ति।
आराधयितुं विदुषस्तेन न दोषः कवेरत्र॥"

❀ ❀ ❀

रुचिभेद और अवस्थाभेदसे काव्योंके कुछ वर्णन किन्हीं विशेष व्यक्तियोंको अनुचित प्रतीत हों, यह और बात है, इससे ऐसे काव्यकी अनुपयोगिता सिद्ध नहीं होती, अधिकारभेदकी व्यवस्था सब जगह समान है, काव्यशास्त्र भी इसका अपवाद नहीं है, कौन कहता है कि वृद्ध जिज्ञासु, बाल ब्रह्मचारी, मुमुक्षु यति और जीवन्मुक्त सन्यासी भी काव्यके ऐसे प्रसंगों को अवश्य पढ़ें! ऐसे पुरुष काव्यके अधिकारी नहीं है। फिर यह भी कोई बात नहीं है कि जो चीज़ इनके लिये अच्छी नहीं है वह औरोंके लिये भी अच्छी न हो, इनकी रुचिको सबकी रुचिका आदर्श मानकर संसारका काम कैसे चल सकता है!

काव्योंके विषयकी आप लाख निन्दा कीजिये, अश्लील और गन्दे बतलाकर उनके विरुद्ध कितना ही आन्दोलन कीजिये, पर जबतक चटपटी भाषाका चटखारा सहृदय समाजसे नहीं छूटता जिसका छूटना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है— सहृदयताके साथ इसका बड़ा गहरा अटूट सम्बन्ध है—तबतक काव्योंका प्रचार रुक नही सकता, बड़े बड़े सुरुचिसञ्चारक प्रचा-

रकों और धार्मिक उपदेशकोंतकको देखा गया है कि श्रोताओं पर अपनी वक्तृताका रंग जमाने के लिये उन्हेंभी काव्योंकी लच्छेदार भाषा और सुन्दर सूक्तियों, अनोखी अन्योक्तियोंका बीच बीचमें सहारा लेना ही पडता है, अच्छी भाषा पढ़ने सुननेका लोगोंका 'दुर्व्यसन' भी हमारे सुधारकोंके काव्यविरोध-विषयक प्रयत्नोंको अधिकांशमें निष्फल कर देता है! ईश्वरकरे वह 'दुर्व्यसन' बनारहे।

यह समझना एक भारी भ्रम है कि काव्योंके पढ़नेवाले अवश्य ही कुरुचिसम्पन्न लोग होते हैं, शृङ्गार रसकी चाशनी चखनेकी स्वाभाविक रुचि ही काव्योंकी ओर पाठकोंको नहीं खींचती, भाषा के माधुर्यकी चाट भी कुछ कम नहीं होती! *

चाहे अपने मतसे इसे देशका 'दुर्भाग्य' ही समझिए कि हमारे कवियोंने प्रकाशके देवतासे अन्धकारका काम क्यों लिया, ऐसी सुन्दर भाषा का 'दुरुपयोग' ऐसे 'भ्रष्ट' विषयके वर्णनमें क्यों कर गये? पर जो कर गये सो कर गये, जो हो गया सो हो गया, वह समय ही कुछ ऐसा था, समाजकी रुचि ही कुछ वैसी थी और अब दुबारा ऐसे कवि यहां पैदा होनेसे रहे जो वर्तमान सभ्य समाजकी सुरुचिके अनुसार सामयिक विषयोंका ऐसी ललित, मधुर, परिष्कृत और फड़कती हुई, जानदार भावमयी भाषामे वर्णन करके मुर्दादिलोंमें जान डाल जायँ, सोते हुओंको जगा जाँय और जागतोंको किसी काममे लगा जाँय! हमारी भाषाकी बहार बीत गयी, अब कभी खत्म न होनेवाली 'खिज़ां' के दिन हैं, भाषाके रसिक भौंरे कान देकर सुने और आंख खोलकर देखें कोई पुकार कर कह रहा है—

"जिन दिन देखे वे कुसुम, गयी सु बीत बहार।
अब अलि! रही गुलाबमें, अपत कटीली डार॥"

---

* "सही नफ़रत मज़ामीने ग़ज़लसे। मगर छोड़ें भी चटख़ारे ज़बांके॥"

जिस भावहीन निर्जीव भाषामें नीरस कर्णकटु काव्योंकी आज दिन सृष्टि हो रही है इससे सुरुचिका सञ्चार हो चुका! यह सहृदय समाजके हृदयोंमें घर कर चुकी! यह सूखी टहनी साहित्य-क्षेत्रमें बहुत दिन खड़ी न रह सकेगी। कोरे कामचलाऊपनके साथ भाषामें सरसता और टिकाऊपन भी अभीष्ट है तो इसके निस्सार शरीरमें प्राचीन साहित्यके रसका सञ्चार होना अत्यावश्यक है। विषयकी दृष्टिसे न सही भाषाके महत्त्वकी दृष्टिसे भी देखिए तो शृङ्गाररसके प्राचीन काव्योंकी उपयोगिता कुछ कम नहीं है, यदि अपनी भाषाको अलंकृत करना है तो इस पुरानी काव्यवाटिकासे—जिसे हजारों चतुर मालियोंने सैकड़ों वर्षतक दिलके खूनसे सींचा है—सदाबहार फूल चुनने ही पड़ेंगे। कांटोंके डरसे रसिक भौंरा पुष्पोंका प्रेम नहीं छोड़ बैठता, मकरन्दके लिये मधुमक्षिकाओंको इस चमनमें आनाही होगा, यदि वह इधरसे मुंह मोड़कर 'सुरुचि' के खयालसे स्वच्छ आकाश—पुष्पोंकी तलाशमें भटकेंगी तो मधुकी एक बूंदसे भी भेंट न हो सकेगी! हमारे सुशिक्षित समाजकी 'सुरुचि' जब भाषा-विज्ञानके लिये उसी प्रकारका विदेशी साहित्य पढ़नेकी आज्ञा खुशीसे दे देती है तो मालूम नहीं अपने ही साहित्यसे उसे ऐसा द्वेष क्यों है? परमात्मा इस 'सुरुचि'से साहित्यकी रक्षा करे—

"घरसे वैर अपरसे नाता। ऐसी वहू मत देहु विधाता॥"

बिहारीकी कविता शृङ्गारमयी कविता है, यद्यपि इसमें नीति, भक्ति, वैराग्य आदिके दोहोंका भी सर्वथा अभाव नहीं है, इस रंगमें भी बिहारीने जो कुछ कहा है, वह परिमाणमें थोड़ा होनेपर भी भावगाम्भीर्य, लोकोत्तर चमत्कार आदि गुणोंमें सबसे बढ़ा चढ़ा है. ऐसे वर्णनों को पढ़ सुनकर बड़े बड़े नीतिधुरन्धर, भक्तशिरोमणि और वीतराग महात्मातक झूमते देखे गये हैं,

फिर भी विहारीकी सतसई का मुख्य विषय शृङ्गार ही है, उसमें दूसरे रसोकी चाशनी "मज़ा मुंहका बदलनेके लिये" है। जिस प्रकार संस्कृत काव्य 'अमरुकशतक' और 'शृङ्गारतिलक' पर कुछ भगवद्भक्त टीकाकारोने भक्ति और वैराग्यकी तिलक छाप लगाकर उन्हें अपने मतकी दीक्षा दे डाली है, इसी प्रकार किसी किसी प्रखरबुद्धि टीकाकारने विहारीसतसईपर भी अपना रंग जमानेकी चेष्टा की है, किसीने उसमेसे वैद्यकके नुसखे निकालनेका प्रयत्न किया है,किसीने गहरे अध्यात्म भावोंकी उद्भावना की है ! अस्तु, विहारीसतसई जैसी कुछ है, सहृदय कवितामर्मज्ञोके सामने है। वह न आध्यात्मिक भावोंके रूपमे परिणत हो सकती है, न साम-यिकताके साँचेमें ही ढाली जा सकती है।

विहारीकी कविता जितनी चमत्कारिणी और मनोहारिणी है उतनी ही गहरी —गूढ़ और गम्भीर— है, उसकी चमत्कृति और मनोहरताका प्रमाण इससे अधिक और क्याहोगा कि समयने समाजकी रुचि वदलदी, पर वर्तमान समयके सुरुचि-सम्पन्न कविताप्रेमियोंका अनुराग उसपर आजभी वैसाही वना है, पहले पुराने ख़यालके 'खूसट' उसपर जैसे लट्टू थे आज नयी रोशनीके परवाने भी वैसे ही सौजानसे फ़िदा हैं ! उसकी गम्भीरताका अनुमान इसीसे किया जासकता है कि समय समयपर अनेक कवि विद्वानोंने उसपर पद्यमे, गद्यमें संस्कृत और हिन्दीमें टीका तिलक किये, पर उसकी गम्भीरता अभी वैसी ही वनी है, उसके जौहर पूरी तरह खुलनेमें नहीं आते, गहराईकी थाह नहीं मिलती। पहली टीकाओसे पाठकोकी तृप्ति न हुई, नयी टीकाएं वनी, फिर भी चाह वनी है कि और वनें !

सतसई और उसके टीकाकारोंको लक्ष्यमे रखकर ही मानो कविने पर्यायसे यह कहा है—

"लिखन बैठि जाकी सबिहि, गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगतके, चतुर चितेरे कूर॥"

कोई भी टीकाकार-चितेरा अपने अनुवाद-चित्र द्वारा विहारीकी कविता-कामिनीके अलौकिक लावण्यभरित भाव-सौन्दर्यको यथार्थतया अभिव्यक्त करनेमें समर्थ नहीं हो सका, सब ख़ाली ख़ाके खींचकर ही रह गये!

जब यह दशा है—साहित्य जगत्के परम प्रवीण प्राचीन चित्रकारोंकी चतुरता जब ठीक चित्र उतारनेमें समर्थ न हो सकी, पुराने प्रयत्नोंमें जब पूरी सफलता प्राप्त न हुई, "एक आंचकी कसर" बराबर बनीही रही, विहारीके इस अपार और अथाह काव्य-समुद्रका जब बड़े बड़े साहित्य-कर्णधार पार नहीं पासके, उसकी थाह पानेमें जब महाप्राण गोताखोरों का दम फूल गया, तब कोई शतच्छिद्र डोंगी उसके पार पहुंच सकेगी, कोई अल्पप्राण उसके तलतक पैठ सकेगा, यह आशा अवश्य दुराशामात्र है। 'पूर्णसरस्वतीके' शब्दोंमें कहना पड़ता है—

"निधौ रसानां निलये गुणाना-
मलङ्कृतीनामुदधावगाधे।
काव्ये कवीन्द्रस्य नवार्थतीर्थे
या व्याचिकीर्षा मम तां नतोऽस्मि॥

रसोंके निधि, गुणोंके भण्डार, अलंकारोंके अगाध समुद्र, अद्भुत और नवीन अर्थरत्नोंकी खान, कवीन्द्रके काव्यपर जो मेरी यह व्याचिकीर्षा व्याख्या करनेकी इच्छा—है, उसे नमस्कार है!

काव्यमर्मज्ञोंके आश्चर्य प्रकट करनेसे पहले, अपनी इस ढिठाईपर हमें स्वयं आश्चर्य है, इससे पहले कि कोई हमारे इस दुष्प्रयत्नपर हँसे, हम स्वयं इसपर हँसते हैं।

फिर भी विहारीकी सतसई का मुख्य विषय शृङ्गार ही है, उसमें दूसरे रसोंकी चाशनी "मज़ा मुंहका बदलनेके लिये" है। जिस प्रकार संस्कृत काव्य 'अमरुकशतक' और 'शृङ्गारतिलक' पर कुछ भगवद्भक्त टीकाकारोंने भक्ति और वैराग्यकी तिलक छाप लगाकर उन्हें अपने मतकी दीक्षा दे डाली है, इसी प्रकार किसी किसी प्रखरबुद्धि टीकाकारने विहारीसतसईपर भी अपना रंग जमानेकी चेष्टा की है, किसीने उसमेंसे वैद्यकके नुसखे निकालनेका प्रयत्न किया है, किसीने गहरे अध्यात्म भावोंकी उद्भावना की है! अस्तु, विहारीसतसई जैसी कुछ है, सहृदय कवितामर्मज्ञोंके सामने है। वह न आध्यात्मिक भावोंके रूपमें परिणत हो सकती है, न सामयिकताके सॉचेमें ही ढाली जा सकती है।

विहारीकी कविता जितनी चमत्कारिणी और मनोहारिणी है उतनी ही गहरी —गूढ़ और गम्भीर— है, उसकी चमत्कृति और मनोहरताका प्रमाण इससे अधिक और क्या होगा कि समयने समाजकी रुचि बदलदी, पर वर्तमान समयके सुरुचिसम्पन्न कविताप्रेमियोंका अनुराग उसपर आजभी वैसाही बना है, पहले पुराने ख़यालके 'खूसट' उसपर जैसे लट्टू थे आज नयी रोशनीके परवाने भी वैसे ही सौजानसे फ़िदा हैं! उसकी गम्भीरताका अनुमान इसीसे किया जासकता है कि समय समयपर अनेक कवि विद्वानोंने उसपर पद्यमे, गद्यमे संस्कृत और हिन्दीमें टीका तिलक किये, पर उसकी गम्भीरता अभी वैसी ही बनी है, उसके जौहर पूरी तरह खुलनेमें नहीं आते, गहराईकी थाह नही मिलती। पहली टीकाओंसे पाठकोंकी तृप्ति न हुई, नयी टीकाएं बनी, फिर भी चाह बनी है कि और बनें!

सतसई और उसके टीकाकारोंको लक्ष्यमें रखकर ही मानो कविने पर्यायसे यह कहा है—

"लिखन बैठि जाकी सबिहि, गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगतके, चतुर चितेरे कूर॥"

कोई भी टीकाकार-चितेरा अपने अनुवाद-चित्र द्वारा विहारीकी कविता-कामिनीके अलौकिक लावण्यभरित भाव-सौन्दर्यको यथार्थतया अभिव्यक्त करनेमें समर्थ नहीं हो सका, सब ख़ाली ख़ाके खींचकर ही रह गये!

जब यह दशा है—साहित्य जगत्‌के परम प्रवीण प्राचीन चित्रकारोंकी चतुरता जब ठीक चित्र उतारनेमें समर्थ न हो सकी, पुराने प्रयत्नोंमें जब पूरी सफलता प्राप्त न हुई, "एक आंचकी कसर" बराबर बनीही रही, विहारीके इस अपार और अथाह काव्य-समुद्रका जब बड़े बड़े साहित्य-कर्णधार पार नहीं पासके, उसकी थाह पानेमें जब महाप्राण गोताखोरों का दम फूल गया, तब कोई शतच्छिद्र डोंगी उसके पार पहुंच सकेगी, कोई अल्पप्राण उसके तलतक पैठ सकेगा, यह आशा अवश्य दुराशामात्र है। 'पूर्णसरस्वती'के शब्दोंमें कहना पड़ता है—

> "निधौ रसानां निलये गुणाना-
> मलङ्कृतीनामुदधावगाधे।
> काव्ये कवीन्द्रस्य नवार्थतीर्थे
> या व्याचिकीर्षा मम तां नतोऽस्मि॥

रसोंके निधि, गुणोंके भण्डार, अलंकारोंके अगाध समुद्र, अद्भुत और नवीन अर्थरत्नोंकी खान, कवीन्द्रके काव्यपर जो मेरी यह व्याचिकीर्षा व्याख्या करनेकी इच्छा—है, उसे नमस्कार है!

काव्यमर्मज्ञोंके आश्चर्य प्रकट करनेसे पहले, अपनी इस ढिठाईपर हमें स्वयं आश्चर्य है, इससे पहले कि कोई हमारे इस दुष्प्रयत्नपर हँसे, हम स्वयं इसपर हँसते हैं।

अपनी अयोग्यताको देखते हुए हमें कभी इस अशक्य कार्यमें हाथ डालनेकी हिम्मत न होती, पर कुछ कारणोंने इस अनधिकार-चेष्टाके लिये बलात् विवश कर दिया ।

संवत् १९६७ मे लेखकको सतसईकी एक टीकापर समालोचना लिखनी पड़ी, जो "सतसईसंहार" शीर्षक लेखमालाके रूपमें सालभरतक प्रयागकी सरस्वतीमें प्रकाशित होती रही, उसे पढ़कर सतसईकी ओर कवितापेमियोंका ध्यान कुछ ऐसा आकृष्ट हुआ कि उसके यथेष्ट प्रचारके लिये एक नये ढंगकी टीकाकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी, "जो बोलेसो दरवाज़ा खोले" के अनुसार अनेक सहृदय . सुहृत् सज्जनोंने आग्रहपूर्ण आदेश देकर प्रणयानुरोध करके-बढ़ावा देकर-दिल बढ़ाकर-उभारना शुरू कर दिया, टीका लिखनेका दुर्वह भार भी उसी ग़रीब समालोचना लेखकके ऊपर पटकना उचित समझा गया, यारलोगोंने उसे ज़बरदस्ती "ठोक पीट-कर वैद्यराज बनानेकी" ठान ली। वह इस काममे जितना ही अपनी अयाग्यता, अक्षमता प्रकट करता गया, उतना ही ऊपरसे यारलोगोंके तेज़ तक़ाज़ोंका कोड़ा पड़ता गया, छुटकारेकी और सूरत न देखकर उसे इस आज्ञाके आगे सिर झुकाने-टीकाकारोंके सवारोंमें नाम लिखानेके-लिये आख़िर मजबूर होना ही पड़ा ।

प्राचीन टीकाकारो ने इस समुद्रको अच्छी तरह यथाशक्ति यथासम्भव-मथ डाला है, नये टीकाकारोंके लिये अपनी समझमे कुछ छोड़ नही गये हैं, * प्राचीन टीकाओंको देखते

---

* फारसी के सुप्रसिद्ध कवि जामी ने अपने से पूर्ववर्ती कवियों को लक्ष्य करके अपनी भावमयी भाषा में कहा है :—

"हरीफां बादाहा ख़ुरदन्दो रफ्तन्द
तिही खुम खानहा करदन्दोरफ्तन्द ।"

हुए तो यही मालूम होता है कि इस खानके सब रत्न निकाले जा चुके है, अब कुछ हाथ पल्ले न पड़ेगा, पर सरस्वतीका भण्डार कुछ ऐसा अलौकिक और अक्षय है कि नीलकण्ठ दीक्षितके कथनानुसार उसमे कभी कमी नहीं है—

"पश्येयमेकस्य कवेः कृतिं चेत्
सारस्वतं कोशमवैमि रिक्तम् ।
अन्तः प्रविश्यायमवेक्षितश्चेत्
कोणे प्रविष्टा कविकोटिरेषा ॥"

यह सब कुछ सही सही, पर पहले वहांतक पहुंच हो तब न ?

प्राचीन टीकाओके आधार पर—उनकी शैलीपर या उनसे सहायता लेकर जो कुछ लिखा गया है, उसमें भूलकी कम सम्भावना है, भूले ज़रूर हुई होंगी पर वह सबके साझेकी होंगी इसलिये "पंचो मिल कीजै काज, हारे जीते न आवे लाज" और "मर्ग-अम्बोह जशने दारद्"[1] का ध्यान करके कुछ सन्तोष है। पर

"तुलनात्मक समालोचना"

के तौरपर जो कुछ लिखा गया है उसकी यथार्थता में सन्देहका पूरा अवकाश है क्योंकि यह मार्ग लेखक को स्वयं ढूंढ भालकर निर्माण करना पड़ा है, इसपर किसी "चन्द्रिका" या 'प्रकाश' ने प्रकाश नहीं डाला, इसमे किसी प्राचीन या नवीन टीकासे रत्ती भर या इञ्च बराबर सहायता उसे नहीं मिली । इसकी भूलोंका उत्तरदायित्व केवल उसीपर है । आजकलका सुशिक्षित समाज प्राचीन टीकाओंसे कुछ इसलिये भी सन्तुष्ट नहीं है कि उनमे तुलनात्मक समालोचनासे कहीं भी काम नहीं

[1] बहुत से आदमियों का मिलकर मरना भी एक खु़शी या (जश्न) है

लिया गया, वर्तमान शिक्षित समाजकी सन्तुष्टि केवल शब्दार्थ-व्याख्या, अलंकार-निर्देश और शङ्कासमाधानसे नहीं होती, उनकी इस रुचिका विचार करके ही इस नवीन और दुर्गम मार्गमें चलनेका दुःसाहस किया गया है।

अँग्रेज़ी साहित्यमें सुनाहै तुलानात्मक समालोचना को बहुत महत्त्व दिया जाताहै, इस विषय पर उसमे बड़े बड़े गौरवपूर्ण आदर्श ग्रन्थ लिखे गये है, संस्कृत साहित्य मे भी इस रीतिका प्राचीन आचार्योंने अपने खास ढंगपर अच्छा परिष्कार किया है। उर्दू साहित्यमें मौलाना 'आज़ाद' अपने 'आबे-हयात' और 'सखुनदाने-फ़ारिस' में और 'हाली' दीवाने हालीके मुक़द्दमे, 'हयाते-सादी' और "यादगारे-ग़ालिब" मे इस रास्ते को दाग़बेल डाल गये है, और अब वहां यह रास्ता चल पड़ा है, पर हमारी हिन्दी में यह मार्ग अभी नहीं खुला, हिन्दीसाहित्यमें जहांतक मालूम है इस शैलोपर अभीतक कोई ग्रन्थ नहीं लिखा गया, हिन्दीमे भी यह रीति प्रचलित होनी चाहिए, इसको आवश्यकता है, यही समझ कर इस विषम मार्गमे चलनेकी चेष्टा की गयी है, इसमे कहांतक सफलता हुई है, इसका निर्णय नीरक्षीरविवेकी विद्वान् कर सकेंगे, नये अपरिष्कृत टेढ़े मार्ग पर चलनेमे नवाभ्यासी पथिकको पद पदपर भटकनेका भय रहता है, ठोकरें लगती है—

"हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति साधव."

श्रीकृष्णजन्माष्टमी,
सं० १९७५ वि०
ज्ञानमण्डल काशी।

विनीत—
पद्मसिंहशर्म्मा।

इस पुस्तकके लिखनेमें सतसईकी जिन टीकाओंसे तथा अन्य ग्रन्थोंसे सहायता ली गई है, लेखक हृदयसे उनका उपकार मानता और कृतज्ञता प्रकाशित करता है—

सतसईकी टीकाएं

१—लल्लूलाल कृत—लालचन्द्रिका
२—हरिकवि प्रणीत—हरिप्रकाश
३—अनवर चन्द्रिका (हस्तलिखित)
४—प्रतापचन्द्रिका (,,)
५—रसचन्द्रिका (,,)
६—अमरचन्द्रिका (,,)
७—गद्य संस्कृत टीका (,,)
८—कृष्णकविकृतटीका
९—पं० अम्बिकादत्तव्यास विरचित—बिहारीविहार
१०—पं० परमानन्द-प्रणीत-शृङ्गार सप्तशती (संस्कृत)
११—पं० प्रभुदयालु पाण्डेयकी टीका
१२—वि० वा० पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र रचित भावार्थ प्रकाशिका
१३—कवि सच्चिदानारायण कृत गुजराती अनुवाद

अन्य-ग्रन्थ

१४—प्राकृत-गाथा-सप्तशती (सातवाहन)
१५—आर्या सप्तशती (गोवर्धनाचार्य)
१६—अमरुकशतक (अमरुक)
१७—ध्वन्यालोक (आनन्दवर्धनाचार्य)
१८—काव्यमीमांसा (राजशेखर)
१९—काव्यप्रकाश (मम्मटाचार्य)

२०—साहित्यदर्पण	(विश्वनाथ)
२१—कुवलयानन्द	(अप्पयदीक्षित)
२२—एकावलि	(विद्याधर)
२३—सुभाषितावलि	(वल्लभदेव)

उर्दू

२४—आबे-हयात २५—सुख़नदाने-फ़ारिस	आज़ाद
२६—दीवाने-हाली २७—यादगारे ग़ालिब २८—हयाते-सादी	हाली

हिन्दी

२९—विक्रम-सतसई	(विक्रमसाह)
३०—शृङ्गार (राम) सतसई	(रामसहायदास)
३१—भाषा-भूषण	(राजा जसवन्तसिंह)
३२—जगद्विनोद	(पद्माकर)
३३—कवि-प्रिया ३४—रसिक-प्रिया	(केशवदास)
३५—शृङ्गारनिर्णय ३६—काव्यनिर्णय	(भिखारीदास)
३७—सुन्दरशृङ्गार	(सुन्दर कवि)
३८—सुधानिधि	(तोषनिधि)

इत्यादि इत्यादि

तुलनात्मक समालोचना

सतसईका उद्भव

'सतसई' और 'सतसैया' शब्द संस्कृत के 'सप्तशती' और 'सप्तशतिका' शब्दोंके रूपान्तर है, जो "सात सौ पद्योका संग्रह" इस अर्थ में कुछ योगरूढसे हो गये है।

बिहारीसे पूर्व दो सप्तशती प्रसिद्ध थीं, एक प्राकृतमें सातवाहन-संगृहीत "गाथासप्तशती" और दूसरी संस्कृतमे गोवर्धनाचार्य-प्रणीत "आर्यासप्तशती"। यद्यपि "श्रीमार्कण्डेय" पुराणान्तर्गत 'दुर्गासप्तशती' भी एक सुप्रसिद्ध सप्तशती है, पर नामसादृश्यके अतिरिक्त अन्य विषयमे समालोच्य सतसईसे उससे कुछ भी साम्य नही है इसलिये इस प्रसङ्गमे उसकी चर्चा चलाना अनावश्यक है। गाथासप्तशती और आर्यासप्तशती ये दोनो ही अपने अपने रूपमे निराली और अद्वितीय है। सदासे सहृदयोके हृदयका हार रही है। इनमे "गाथासप्तशती" ने विवेचक विद्वानोंसे अत्यधिक आदर पाया है। उसकी आधीसे अधिक गाथाएं साहित्यके आकर ग्रन्थोमे उद्धृत है। ध्वनिप्रस्थापन-परमाचार्य्य श्रीआनन्दवर्द्धनाचार्य्यने अपने "ध्वन्यालोक" मे, वाग्देवतावतार श्रीमम्मटाचार्य्यने "काव्यप्रकाश" मे, और श्रीभोजदेवने "सरस्वतीकण्ठाभरण" में, गाथासप्तशतीकी अनेक गाथाये ध्वनि और व्यञ्जनाके उत्कृष्ट उदाहरणोमे उद्धृत करके गाथाओकी सर्वश्रेष्ठता प्रमाणित करदी है। ये प्राकृत गाथाएं वास्तवमे प्राचीन साहित्य-समुद्रके अनर्घ रत्न है। इन प्राचीन प्राकृत रत्नो के मुक़ाबिलेमें जिन संस्कृतरत्नोंकी रचना समय समयपर हुई, पर इनकी

चमक दमकके सामने उनकी ज्योति नहीं जमी। "प्राकृत" भावोंको प्रकट करनेके लिये प्राकृत भाषा ही कुछ समुचित साधन है। "आर्यासप्तशती" के कर्त्ता गोवर्द्धनाचार्य्य ने इस बातको स्पष्ट ही स्वीकार किया है—

"वाणी प्राकृतसमुचितरसा बलेनैव संस्कृतं नीता।
निम्नानुरूपनीरा कलिन्दकन्येव गगनतलम्॥"
(आ० स० ५२)

अर्थात् वाणीका कुछ स्वभाव है कि वह प्राकृत काव्यमें ही सरसताको प्राप्त होती है और मैं उसे बलात्कारसे संस्कृत बना रहा हूं—उलटी गंगा बहा रहा हूं—इसलिए यदि वैसी (प्राकृतके समान) स्वाभाविक सरसता इसमें न आसके तो क्षन्तव्य है। बलात्कारमें रस कहां ?

इस प्रकार खुले शब्दोंमे प्राकृतकी प्रशंसा करनेवाले गोवर्द्धनाचार्य कोई साधारण कवि न थे, जगत्प्रसिद्ध गीतिकाव्य "गीतगोविन्द" के निर्माता जयदेवने उनके विषयमें कहा है—

"शृङ्गारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्द्धन-
स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः०"

अर्थात् शृङ्गाररसप्रधान उत्कृष्ट कविता करनेमें आचार्य्य गोवर्द्धनका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं सुना गया—उनके समान शृङ्गाररसकी रचनामे निपुण कवि और कोई नहीं है। गोवर्द्धनाचार्य्यने स्वयं भी अपनी रचनाकी जी खोलकर प्रशंसा की है, जो रचनासौन्दर्यको देखे कुछ अनुचित नही है—

"मसृणपदरीतिगतयः, सज्जनहृदयाभिसारिकाः सुरसाः।
मदनाद्वयोपनिषदो, विशदा गोवर्द्धनस्यार्याः॥" (आ० स० ५१)

"गाथासप्तशती" के अनुकरणमें गोवर्द्धनाचार्य्यसे पहले (और उनके पश्चात् भी) कुछ संस्कृत कवियोंने आर्याछन्दमे इस

ढगकी काव्यरचना का थी, जिसकी ओर गोवर्द्धनाचार्यने कई जगह इशारा किया है। पर "आर्यासप्तशती" के सामने उनमे से एक न ठहर सकी।

गोवर्धनाचार्यके समान शृङ्गारी कवियोमे एक "अमरुक" कवि और हैं, जिनका "शतक" हज़ारोंमे एक है, जिसकी अपूर्वतापर मुग्ध होकर साहित्यपरीक्षकोने "अमरुककवेरेकः श्लोकः प्रबन्धशतायते" कह दिया है, अर्थात् अमरुक कविका एक एक श्लोक एक एक ग्रन्थके समान गम्भीर भावोंसे भरा है।

जिस शैलीपर प्राकृत "गाथासप्तशती" "अमरुकशतक" और "आर्यासप्तशती" की रचना हुई है, उसे साहित्यकी परिभाषा मे "मुक्तक" कहते है। "ध्वन्यालोक" के तृतीय उद्योतमें काव्यके भेद गिनाते हुए श्रीआनन्दवर्द्धनाचार्य्यने "मुक्तकं संस्कृत-प्राकृतापभ्रंशनिबद्धम् ।" कह कर मुक्तकके भाषा-भेदसे तीन भेद किये है—अर्थात् संस्कृतनिबद्ध, प्राकृत-निबद्ध, और अपभ्रंशनिबद्ध।

"मुक्तक" पदको व्याख्या श्रीअभिनवगुप्तपादाचार्य्यने इस प्रकार की है—

"मुक्तमन्येन नालिङ्गितं, तस्य संज्ञायां कन् ।"
"पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा
क्रियते तदेव मुक्तकम् ॥"

अर्थात् अगले पिछले पद्योसे जिसका सम्बन्ध न हो, अपने विषयका प्रकट करनेमे अकेला ही समर्थ हो, ऐसे पद्यको "मुक्तक" कहते हैं। जिस अकेलेही पद्यमे विभाव, अनुभाव आदिसे परिपुष्ट इतना रस भरा हो कि उसके स्वादसे पाठक मुग्ध हो जाय, सहृदयताकी तृप्तिके लिए उसे अगली पिछली अपेक्षा सहारा न ढूँढना पड़े, ऐसे अनूठे पद्यका नाम

"मुक्तक" है। इसीका नाम "उद्भट" भी है, हिन्दी मे इसे फुटकर कविता कहते हैं। इसी प्रकारके पद्य जिसमे सगृहीत हो उसे "कोष" कहते हैं। "मुक्तक" की रचना कविताशक्ति की पराकाष्ठा है, महाकाव्य, खण्डकाव्य या आख्यायिक आदिमे यदि कथानकका क्रम अच्छी तरह बैठ गया तो बात निभ जाती है, कथानककी मनोहरता पाठकका ध्यान कविता के गुणदोषपर प्रायः नही पड़ने देती। कथा-काव्यमे हजार मे दस बीस पद्य भी मार्केके निकल आये तो बहुत हैं। कथानककी सुन्दर संघटना, वर्णनशैलीकी मनोहरता और सरलता आदिके कारण "कुल मिलाकर" काव्यके अच्छेपनका प्रमाणपत्र मिल जाता है। परन्तु "मुक्तक" की रचनामें कविको "गागरमे सागर" भरना पड़ता है। एक ही पद्यमे अनेक भावोका समावेश और रसका सन्निवेश करके लोकोत्तर चमत्कार प्रकट करना पड़ता है। ऐसा करना साधारण कविका काम नही है। इसके लिए कविका सिद्धसरस्वतीक और वश्यवाक् होना आवश्यक है। मुक्तककी रचनामे रसकी अक्षुण्णतापर कविको पूरा ध्यान रखना पड़ता है। और यही कविताका प्राण है। जैसा कि मुक्तकके सम्बन्धमे आनन्दवर्धनाचार्य्य लिखते हैं—

> "मुक्तकेषु हि प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः
> कवयो दृश्यन्ते। यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः
> शृङ्गाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव।"

अर्थात् एक ग्रन्थमे जिस रसस्थापनका पूरा प्रबन्ध कविको करना पड़ता है वही बात कविको एक मुक्तक मे लाकर रखनी पड़ती है। जिस प्रकार अमरुक कविके "मुक्तक" शृङ्गार रसका प्रवाह बहानेके कारण प्रबन्धकी (ग्रन्थकी)

समता प्राप्त करनेमें प्रसिद्ध है। "मुक्तक" में अलौकिकता लानेके लिए कविको अभिधासे बहुत कम और ध्वनि व्यञ्जनासे अधिक काम लेना पड़ता है। यही उसके चमत्कारका मुख्य हेतु है। इस प्रकारके रसध्वनिपूर्ण काव्यके निर्माता ही वास्तवमें 'महाकवि' पदके समुचित अधिकारी हैं। फिर उनकी रचना परिमाणमें कितनी ही परिमित क्यों न हो।

"प्रतीयमानं पुनरन्यदेव
वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं
विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥"

(ध्वन्यालोक–१।४)

अर्थात् महाकवियोंकी वाणीमें अभिधीयमान—वाच्य अर्थसे अतिरिक्त, "प्रतीयमान"—अर्थ एक ऐसी चमत्कारक वस्तु है जो कुछ इस प्रकार चमकती है जिस प्रकार अङ्गनाके अङ्गमें रक्त पादादि प्रसिद्ध अवयवोंके अतिरिक्त लावण्य। इस कारिकाके "महाकवीनाम्" पद की व्याख्या करते हुए श्रीअभिनवगुप्तपादाचार्य लिखते हैं—

"प्रतीयमानानुप्राणित-काव्यनिर्माणनिपुणप्रतिभा-
भाजनत्वेनैव महाकविव्यपदेशो भवतीतिभाव.।"

अर्थात् प्रतीयमान अर्थसे युक्त काव्य-निर्माणकी जिनमें शक्ति है वही 'महाकवि' कहलानेके अधिकारी हैं।

इस निर्णयके अनुसार 'महाकवि' कहलानेके लिये यह आवश्यक नहीं है कि साहित्यदर्पणादिमें वर्णित लक्षणोंसे युक्त 'महाकाव्य' का कोई बड़ा पोथा बनावे तभी 'महाकवि' कहलावे। राजशेखरने तो इस प्रकारके रसस्वतन्त्र कविको महाकवि से बड़ा 'कविराज' की पदवी दी है। यथा—

"यस्तु तत्र तत्र भाषाविशेषे तेषु प्रबन्धेषु तस्मिंस्तस्मिश्च
रसे स्वतन्त्रः स कविराजः । ते यदि जगत्यपि कतिपये ।"

हमारे विहारी, जगत्‌के उन्हीं कतिपय कविराजोंमे हैं।

विहारीके सम्बन्धमे लेख लिखते हुए अबतक जो कुछ यह ऊपर लिखा गया सो सरसरी तौरसे अप्रासङ्गिक सा प्रतीत होगा, पर ऐसा नहीं है; इसकी यहां आवश्यकता थी। हमें अभी आगे चलकर "गाथासप्तशती" "आर्यासप्तशती" और "अमरुकशतक" से ख़ासतौरपर विहारी-सतसईकी तुलना करनी है, यदि इस तुलनामे विहारी पूरे उतर जायं अर्थात् विहारीकी कविता इनकी बराबरीकी या कहीं इनसे बढ़ी चढ़ी सिद्ध होजाय, इनके मुक़ाबिलेमे उसका पलड़ा कहीं झुक जाय तो जो बात सिद्ध होगी उसे क्या अभिधावृत्तिसे कहनेकी आवश्यता होगी! मैं डरता हूं कि "देववाणी वाले" देवतालोग मुझे भाषा" का अनुचित पक्षपाती, छोटा मुंह; बड़ी बात कहनेवाला, "विभीषण" आदि पवित्र पदवियोंका पात्र बना कर शाप और अभिशापकी वर्षा न करने लगे । पेशगी दुहाई है 'सहृदयताकी' !! मेरा ऐसा अभिप्राय स्वप्नमे भी नहीं है, मैं अपने परमाराध्य प्रातःस्मरणीय संस्कृतकवियोकी निन्दा करने नहीं चला हूं, उनमें मेरी अविचल भक्ति है, अशिथिल श्रद्धा है । मेरे स्वाध्यायसमयका अधिक भाग संस्कृत-साहित्यके अनुशीलनानुरागमे ही व्यतीत हुआ है । अधिक समय नहीं बीता है तबतक हिन्दी कविताके विषयमे मेरी धारणा भी कुछ ऐसी ही थी। हिन्दी भाषाकी कवितामे भी ऐसा मनोमोहक चमत्कार हो सकता है, इसका विश्वास नहीं था।

चिरसञ्चित अज्ञानान्धकारको विहारीके कविता-प्रकाशने

अचानक आकर विच्छिन्न कर दिया। मैंने विहारीके काव्यको बड़े ध्यान और अवधानसे पढ़ा, पढ़ा क्या उसने बलात् ऐसा करनेके लिये विवश करदिया। अनेक बार पढ़ा, तुलनात्मक दृष्टिसे देखा, उसकी तुलना संस्कृत, प्राकृत और उर्दू, फ़ारसीकी कवितासे की। अनुशीलनके इस संघर्षमें विहारीका रंग और भी पक्का होता गया। वह हृदय-मन्दिरमें संस्कृतकवियोंके बराबर आसन जमाकर बैठगया। अपने इन परिवर्तित विचारोंकी सूचना मैंने अपने कई संस्कृतज्ञ विद्वान् मित्रोंको दी, विहारीकी कविता सुनाकर जानना चाहा कि ऐसा समझना कहीं मेरा मतिभ्रम तो नहीं है? विहारीने कहीं मदाख़लत-बेजासे तो यह मेरे दिलपर क़ब्ज़ा नहीं कर लिया है? मुझे सुनकर सन्तोष हुआ कि नहीं ऐसा नहीं है, मैंने ग़लती नहीं की है, ऐसा होना स्वाभाविक है, नितान्त न्याय है। विहारीने दिलमें जो जगह की है वह उसका कुदरती हक़ है। इसमें जो बराबर भी ज़ियादती नहीं हुई है।

ऐसी दशामे महाशय! यदि मैं विहारीके विषयमें कुछ कहने लगा हूँ तो सच समझिए केवल इसी विचार से कि ऐसे अवसरपर चुप रहना सहृदयताके हृदयमे चुभनेवाला असह्य शल्य है, अक्षम्य अपराध है। कवि-तार्किक-शिरोमणि श्रीहर्षकी आज्ञा है—

"वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं
गुणाधिके वस्तुनि मौनिता चेत्।"

पहले समयमें संस्कृतज्ञ विद्वानोंने सतसईपर संस्कृतके गद्य और पद्यमें तिलक और अनुवाद करके अपनी गुणग्राहिता प्रकट की है सही, पर इससे संस्कृतज्ञोंमें सतसईका यथेष्ट

प्रचार नहीं हुआ, ऐसे अनुवादों द्वारा कविताका मूलतत्त्व अवगत करना असम्भव है। वास्तवमें कविता अनुवाद करनेकी चीज़ है ही नहीं। अनुवादमे आधेसे अधिक सौष्ठव कविताका नष्ट होजाता है। रस निकल जाता है, छिलका रह जाता है। एक भाषाकी कविता दूसरी भाषामें आकर कविता नहीं रहती। यह शराब अपने मटकेसे निकली और सिरका हुई, यह राग एक गलेसे दूसरे गलेमे उतरते ही वेसुरा होजाता है। यह प्रतिविम्ब एक दर्पणसे दूसरेमे आया और परछाईं वनकर रह गया। गोवर्द्धनाचार्य्य जैसे महाकवि जव इसमे अपनी अक्षमता स्पष्ट शब्दोंमे स्वीकार करते हैं तव आधुनिक अनुवादकों पर क्या आस्था की जासकती है। संस्कृत भाषाके माधुर्य्यमे किसीको कलाम नही है, पर व्रजभाषाका माधुर्य्य भी एक निराली चीज़ है, वह 'सितोपला' है तो यह 'द्राक्षा' है। विहारी शृङ्गारी कवि, भाषा, व्रजभाषा, शृङ्गाररसकी कविता, (शृङ्गारी चेत् कविः काव्ये जातं रसमय जगत्) अहो रम्यपरम्परा! इसका आस्वादन कर चुकनेपर भी यदि चित्तवृत्ति कुसंस्कारवश कहीं अन्यत्र रसास्वादके लिए जाना चाहती है तो सहृदयता, विहारीके शब्दोमे मचलकर कहती है—

"*जीभ निवौरी क्यों लगै, वौरी! चाखि अँगूर।" इसलिए—

"जो कोऊ रसरीतिको, समझो चाहै सार।
पढ़ै विहारी-सतसई, कविताको सिंगार॥"

---

*"तो रस राच्यो आन वस, कह्यो कुटिलमति कूर।
जीभ निवौरी क्यों लगै, वौरी चाखि अँगूर॥"

कविने यह अपनी कविता-कामिनीकी ओर ही बड़े मार्मिक ढगसे इशारा किया प्रतीत होता है!

सतसईके आदर्श ग्रन्थ

विहारीकी सतसईके आदर्श—"प्राकृत गाथासप्तशती" "आर्यासप्तशती" और "अमरुकशतक" मुख्यतया ये तीन ग्रन्थ हैं। तुलनात्मक दृष्टिसे पढ़नेपर इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं रहता कि उक्त तीनों ग्रन्थ, सतसईकी रचना करते समय विहारीके लक्ष्यमें थे, इसमें एकसे अधिक प्रमाण हैं। सतसईके अनेक दोहे उक्त ग्रन्थोंकी सूक्तियोंके आधारपर बने हैं, जैसा कि इस लेखमें उद्धृत अवतरणोंसे सिद्ध होगा। पर विहारी इस मैदानमें अपने इन आदर्श महारथियोंसे किसी मौक़े पर एक इञ्च भी पीछे नहीं रहे हैं, यही नहीं अनेक स्थलों पर इनसे बहुत आगे बढ़ गये हैं। कहीं कहीं तो इन्हें मंज़िलों पीछे छोड़ गये हैं, कहीं उनसे मज़मून छीन लिया है तो कहीं संस्कार करदिया है, कहीं काया पलट दी है तो कहीं जान डालदी है। इस प्रकारके स्थलोंमें ऐसा कोई अवसर नहीं जहाँ इन्होंने बातमें बात पैदा न करदी हो, अपनी प्रतिभाके प्रकाशसे आदर्श पद्योंके भावोंको अतिशय चमत्कृत करके न दिखादिया हो। मज़मून चुराया नहीं, छीन लिया है। उन अमरुक आदि महाकवियोंके मुक़ाबिलेमें—जिनका यशोगान ऊपर हो चुका है, उन मज़मूनोंपर क़लम उठाना जिनपर वे क़लम तोड़ चुके थे, और फिर वह कुछ कर दिखाना जो वह भी न कर सके थे, हँसी खेल नहीं है, बड़ी टेढ़ी खीर है। निहायत खट्टे अंगूर हैं। कोई माने न माने मैंतो विहारीकी इसी बातका क़ायल हूं। किसी मर्द मुक़ाबिलेमें ही तो बहादुरीके असली जौहर खुलते हैं!

प्रतिद्वन्द्विताकी परीक्षामें वड़े वड़े शूर वीरोंका पित्ता पानी हो जाता है, उसमें जो वाज़ी लेजाय वही तो वहादुर है।

जिस वातसे यहां मैं विहारीकी महिमा सिद्ध करना चाहता हूं, सम्भव है इसीसे कोई महाशय उनकी लघिमा सिद्ध करने लगें। वे कहेंगे कि अनुवाद करना कोई वहादुरी नहीं है! यह तो नितान्त निन्दनीय वात है। साहित्यपारावारके कर्णधार तो इस करतूतके नामसे घिन करते हैं, वे कहते हैं—

"कृतप्रवृत्तिरन्यार्थे कविर्वान्तं समश्नुते।"

यह सिद्धान्त शायद सिद्धान्तरूपमें ठीक कहा जा सकता हो, पर कार्यक्षेत्रमें तो यह चलता नहीं दीखता, औरोंकी कौन कहे संस्कृतकविकुल-गुरुओं तकके काव्योंमें पूर्ववर्त्ती कवियोंकी छाया नहीं, अनुवादतक एक आध स्थान पर नहीं, अनेक स्थानो पर मिलता है। 'अतिप्रसंग' होजायगा इसलिये यहां इसके उदाहरण नहीं दूंगा, इशारे परही वस करता हूं। इसलिये तो "छायामपहरति कविः" की रिआयत रखदी है।

—❀—
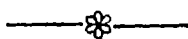
अर्थापहरणका विचार

—※—
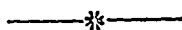
श्रीआनन्दवर्धनाचार्यने "ध्वन्यालोक" के चतुर्थ उद्योतमे और राजशेखरने "काव्यमीमांसा" के १२ वें, १३ वें अध्यायो में इसकी वड़ी ही विशद व्याख्या और मार्मिक मीमांसा की है।

प्राचीन कवियोने कोई वात नये कवियोके लिए ऐसी नही छोड़ी है, जिसे वे वर्णन न करगये हों। वास्तवमें कोई नयी वात संसारमें होती ही नही, वही गिनी चुनी जानी

पहचानी बातें हैं, जिन्हें अपनी अपनी प्रतिभासे नया नया रूप देकर कवि वर्णन करते हैं। पुरानी बातोंमें उक्तिवैचित्र्य से नवीनता लाना ही कविकी कारीगरी है। आनन्दवर्द्धनाचार्य कहते हैं:—

"दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः, काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः ॥"

वही पुराने पेड़ हैं, पर वसन्त अपने रससञ्चारसे उन्हें नवीन रूप प्रदान करके नया बना देता है। किसीमें नयी कोपलें निकाल कर, किसीमें फूल खिलाकर, किसीमें फल लगाकर, किसीमें दृष्टिहारी रूप रंग और किसीमें मनोहारी सुगन्ध भर कर विकासक वसन्त पुराने वृक्षोंको नया करके दिखा देता है।

कवि भी प्रकृति वाटिकाका विकासक वसन्त है। वह प्रकृति के उन्हीं नीरस रूखे सूखे ठूंठ रूखोंमें अपनी प्रतिभाशक्तिसे अलौकिक रसका सञ्चार करके कुछसे कुछ कर दिखाता है। कवि-वसन्त किसी पुराने कवितादुममें रस-ध्वनिके मधुरफल, किसी में अलङ्कार-ध्वनि के मनोहर पुष्प और किसी में वस्तु-ध्वनिके सुन्दर रूपरंगका सन्निवेश करके सूखेसे हरा और निर्जीवसे सजीव बना देता है। किसीको शब्दशक्तिके और किसी को अर्थशक्तिके सहारे ऊपर उठा देता है। किसी को अर्थालङ्कारके चमत्कारसे और किसी को शब्दालङ्कारके वैचित्र्य-से आंखोंमें खुबने और चित्तमें चुभनेवाला कर दिखाता है।

"संवादास्तु भवन्त्येव, बाहुल्येन सुमेधसाम्।"

अर्थात् "सौ स्याने एक मत" के अनुसार अन्यसादृश्यसे सर्वथा बचे रहना कविके लिये अशक्य है। एक अनूठी बात जो एक कविको सूझती है वह उसी प्रकार दूसरे कविको भी सूझ सकती है। इसलिये कभी कभी दो

कवियों के भाव आपस मे टकरा जाते हैं। कभी ऐसा होता है कि किसी पूर्व कविका कोई वर्णन पिछले कविको पसन्द आगया पर कुछ कसर कोर भी उसे उसमें मालूम पड़ी इसलिये उसीमें संस्कार करके —'इसलाह' देकर— उसे नये ढंग से वर्णन कर दिया। कभी ऐसा होता है कि किन्हीं प्राचीन सूक्तियो का मनन करते करते उनका भाव कविके हृदय मे इस प्रकार बस जाता है कि परकीयत्वकी प्रतीति तक जाती रहती है, कवि जब कविता करने बैठता है तो बेमालूम तौरपर वही वासनान्तर्विलीन भाव लेखनी से अनायास टपक पड़ते है। इस प्रकार "सादृश्य" के अनेक कारण हो सकते है। आनन्दवर्द्धनाचार्य्य ने सादृश्य के ये तीन भेद— १-प्रतिबिम्बवत्, २-आलेख्यवत् और ३-तुल्यदेहिवत् बतलाये हैं। इनमे से पहले दोको परिहरणीय और अन्तिम को उपादेय ठहराया है। राजशेखर ने इन्ही का १-प्रतिबिम्बकल्प, २—आलेख्यप्रख्य, ३—तुल्यदेहितुल्य नामसे उल्लेख करके एक चौथा भेद "परपुरप्रवेशप्रतिम" नामक और बढ़ा दिया है, और सादृश्यनिबन्धन के इन चार भेदो द्वारा बत्तीस प्रकारके "अर्थाहरणोपाय" बतलाये हैं (इत्यर्थहरणोपाया द्वात्रिंशदुपदर्शिताः) इनके उदाहरण दिये हैं। 'हरणोपायों' का तारतम्य दिखलाते हुए किसीको उपादेय और किसी को हेय बतला कर अन्तमे उदारतासे फैसला दिया है—

"नास्त्यचौरः कविजनो, नास्त्यचौरो वणिग्जनः।
स नन्दति विना वाच्यं, यो जानाति निगूहितुम्॥"

"शब्दार्थोक्तिषु यः पश्येदिह किञ्चन नूतनम्।
उल्लिखेत्किञ्चन प्राच्यं मन्यतां स महाकविः॥"

अर्थात् कवि और वणिक-व्यापारीजन परार्थापहरण-पराङ्मुख प्रायः नहीं होते। इनमें जो दूसरेकी चीज़ को इस ढग से छिपाने की योग्यता रखता है कि चोरी ज़ाहिर न होने दे और लोकनिन्दा से बचा रहे, वही बड़ा साहूकार और वही महाकवि है। शब्दार्थ मे कुछ निराली नूतनता पैदा करके जो प्राचीन भावको चमत्कृत बना देता है वही म हाकवि है। यही सिद्धान्त आनन्दवर्द्धनाचार्य्यने भी स्थिर किया है—

"यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किञ्चित्
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते।
अनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक्
सुकविरुपनिबध्नन् निन्द्यतां नोपयाति॥"
(ध्वन्यालोक ४।१६)

अर्थात् जिस कविता मे सहृदय भावक को यह सूझ पड़े कि हॉ इस मे कुछ नूतन चमत्कार है, फिर उसमे पूर्वकविकी छाया भी क्यो न झलकती हो तो भी कोई हानि नहीं। ऐसी कविताका निर्माता 'सुकवि' अपनी बन्ध-च्छाया से पुराने भावको नूतन रूप देनेके कारण निन्दनीय नहीं समझा जा सकता।

"कवितासादृश्य" के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त (आर्डर) है उन आचार्यका जिनके अन्तिम फ़ैसले की अपील साहित्य-समाज मे नहीं है। इतनेपर भी यदि दुराग्रहवश कोई नये पुराने विचार के सज्जन "कृतप्रवृत्तिरन्यार्थे कविर्वान्तं सम-श्नुते" का राग अलापे जायँ और हमारे कवि-कविता पर मक्खी बनकर भिनभिनाने का चाहें तो इसका इलाज हम सहृदयों पर छोड़ते हैं। बिहारी ही क्यों हिन्दी का कोई कविभी अछूता

कविता-आकाश के "सूर्य्य" और "चन्द्रमा" को. गहन लग जायगा। "तारे" भी खद्योतकी तरह निष्प्रभ हो टिमटिमाते दीख पडेंगे—

"अंधेर छा जायगा जहाँ में अगर यही रोशनी रहेगी।"

जिस कवित्तपर रीझ कर राजा रघुनाथ राव ने पद्माकर को लाखों रुपया दे डाला था, वह कवित्त क्या था ? इस पुराने संस्कृत पद्यका—जो भोजकी प्रशंसा में किसी कविने कहा था—अनुवाद है—

"निजानपि गजान् भोजं, ददानं प्रेक्ष्य पार्वती।
गजेन्द्रवदनं पुत्रं, रक्षत्यद्य पुनः पुनः॥"

परन्तु पद्माकरने—

"याही डर गिरिजा गजाननको गोय रही।
गिरिते गरेते निज गोदते उतारे ना॥"

कवित्त के इस पिछले पदसे पहले संस्कृतपद्यको दबा दिया है। "रक्षत्यद्य पुनः पुनः" को पुनः पुनः पढ़ने पर भी चित्त में वह चमत्कार नहीं आता जो "गिरिते गरेते निज गोदते उतारे ना" को एक बार पढ़नेसे आजाता है। सादृश्य क्या स्पष्ट अनुवाद होने पर भी इसमें वह नवीनतायुक्त चमत्कार है जिसकी ओर आनन्दवर्द्धनाचार्य्यने ऊपर इशारा किया है। ऐसे "सादृश्य" को कौन बुरा कहेगा ? फिर विहारी के यहाँ जो सादृश्य है यह तो नितान्त सादृश्यरहित है।

सतसईके दोहे

"सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर।
देखतमे छोटे लगें, घाव करें गम्भीर॥"

जिन भावो को अभिव्यक्त करने के लिए प्राकृत कवियोंने गाथाछन्द, गोवर्द्धनाचार्य्य ने आर्याछन्द और अमरुकने शार्दूलविक्रीडित जैसे वड़े वड़े छन्द पसन्द किये, उसी कामके लिये विहारीलाल ने दोहा जैसा छोटा छन्द चुना। विहारी की मुश्किलपसन्द तबीयत का इससे भी कुछ पता चलता है। लम्बे चौड़े छन्द में कविको छलांगे भरने की स्वच्छन्दता रहती है। रस, अलङ्कार, ध्वनि और रीति आदि को यथास्थान वैठानेका यथेष्ट स्थान रहता है। पर दोहे की छोटीसी डिबिया मे इन सव को इकट्ठा करके भरना और उस दशामें भी इन सवका स्वरूप अक्षुण्ण रखना, सचमुच वड़े भारी'करतवी' जादूगरका काम है।

दोहे की प्रशंसा मे रहीमकी यह उक्ति विहारी के दोहों पर ही ठीक घटती है—

"दीरघ दोहा अर्थके, आखर थोरे आहिं।
ज्यों रहीम नट कुण्डली, समिटि कूदि कढ़ि जाहिं॥"

छोटीसी संकुचित कुण्डली के घेरे मे जिस तरह [illegible] ताज़ा करतवी नट हाथ पाँव समेट, शरीरको तोलकर [illegible] जाता है, इसी तरह ज़रासे दोहे की कुण्डलीमें [illegible] सब अवयवों समेत इतने गौरवशाली अर्थका भारी [illegible] बिना उलझे निकल जाना, जितना कौतूहलोत्पादक है, [illegible] कठिन भी है। वड़े परिश्रम से चर्चित [illegible]

यह कुण्डलीकी कला सिद्ध होती है। दोहेमें कमाल पैदा करने की कला उससे भी कहीं कठिन हैं। कुल ४८ मात्राके छोटे से छन्द मे इस खूबी से इतना 'मैटर' भर निकालना, सच-मुच जादू है जादू!

विहारी के दोहों पर समय समय पर बड़े बड़े बाकमाल लोगोंने "कुण्डलियाँ" और "कवित्त" गढ़नेका प्रयत्न किया है। पर किसीकी भी कला ठीक नहीं बैठी। ज़रासे दोहेमें जो अर्थ सिमटा बैठा था, वह वहाँ से निकलते ही इतना फैला कि कुण्डलियों और कवित्तों के बड़े मैदान में नहीं समा सका। मानो गङ्गाका समृद्धवेग प्रवाह है जो शिवजी की लटोंसे निकल कर फिर किसी के काबू मे नहीं आता। इन्जीनियर लाख कारस्तानी कर हारें पर भागीरथी के प्रवाहको किसी बड़ेसे बड़े गढ़े में भरकर रोक रखना, सामर्थ्य से बाहरकी बात है हो नहीं सकती, ऐसा हो नही सकता।

विवेचना-विनोद
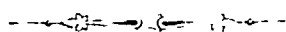
दोहोंमें कविता और कवियों ने भी की है। विहारी से पहले भी और उसके पश्चात् भी दोहा, कवियो के "कविता-खेल चौगान" का मैदान रहा है। पर विहारी की छायाको भी कोई खिलाड़ी नहीं पहुँच सका। विहारीसे पहले हिन्दी में 'तुलसीसतसई' और 'रहिमनसतसई' बन चुकी थी और पीछे तो सतसइयों का ताँताही बँध गया। बड़े बड़े कवि खम ठोककर इस मैदान मे उतरे, पर सब ख़ाली डंड पेलकर और कोरी छाती कूटकर ही रहगये। इनमें से परवर्ती

कवियोंकी सतसइयोमेंसे किसी किसीकी प्रशंसामें कई 'उत्तमवादी' महानुभावोंने कह डाला है—"यह विहारीकी सतसईके समान है—" किसीने तो यहाँ तक कहनेका साहस किया है कि "…. और . 'दोहे तो ऐसे बढ़िया रचे हैं कि यदि वे विहारीके दोहोमें मिला दिये जायँ तो विहारीके दोहे याद न रखने वाला उन्हें शायद पृथक् न करसके।"

'विवेचक' कहलानेवालोके मुँहसे ऐसी विवेचनाहीन बात सुनकर "विवेचना" बेचारी पनाह माँगती है ! विहारीके दोहोमे दोहे मिला दिये जायँ और वह न पहचान लिये जायँ ! और पहचाने भी जायँ तो शर्त यह हो कि पहचाननेवालेको विहारीके दोहे कंठस्थ हो ? अँगूरकी पिटारीमें शकरपारे मिला दिये जायँ और वह न पहचाने जायँ और पहचाने भी जायँ तो उस दशा में कि अँगूरों के ऊपर अँगूरके नामकी चिट लगी हो ! अँगूरोंकी संख्या कण्ठस्थ याद हो ! पर इस बातकी तो "शायद" ज़रूरत नहीं होती, चक्षुष्मान् तो दूरसे देखकर ही बता सकता है कि ये अँगूर हैं, ये शकरपारे हैं। प्रज्ञाचक्षु भी छूकर नही तो चखकर पहचान सकता है।

कविताकी विवेचना में ऐसा विनोद करना विवेचना बेचारी को बदनाम करना है। जिस विवेचकको भाषाविज्ञानका कुछ भी ज्ञान है, जिसने भिन्न भिन्न कवियोकी कविता तुलनात्मक दृष्टिसे देखी है, जो कविताकी नब्ज़ पहचानता है, उसके छिपे इशारोंको समझता है, जो रीतिके मा आंख खोलकर थोड़ी दूर भी चला है, जिसने ध्वनिकी उ

दिलके कानोंसे सुनी है और रसका स्वाद सहृदयता की रसनासे चखा है, इस प्रकार जो "भावक" कविताका "कैमिस्ट" (रसायनशास्त्री) है, उसे विहारीके दोहे कण्ठस्थ हों या न हों—हां, उसने उन्हें 'भावुकता' की दृष्टिसे देखा भर हो,—वह सैकड़ोमें नही लाखोंमें पुकार उठेगा कि यह विहारी हैं, ये कोई और लोग हैं ।

विहारीके अनुकरणमें जो सतसई वनी हैं, उनमें चन्दन-सतसई, तो हमारे देखनेमें आयी नही, पर उसके नमूनेके जो दो एक दोहे देखनेमें आये हैं, उनसे ही स्थालीपुलाक न्यायसे उसके रंग ढगका कुछ अनुमान किया जा सकता हैं। वाक़ी "राम सतसई" (शृङ्गारसतसई) और "विक्रमसतसई" हमने देखी हैं और हम दिखावेंगे कि विहारी सतसईके मुक़ाविलेमे ये कैसी कुछ हैं ।

इन सतसइयोंके अतिरिक्त रसनिधि-कृत एक "रतन-हज़ारा" और है जो विहारीके मुक़ाविलेमें ३ सौ की सख्यामें अधिक है, और मोल मे तो नहीं पर तोलमें वेशक भारी है। उसकी वानगी भी देखिएगा ।

"हमने सवका कलाम देखा है
है अदव शर्त मुंह न खुलवायें।
इनको उस नुक्तादांसे क्या निसवत
ख़ाकको आसमांसे क्या निसवत" ॥
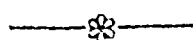
सतसईका सौष्ठव

१—गाथासप्तशती और विहारीसतसई

सतसईका सौष्ठव दिखानेके लिये हम पहले 'गाथा-सप्तशती' और "आर्यासप्तशती" के पद्योंसे विहारी के दोहोंका मुकाबिला करते है। इससे यह सिद्ध होने के अतिरिक्त कि विहारीने अपनी सतसईकी रचना इन्ही ग्रन्थोंको देखकर की है, यह भी सिद्ध होगा कि सादृश्य-रचना मे भी इन्हों ने क्या कुछ विलक्षण करामात दिखायी है।

इस प्रकार के अनेक पद्य 'सतसई-सहार' और 'विहारीका विरहवर्णन' नामक प्रकरणोंमे भी प्रसगवश उद्धृत हुए है। और भी वहुत हैं जो सतसई के भाष्यमें यथास्थान रक्खे गये हैं, यहां हम कतिपय अत्यन्तसादृश्यशाली पद्योका ही उल्लेख करेगे ।

तुलनाके लिए सबसे पूर्व उसी दोहेके आदर्श पद्योको लेते हैं, जो सतसईकी रचनाका मूल कारण वतलाया जाता है—

दोहा—"नहि पराग नहि मधुर मधु, नहि विकास इहि काल।
अली कलीहीतें बंध्यो, आगे कौन हवाल ॥६३०॥

गाथा—"जाव ण कोसविकास पावइ ईसीस मालईकलिआ ।
मअरन्द-पाण-लोहिल्लि भमर तावच्चिअ मलेसि ॥४४॥"
(यावन्न कोषविकासं प्राप्नोतीषन्मालतीकलिका।
मकरन्दपानलोभयुक्त भ्रमर तावदेव मर्दयसि ॥)

आर्या—"पिब मधुप ! बकुलकलिकां, दूरे रसनाग्रमात्रमाधाय ।
अधरविलेपसमाप्ये मधुनि मुधा वदनमर्पयसि॥३६७॥"

पद्य—"अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग !
लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु।
मुग्धामजातरजसं कलिका-मकाले
व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः ॥"
(विकटनितम्बा)

प्राकृत-गाथाकार, अविकसित अवस्थामे ही मालती-कलिका को मर्दन करने वाले भौंरेके 'नदीदेपन' अधीरता या असमयज्ञतापर चुटकी लेकर उसे लज्जित करना चाहता है।

आर्याकार (गोवर्धनाचार्य) मालतीकलिका-मर्दनकारी भ्रमरको छोड़कर बकुल-कलिकाको कदर्थित करनेवाले भौंरेके पास पहुंचकर दूर खड़े उपदेश दे रहे हैं कि यों नही यो रस-पान करो, नही तो कुछ पल्ले न पड़ेगा।

श्रीमती विकटनितम्बादेवीका भ्रमरोपालम्भ इन दोनोंसे निराला है, साफ़ और विस्तृत है। वह भ्रमरको दूसरी जगह खिले चमनमे पेट भर कर जी बहलानेका उपदेश दे रहीं और नवमल्लिकाकी 'बाला' कलिकापर दयाभाव दिखला रही हैं। गाथाकारके परिहासोपदेशमे तटस्थताका भाव झलक रहा है। गोवर्धनाचार्यकी शिक्षामें गुरुगम्भीरता है। विकट-नितम्बाके उपालम्भमे दौत्यभावकी ध्वनि है।

इन सबकी अपेक्षा अपने भौंरेके लिये बिहारीकी हित-चिन्ता बहुत ही गम्भीर, मधुर और हृदयस्पर्शी है, न इसमे तटस्थताकी झलक है, न रसपानका प्रकारोपदेश है। न पक

अनखिली कली को छोड़कर खिली क्यारियों मे खुल खेलने की छुट्टी है। वाह !

"नहि पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिँ काल।
अली कलीहीतें बँध्यौ, आगे कौन हवाल ॥"

विषयासक्त मित्रके भावी अनर्थकी चिन्तासे व्याकुल सुहृज्जनको चिन्तोक्तिका क्या ही सुन्दर चित्र है। कहने वालेकी एकान्त हितैषिता, परिणामदर्शिता, विषयासक्त मित्रके उद्धार को गम्भीर चिन्ताके भाव इससे अच्छे ढंग पर किसी प्रकार प्रकट नही किये जा सकते।

इस दोहे का सुनने वाले पर प्रभाव एक ऐतिहासिक घटना से सिद्ध है।

गाथाकारके उपहासका उसके भौंरेपर क्या प्रभाव पड़ा, उसने कलिकाका पिण्ड छोड़ा या नही, आर्याकारके उपदेशपर भौंरेने आचरण किया या सुनी अनसुनी करके रसका नाश ही कर दिया, सो तो कुछ मालूम नही, पर विहारीके दोहेने अपने मदान्ध भौंरेपर जो अद्भुत चमत्कार दिखाया, वह जगत्प्रसिद्ध है। जो काम राजनीतिधुरन्धर बड़े बड़े मन्त्रियों का मन्त्र न कर सका, वह विहारीने इस दोहे के जादू से कर दिखाया। राजा मिर्जा जयसिंहको अन्तःपुरको 'अनखिली कली' के बन्धनसे छुड़ाकर फिर सिंहासन पर सबके सामने लाकर आसान कर दिया। कविताके असाधारण प्रभावका इससे अच्छा उदाहरण और क्या होगा !

एक नहीं अपनेसे पहले तीन महाकवियो द्वारा वर्णित भावमे इस प्रकार एक चमत्कारयुक्त नूतनता, एक निराला [illegible] पैदा कर देना विहारीहीका काम है, और यह इसी

प्रताप है कि उल्लिखित आदर्श पद्योंके मुकाबिलेमें इस दोहेने कहीं अधिक प्रसिद्धि प्राप्त की है।

× × ×

दोहा--तीज परब सौतिन सजे, भूषन बसन सरीर।
सबै मरगजे मुँह करी, वहै मरगजे चीर ॥३३३॥

* * *

गाथा—हल्लफलह्वाणपसाहिआणं छणवासरे सवत्तीणम्।
अज्जाए मज्जणाणाअरेण कहिअं व सोहग्गम् ॥ १।७६ ॥
(उत्साहतरलत्वस्नानप्रसाधितानां क्षणवासरे सपत्नीनाम्।
आर्यया मज्जनानादरेण कथितमिव सौभाग्यम् ॥)

* * *

उत्सवके अवसरपर जब उसकी दूसरी सपत्नियां न्हा धोकर और सजधज कर अपने रूपको निखारकर और सौन्दर्यको चमकाकर अपनी मनोहरताका सिक्का बैठानेके लिये पूर्ण प्रयत्नसे तत्पर थीं, गाथाकी नायिकाने स्नानके अनादरसे अपने सौभाग्यकी (सिर्फ़) सूचना दी।

पर सपत्नियोंपर उसके इस सौभाग्यगर्व की सूचनाका क्या प्रभाव पड़ा, सो किसी को मालूम नहीं हुआ। सम्भव है उन्होंने स्नान के अनादरका कारण उसकी शारीरिक अस्वस्थता, आलस्य, फूहड़पन या मान-कोपको समझ कर इस पर ध्यान भी न दिया हो। अथवा और उलटी प्रसन्न हुई हों। या नायिकाने इसलिये ही स्नान की उपेक्षा की हो कि उसे इस मुकाबिलेकी परीक्षा मे सफलताकी आशा ही न हो, इत्यादि अनेक कारण इस स्नानानादरके समझे जा सकते हैं।

चाहे कुछ भी हो, पर यह स्नान न करनेकी बात कुछ

अच्छी नहीं हुई, ऐसा भी क्या सौभाग्यगर्व, जो इस दशा-विशेष में अवश्यकर्तव्य कर्म (स्नान) का भी अनादर करा दे, यह स्पष्ट ही अनौचित्य है । परन्तु विहारीके "सवै मरगजे मुंह करी, वहै मरगजे चीर" में कुछ और ही चमत्कार आगया है । बात वही है, वर्णन एक ही प्रसंगका है 'क्षणवासरे' =तीजपरब —"स्नानप्रसाधितानाम्" = "सजे भूषन बसन सरीर"— " सपत्नीनाम् " = " सौतिन " — ये सब एक हैं । भाषामात्रका भेद है । पर 'मरगजे चीर' ने दोहेको चमका दिया है । मरगजे चीरने सचमुच ही कमाल किया है, वहां सौभाग्यगर्विताके मरगजे चीरने (रति-मर्दित वस्त्रने) सपत्नियोंके मुंह मरगजे (मलिन) कर दिये, और यहां दोहे के 'मरगजे' पदने— "गाथ मरगजे मुंह करी, यहै मरगजे चीर" ।

सपत्नियोंके मलिन मुंह होनेमें विवर्णता अनुभावसे ईर्ष्या-सञ्चारी व्यङ्गयका चमत्कार है और कवितामें अलक्ष्यसंक्रम व्यङ्गय ध्वनिका ज़ोर है । वर्णनवैचित्र्यके अतिरिक्त असंगति, विभावना, तुल्ययोगिता, आवृत्तिदीपक और लाटानुप्रासकी भरमार है । अलंकारोंकी क्या खूब बहार है !

× × ×

दोहा—"अज्यों न आये सहज रंग, विरह दूबरे गात ।
अब हीं कहा चलाइयत, ललन चलन की बात"॥(१३०)

❀ ❀ ❀

गाथा—'अज्जो दुक्करआरअ पुणो वि तन्तिं करेसि गमणस्स ।
अज्ज वि ण होन्ति सरला वेणीअ तरङ्गिणो चिउरा ॥ (३। ७३)

(अव्वो दुष्करकारक, पुनरपि चिन्तां करोषि गमनस्य।
अद्यापि न भवन्ति सरला वेण्यास्तरङ्गिणश्चिकुराः ।)

❀ ❀ ❀

गाथाका भाव है कि वाह तुम भी कोई अजीव हो , फिर तुम्हे जानेकी सूझी, यह क्या ग़ज़ब करने लगे हो, अभी तो वेणी वांधनेसे —(प्रवासविरहमें पतिव्रताके धर्मानुरोधके कारण)— गुलझट पड़े केश भी सुलझकर सीधे नहीं हो पाये ।

निस्सन्देह गाथा अपने ढंगमे बहुत हो उत्कृष्ट है, गाथाकारने किसीको कुछ कहनेकी गुंजाइश नहीं छोड़ी, "अद्यापि न भवन्ति सरलास्तरङ्गिणश्चिकुराः" वात वहुत ही साफ़ और सीधी है, पर तोभी चमत्कारसे खाली नही, इसका वांकपन चित्तमें चुभताहै। वहुत ही मधुर भाव है।

पर विहारीलाल भी तो एकही "काइयाँ" ❀ ठहरे ! वह कव चूकनेवाले हैं, पहलू वदल कर मज़मूनको साफ़ ले ही तो उड़े !

'अजयौं न आये सहज रंग, विरहदूवरे गात"

वाह उस्ताद क्या कहने है ! क्या सफ़ाई खेली है, काया ही पलट दी ! कोई पहचान सकता है ! वहां (गाथामे) केवल गुल-झट पड़े केश ही थे यहां " विरहदूवरे गात" हैं ।

केशोमें सरलता आनेकी अपेक्षा "दूवरे गातमे" सहज रंगका वापस आना कही अधिक वाञ्छनीय और महत्त्वपूर्ण कार्य समझा जा सकता है। फिर " अवही कहा चलाइयत ललन !

❀ गुस्ताखी माफ हो, विहारीलालको और कई विचित्र उपाधियोंके साथ "काइयांपन" की उपाधि मिश्रबन्धुवोंके "फुलवैंच" से मिली है। आर्डर हुआ है —"काइयाँपनमें यह कवि शायद सवसे वढा हुआ है ॥"
(मिश्रबन्धुविनोद, प्रथम भाग, विहारीकाल, पृष्ठ १३१)

चलनकी वात"में कितना माधुर्य है। छेकानुप्रास कितना अच्छा है।

काव्यमीमांसाकार राजशेखरजीके सामने यदि यह गाथा और दोहा रखे जाते तो न जाने इस "अपहरण"का वह कोई नया नाम रखते, या अपने कल्पित अपहरणभेदोंमें कहीं इसे खपाते! हम समझते हैं "तुल्यदेहितुल्य" का यह उत्तम उदाहरण हो सकता है, जो ध्वनिकारके मतसे सर्वथा उपादेय है।

× × ×

दोहा--अनियारे दीरघ दृगनि. किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरे कछू. जिहिं बस होत सुजान ॥६७१॥

* * *

गाथा-अण्णाणं वि होन्ति मुहे पम्हलधवलाइँ दीहकसणाइं।
णअणाइँ सुन्दरीणं तह वि हु दट्ठुं ण जाणन्ति ॥ (५।७०)
(अन्यासामपि भवन्ति मुखे पक्ष्मलधवलानि दीर्घकृष्णानि।
नयनानि सुन्दरीणां तथापि खलु द्रष्टुं न जानन्ति)

❀ ❀ ❀

गाथाका भाव है—और सुन्दरियोंके चेहरोंपर भी घनी पलकोंवाली—श्वेत श्याम रंगकी, बड़ी बड़ी आंखें हैं, तोभी देखना नहीं जानतीं (इतनी कसर है!)—गाथाकारने नेत्रोंका "नखसिख" लिखनेमें कोई कसर छोड़ी नहीं " . " "धवल" 'कृष्ण' 'दीर्घ' सब कुछ है, फिर ' [illegible] इसमें और भी बल आ गया है। इतने पर भी देखन तो दुर्भाग्य उनका! यहां "द्रष्टुं न जानन्ति" की [illegible] मम व्यङ्ग्य-ध्वनिने गाथाके चमत्कारपर कुछ [illegible]

डाल दिया है। देखना नहीं जानतीं, क्यों ? कोई विचित्र बीमारी तो नही है ? कही चित्रलिखित आंख तो नही हैं ?

पर वाहजी विहारीलाल! धन्य तुम्हारी प्रतिभा!

"यह प्रतिभा औरै कछू, जिहि बस होत सुजान।"

बात वही है, पर देखिये तो आलम ही निराला है। क्या तानकर 'शब्दवेधी' नावकका तीर मारा है ! लुटाही दिया! एक ※ "अनियारे" पनने धवल, कृष्ण, पक्ष्मल, सबको एक अनीकी नोकमें बीध कर एक ओर रख दिया ! और वाहरे "चितवन" तुम्हारी चितवनकी ताब भला कौन ला सकता है ! फिर 'सुन्दरी' और 'तरुणि' में भी कहते हैं कुछ भेद है। एक (सुन्दरी) वशीकरणका ख़ज़ाना हैं तो दूसरी (तरुणि) खान है। और "सुजान" तो फिर कविताकी जान ही ठहरा। इस एक पदपर तो एड़ीसे चोटीतक सारी गाथा ही क़ुर्बान है।

"वह चितवन औरै कछू, जिहि बस होत सुजान।"

लोहे की यह जड़ लेखनी इसकी भला क्या दाद देगी! भावुक सहृदयोंके वे हृदय ही कुछ इसकी दाद देंगे जो इसकी चोटसे पड़े तड़पते होगे!

यह दोहा 'अप्रस्तुतप्रशंसा' या समासोक्तिके रूपमे कविकी कवितापर भी पूर्णतया संघटित होता है, और आश्चर्य नहीं—औचित्य चाहता है कि ऐसा हो—यह कविने अपनी कविता-की ओर इशारा किया है। अनेक सतसइयों को सामने रखकर विहारीसतसई देखने पर इस "व्यतिरेक" और "भेदकाति-शयोक्ति" की हृदयङ्गम यथार्थता समझमें आ सकती है।

× × ×

※ अनियारा-नोकीला-अनीदार।

दोहा—"यौं दल मलियत निरदई, दई कुसुम से गात ।
कर धर देखो धरधरा, अजौं न उरको जात ॥" २२८

❀ ❀ ❀

गाथा—"सहइ सहइ त्ति तह तेण रमिआ सुरअदुव्विअड्ढेण ।
पम्माअसिरीसाइं व जह से जाआइँ अङ्गाइं ॥" १५६ ॥
(सहते सहत इति तथा तेन रमिता सुरतदुर्विदग्धेन ।
प्रम्लानशिरीषाणीव यथास्या जातान्यङ्गानि ॥)

❀ ❀ ❀

कवित्त—"सुखदै सखीन वीच दैकै सौहे खायकै
खवाइ कछू खाय वस कीनी वरवसु है ।
कोमल मृणालिकासी मल्लिकाकी मालिकासी
वालिका ज़ु डारी मीड़ मानस कै पसु है ।
जानै ना विभात भयो "केसव" सुनै को वात
देखो आनि गात जात भयो कैसो असु है ।
चित्रसो ज़ु राखो वह चित्रिणी विचित्रगति,
देखौधौं न ये रसिक यामें कौन रसु है ॥
(केशवदास-रसिकप्रिया)

❀ ❀ ❀

ये तीनों पद्य—१-प्राकृत गाथा, २-केशवदासजीका कवित्त और ३-विहारीलालजीका यह दोहा, एक ही दुर्घटना की मुख्तलिफ़ रिपोर्ट हैं।

गाथामें 'दुर्विदग्ध' और 'शिरीष' ये दो पद ज़रा जानदार हैं, मामूलीसी मज़ाक़िया फटकार है।

कवित्त मे मामला बहुत बढ़ा चढ़ा कर बयान किया गया है। मीठी फटकारसे गाली गलौजतक 'दुर्विदग्ध' में।

तकको—नौवत पहुँच गयी है। "जात भयो कैध्रों असु है" यह प्राणघातक आक्रमण के अपराधका स्पष्ट आरोप है। मामला वहुत ही संगीन हो गया है, सुनकर भय लगता है। "देखो धौं नये रसिक यामे कौन रसु है" वेशक, इसमें सचमुच रस नहीं है। हँसीमे हत्या हो गयी, मज़ा किरकिरा हो गया, रसभङ्ग हो गया।

विहारीलाल ने इन दोनो से निराले ढंग पर इस घटना का उल्लेख किया है। न इसमे गाथाके तुल्य राह चलते तटस्थ-की सी रिपोर्ट का रंग है, न कवित्त के समान तेज़मिज़ा और वदज़वान दारोग़ा-पुलिस की सो धमकियो का ढंग सुनिए, कितनी प्रेमपूर्ण मधुर भर्त्सना है—

"यों दल मलियत निरदई, दई कुसुम से गात"

"दुर्विदग्ध" और "पशु" इन दोनों की अपेक्षा दोहे ‘निरदई’ पद मे जो औचित्य है, वह सहृदयो से छिपा नही है कवित्त के "देखौ आनि गात जात भयो कैध्रो असु है" मे हृदय को कँपादेनेवाली कितनी भयानकता है। और दोहेके—

"करधर देखो धरधरा, अजो न उर को जात" मे कितः विदग्धता भरी है। कुछ ठिकाना है!

इस प्रकार विहारीलालजी इस मैदान मे गाथाकार औ केशवदास दोनों से वहुत आगे वढ़ गये हैं। क्या अच्छ ‘संस्कार’ किया है, मज़मून छीन लिया है।

× × ×

दोहा—"वामवाहु फरकत मिलै, जो हरि जीवनमूरि।
तौ तोहीसो भेटिहौ, राखि दाहिनी दूरि॥" १४२।

गाथा—"फुरिए वामच्छि तुए जइ एहिइ सो पिओज्ज ता सुइरम् ।
संमीलिअ दाहिणअँ तुइ अवि एहं पलोइस्सम् ॥२।३७॥
(स्फुरिते वामाक्षि त्वयि यद्येष्यति स प्रियोऽद्य तत्सुचिरम् ।
संम्मील्य दक्षिणं त्वयैवैतं प्रेक्षिष्ये)

❀ ❀ ❀

आर्या—"प्रणमति पश्यति चुम्बति संश्लिष्यति पुलकमुकुलितैरङ्गैः ।
प्रियसङ्गमाय स्फुरितां वियोगिनी वामबाहुलताम्"॥३४७॥

❀ ❀ ❀

श्लोक—"येनैव सूचितनवाभ्युदयप्रसंगा।
मीनाहतिस्फुटिततामरसोपमेन ।
अन्यं निमील्य नयनं मुदितैव राधा
वामेन तेन नयनेन ददर्श कृष्णम् ॥

(पद्यावली, हरकवि)

पुरुषके दहिने और स्त्रीके बायें अंगका फरकना शकुन-शास्त्रमें शुभसूचक माना गया है, इस तत्त्वपर गाथाकी वियोगिनी अपनी फरकती हुई बाईं आंखसे कहती है कि तेरे फरकनेकी शुभसूचनापर यदि मेरा प्रिय आज आगया, तो दहिनी आंख को मूंदकर बहुत देरतक मैं तुझसे ही उसे देखूंगी । खुशख़बरी लानेवालेको इनाम देनेका रिवाज है। सो प्रियके आगमनकी शुभसूचना देनेवाली आँखको इससे अच्छा इनाम और क्या हो सकता है कि प्रियके दर्शनका पहला आनन्द वही पेटभरकर लूटे, और उसकी सपत्नी—दूसरी आँख—उससे वञ्चित रहे । सचमुच बड़ाही औचित्यपूर्ण पुरस्कार है, बहुत बढ़िया इनाम है ।

जिस इनाम के देने का यहां गाथामें, वादा किया गया है. वही इनाम पद्यावली के उल्लिखित पद्यमें दिलाया

श्रीकृष्णके आनेपर राधाजीने दाहिनी आंखको मूंदकर उसी बाईसे—जिसने फरक कर उनके आनेकी पहले कभी सूचना दी थी—उन्हे देखा है। यहाॅ (पद्यावलीके पद्यमे) पहले शुभ-सूचनाके अवसरपर पुरस्कारप्रदानकी प्रतिज्ञा नहीं की गयी थी, शायद राधाजीको अपनी आंखकी शुभ सूचनाके परिणामकी सत्यतापर कुछ सन्देह रहा हो!

विहारी ने वैसेही पुरस्कारप्रदानकी घोषणा "वामबाहु" के लिये करायी है, क्योंकि यहाॅ शुभसूचना उसी ने दी हैं। यहां भी पुरस्कार बहुत उचित है। जैसा जिसका काम उसे वैसाही इनाम। आंखने प्रियदर्शन-प्राप्तिकी सूचना दी थी, उसे वैसा ही इनाम देने कहा गया। वामबाहु प्रियसमागमकी शुभसूचना दे रही है, सो इनके लिये इनाम भी वैसाही बढ़िया तजवीज़ा गया है—

"तौ तोहीसो भेटिहौं, राखि दाहिनी दूरि।"

कितनी मनोहर रचना है, कितना मधुर 'परिपाक' है! इन शब्दो मे जितना जादू भरा है, उतना और कहीं है? और "जो हरि जीवनमूरि" ने तो बस जान ही डालदी है, इस एक पदपर ही प्राकृत गाथा और पद्यावलीका पद्य, दोनों एक साथ कुर्बान करदेने लायक़ हैं।

हां, इस झमेलेमे गोवर्धनाचार्यजी तो रह ही गये। उनकी भी ज़रा सुन लीजिये। वह कुछ और ढंगसे इस बातको कहते हैं। उन्होने इस भावको "कारकदीपक" के प्रकाशसे चमकाया है। और पेशगी इनाम दिला देनेकी उदारता दिखलायी है। कहते है प्रियसंगमके लिये फरकती हुई वामबाहुको वियोगिनी प्रणाम करती है, आदरकी दृष्टिसे देखती है, चूमती है और हर्षपुलकित अंगोसे उसे आलिगन

करती है। इस वियोगिनीको अपनी वामबाहुके फरकनेकी सत्यतापर इतना विश्वास है कि प्रियके आगमन से पूर्वही--- शुभसूचना की प्राप्तिपर ही—प्रियनिवेदक बाहुको अनेक प्रकार के पुरस्कार देने लगी। आर्याकार गोवर्धनाचार्यने इतनी विशेषता पैदा करके गाथाके मज़मूनको अपनाया है।

विहारीलालने आर्याकारके इस विशेषतायुक्त भावकी अपने दूसरे दोहे में मानो 'इसलाह' करदी है—पर्यायसे इस बातको प्रकट कर दिया है—कि नवीनता ही लानी है तो फिर इस प्रकार ला सकते हैं—

"मृगनैनी दृगकी फरक, उर उछाह तन फूल।
विनही पिय आगम उमँगि, पलटन लगी दुकूल ॥"

आर्याकी वियोगिनीको अपनी वामबाहुसे फरकनेकी फलदायकतापर इतनी आस्था थी कि वह प्रियके आनेसे पहले ही पुरस्कार देने लगी। और यहां दशा ही दूसरी है।

मृगनयनी प्रियके आगमनकी प्रतीक्षामे तन्मय बनी बैठी है। बाइँ आंखका ज़रा इशारा होते ही उसने ध्यान की आंखसे देखा कि वह सामने आ ही तो रहे हैं। हृदयकी इस उमंग में, संभ्रमकी इस हड़बड़ीमे आंखको इनाम देना क्या, देनेका वादा करना तक भूल गयी। भूल क्या गयी, हृदयकी बढ़ी हुई उमंगने उसे इतना अवकाश ही नहीं दिया। वह झटपट प्रियसे मिलनेकी तैयारी करने लगी। दुकूल बदलने लगी। कितनी तन्मयता है, कितनी उमंग है, कितना "उरउछाह" है! ऐसे ही मौक़ेके लिये यह कहा गया है—

"सुनके आमद उनकी अज़खुदरफ्ता हो जाते हैं हम।
पेशवा लेनेको जाना कोई हमसे सीख जाय ॥" (ज़ौक़)

तोषनिधिने भी एक संस्कृत पद्यके आधार पर इसी प्रसंग-का वर्णन किया है। दशा-विशेष में कव्वेका बोलना भी प्रियके आगमनका शुभसूचक शकुन समझा जाता है। कोई 'आगमिष्यत्पतिका, प्रिय आगमनकी शुभसूचना देने वाले काकसे कहती है—

कवित्त—"पैंजनी गढ़ाइ चोंच सोनेसे मढ़ाई देहों
करपर लाइ पर रुचिसो सुधरिहौं,
कहै कवि तोष छिन अटक न लैहौं कवौ
कंचन कटोरे अटा खीर भरि धरिहौं।
एरे कारे काग! तेरे सगुन संजोग आज
मेरे पति आवै तो वचनतैं न टरिहौं,
करती करार तौन पहिले करौंगी सब
अपने पियाको फिरि पीछे अंक भरिहौं॥"

इसमें भी इनाम देने का इक़रार अच्छे ढंगसे किया है—पैंजनी—(जैसी प्राय पालतू कबूतरों के पांव में शौक़ीन लोग पहनाते हैं)—गढ़ाना, चोंचको सोनेसे मढ़ाना, हाथपर बैठाकर परों (पखो) का संवारना, सोने के कटोरे मे दूध भर कर अटारी पर रखना, एक कव्वे के लिये वढ़िया से वढ़िया इनाम है। कवित्त का पिछला चरण—इक़रार-नामेकी आख़िरी शर्त—वड़ी ही ज़बरदस्त है— वहुत ही मधुर भाव है।

———❀———
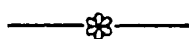
(२) आर्यासप्तशती और विहारीसतसई

आर्यासप्तशती और विहारीसतसईमे अनेक स्थलोंपर अत्यन्त सादृश्य पाया जाता है। जो इत्तफ़ाक़िया नहीं कहा

जा सकता, प्रत्युत जान बूझकर मज़मूनोंकी टक्कर लड़ाई गयी जान पड़ती है। इसके भी कुछ नमूने देखिए,—

दोहा—"छुवै छिगुनी पहुँचो गिलत अति दीनता दिखाय।
बलि बामनको ब्यौंत सुनि को बलि तुम्हें पत्याय॥२२५॥

❀ ❀ ❀

आर्या—"निहितार्धलोचनायास्त्वं तस्या हरसि हृदयपर्यन्तम्।
न सुभग समुचितमीदृशमङ्गुलिदाने भुजं गिलसि" ॥३३६॥

आर्याका भाव है—आधी नज़रसे कहीं तुम्हें उसने देख भर लिया है, इतने पर ही तुम उसके हृदयतकपर क़ब्ज़ा करना चाहते हो? सुभग! यह ठीक नहीं है। उंगली पकड़ कर पहुंचा पकड़ते हो!

यही भाव दोहेमें भी है, पर बहुत जँचा तुला और इससे कहीं बढ़ा चढ़ा। "अंगुलिदाने भुजं गिलसि" और "छुवै छिगुनी पहुँचौ गिलत"—बराबरकी मुहावरेबन्दी है। पर दोहेमें मुहावरा खूब चुस्त बँधाहै। आर्यामे सिर्फ़ यही "अंगुलिदाने भुज गिलसि" पद चमत्कृत है, और ऐसा मालूम होता है इसे बांधनेको ही ऊपरकी चारदिवारी कविने खींची है। बिहारी-लाल इस भावको दोहेमें ले उड़े हैं। 'वामन'जीकी कृपासे दोहा आकाशमें जा पहुंचा है और 'आर्या' बेचारी 'बलि' बनकर पातालमें पहुंच गयी है। दोहेमे "अति दीनता दिखाय" पद भी बड़ा ही चमत्कारक है। इसने वामनजीकी करतूतको और अच्छी तरह चमका दिया है। आर्याके नायक नायिका कोई साधारण व्यक्ति हैं, इसलिये वहां "अ[illegible]दा[illegible] भुजं गिलसि" मे कोई असाधारण चमत्कार नहीं आने प

पर बिहारीने साक्षात् वामनावतार श्रीकृष्णके सम्बन्धमें "बलिवामनको ब्यौंत सुनि को बलि तुम्हें पत्याय" कहकर कितना अनुरूप दृष्टान्त दिया है, कितनी पतेकी बात कही है। इसमें कितना असाधारण चमत्कार आ गया है। यदि आज कहीं जयदेवजी महाराज मिलते तो उन्हें यह कविता सुनाकर पूछते कि कहिए कैसी रही, आप अपने इस दावे को अब वापस लीजिए-कि—

"शृंगारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धन-
स्पर्द्धी कोपि न विश्रुतः० ॥"

और अधिक नहीं तो इतना ही कह दीजिए—

*"शृंगारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धन-
स्पर्धी कोपि विराजतेऽत्र भुवने हिन्द्यां विहारी कविः॥"*

कृष्णकविकी टीकामें इस दोहेपर "सेनापति"का एक लम्बा चौड़ा कवित्त लिखा है। उसे भी ज़रा सुन लीजिए, और देखिए सेनापतिजीने कवित्तके इतने बड़े मैदान में क्या बहादुरी दिखलायी है इतनी बड़ी मोर्चेबन्दी में भी मज़मूनको इस खूबसूरतीसे न घेर पाये, बिहारीने छोटेसे 'नावकके' तीरसे जो काम कर दिखाया, सेनापतिसे इतनी भारी तोपसे भी वह न हुआ—

कवित्त—"झूठ काज को बनाय मिसही सो घर आय
"सेनापति" स्याम बतियानि उघ (च) रत हैं,
आयकै समीप कर हँसी मुसयानही सो
हँसि हँसि बातनहि बाँहको धरत हैं।
मैं तो सब रावरेकी बात जियमैंकी जानि

जाके परपंच ऐते हमसों करत है,
कहां ऐसो चतुराई पढ़ो आप यदुराई
अगुरी पकरि पहुंचेको पकरत है ॥"

—※—

दोहा—"स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा, देख विहंग विचार।
बाज ! पराये पानिपर तू पछी हि न मार ॥" ६३६

आर्या—"आयास परहिंसा वैतंसिकसारमेय ! तव सारः।
त्वामपसार्य विभाज्य कुरङ्ग एषोऽधुनैवान्यैः ॥"१००

आर्याका अभिप्राय है ओ शिकारीके कुत्ते ! इस शिकारमें परिश्रम और परायी हिंसा, सिर्फ़ यही तेरे हिस्सेमें है। इस हरिणको—जिसे तू मार रहा है अभी तुझे दूर हटाकर और लोग बांट लेंगे, फिर तू व्यर्थ क्यों दूसरेको मारकर पापका भागी बनता है।

दुष्ट स्वामीके इशारेपर अनर्थ करने वाले सेवकको अन्योक्तिद्वारा उपदेश है, और सचमुच बड़ा सुन्दर उपदेश है। श्ववृत्तिपरायण सेवकको कुत्ते—(चाकर कूकर एक सम) की अन्योक्तिसे उपदेश देना अत्यन्त औचित्यपूर्ण है। आर्यामें 'सारमेय' शब्द भी विशेष अभिप्रायगर्भित है—(सप्तशतीके टीकाकार अनन्त पण्डितने आश्चर्य है इस पदकी व्याख्यामें "व्यज्यते" 'ध्वन्यते' कुछ भी न लिखा! केवल "सारमेय कुक्कुर" कहकर ही छोड़ दिया है!)—कुत्तेको सारमेय शब्दसे सम्बोधन करनेमें यहां विशेष भाव है। "सारमेय" का अर्थ है सरमा (देवशुनी)—की सन्तान,

अपत्यं सारमेयः, वैनतेय इतिवत्) इस प्रकार यह कुरंग-घातक कुक्कुर की कुलीनताको ओर इशारा है । अर्थात् सरमा देवशुनी की सन्तान होकर तू ऐसे अनर्थ और अविवेकका काम करता है ! धिक्कार है तुझे। किसीको किसी बुरे कामसे हटानेके लिये उसकी कुलीनताकी दुहाई देना, पुरुषाओंके नामपर अपील करना बहुत प्रभावोत्पादक प्रकार है। इस अन्योक्तिका प्रतीयमान अर्थ है कोई अनर्थकारी कुलीन सेवक, इस प्रकार यह आर्या एक अच्छा उत्कृष्ट कविता है ।

अब इसके मुक़ाबिलेमें अब बिहारीका भी रंग देखिए, यहां भी यह साफ मज़मून ले उड़े हैं ।

कुत्ता आखिर परमुखापेक्षी कुत्ता ही है। टुकड़ेके लालचसे उसने चाहे जो कुछ कराली शिकार पकड़वाली या भेड़ोंकी रखवाली कराली—वह स्वामीका द्वार छोड़कर कहां जाय ! इसलिये उसका यह अनर्थ कार्य इतना आश्चर्य-जनक नही, प्रत्युत क्षन्तव्य हो सकता है।

परन्तु व्योमैकान्तविहारी स्वच्छन्दचारी 'बाज' विहङ्गका पराये 'पाणि' (हाथ) पर बैठकर पंछी मारना, अत्यन्त अवि-वेकपूर्ण, आश्चर्यजनक और नितान्तनिन्दनीय कर्म है । इस-लिये बाज़को इससे ज़रूरही बाज़ रहना चाहिए।

"सारमेय" शब्दके समान यहाँ भी "विहंग" पद साभि-प्राय है—(विहायसा गच्छतीति विहंगः) —जिसकी गति अनन्त आकाशमें है, जो सब जगह घूम फिरकर पेट भर सकता है, वह इसप्रकार दूसरेका वशवर्ती बनकर अनर्थ करे, इससे बुरी बात और क्या होगी ।

आर्याकी अन्योक्तिका लक्ष्य कुलीन सेवक है, तो दोहे की अन्योक्तिका लक्ष्य कोई सर्वत्रगति, पर अनर्थकारी गुणवान्

मुसाहब है। फिर उपदेश भी कितने मधुर शब्दोंमे, कितने अच्छे ढंगसे दिया है—

"स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा देख विहंग विचार"

सो अब सहृदय विद्वान् विचार देखें, दोहा आर्यासे बढ़गया है या नही? कुत्ते और बाज़ मे भूमि और आकाशका अन्तर है कि नही !!

——❀——
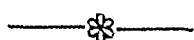
दोहा—नेक उतै उठ बैठिये कहा रहे गहि गेहु ।
छुटी जात नहँदी छनक महँदी सूखन देहु ॥ ३५७

❀ ❀ ❀

आर्या—"सुभग व्यजनविचालनशिथिलभुजाभूदियं वयस्यापि ।
उद्वर्तनं न सख्याः समाप्यते किञ्चिदपगच्छ ॥"६६०॥

आर्याकी सखी सुभग सजनसे कह रही है कि ज़ोर ज़ोरसे जल्दी जल्दी पंखा झलते झलते, इस सखीके हाथ भी रह गये, सात्त्विक प्रस्वेदसे नायिका पसीना पसीना हो रही है, इससे सखीका 'उद्वर्त्तन' (उबटन मलना) समाप्त होने मे नही आता, कुछ हटकर बैठो। तुम्हारे सामीप्य से सात्त्विक स्वेदके रूपमें प्रेमका प्रवाह बह रहा है, ज़रा हटके बैठो तो पसीना सूखे, तब उबटन मला जा सके।

यही प्रसंग दोहे मे बँधा है, पर वहां 'उद्वर्त्तन' नही हो रहा, महँदी लग रही है, वह भी नाखूनोपर, सो सात्त्विक पसीनेसे छुटी जाती है, सूखने नही पाती। इसलिये कहा जा रहा है कि "नेक उतै उठ बैठिये, कहा रहे गहि गेह?" लोकोक्ति क्या खूब है। क्यो मकानके पीछे पड़े हो? तुमने तो मकानको

ऐसा पकड़ा है, कि छोड़ते ही नहीं,—"किञ्चिदपगच्छ" और "नेक उतै उठ वैठिये" का मतलव एक है, पर दोहे मे मुहावरे का ज़ोर ज़्यादह है। इसके अतिरिक्ति आर्याका भाव कुछ उद्वेगजनक है। सखीसमूह में—एक तो यह कह रही है, एक पंखा झल रही है, दो एक उद्वर्तन मे लगी होगी—फिर उद्वर्तन के समय में भी नायकका वहीं ढई मारकर डटे रहना अत्यन्त अनुचित और परम स्त्रैणता का द्योतक है। इसपर भी "किञ्चिदपगच्छ" ही कहा जा रहा है। इस गुस्ताख़ीपर मकान छोड़कर एकदम वाहर जानेका स्ट्रिक्ट आर्डर नहीं दिया जाता!

इधर दोहेमे 'मेंहदी'ने 'उद्वर्तन'का अनौचित्य दूर कर दिया। दोनोंमे वहुत अन्तर होगया। इस प्रसंग मे सखी-समाज की सत्ताका पता भी नहीं चलता। "नेक उतै उठ वैठिये कहा रहे गहि गेह" इस उक्ति मे कितना माधुर्य है। विव्वोक-हावयुक्त प्रेमको मधुर भर्त्सनाका कैसा सजीव चित्र है!

यदि काकु और विपरीत लक्षणाके वल से इसे दूसरी ओर लेजायँ तो भी एक चमत्कार है, जो आर्या मे नहीं है। फिर अनुप्रासोंके आधिक्यने दोहेको कितना श्रुतिमधुर वना दिया है। आर्यामें भी अनुप्रास है सही, पर इतना और ऐसा कहाँ!

—※—
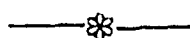
दोहा-मोरचन्द्रिका स्यामसिर, चढ़ि कत करत गुमान।
लखवी पायनि पर लुठति, सुनियत राधा मान॥६२८

× × ×

आर्या-मधुमथनमौलिमाले सखि तुलयसि तुलसि किं मुधा राधाम्।
यत्तव पदमदसीयं सुरभयितुं सौरभोद्भेदः॥ ४३१॥

शंकरशिरसि निवेशितपदेति मा गर्वमुद्वहेन्दुकले !
फलमेतस्य भविष्यति चण्डीचरणरेणुमृजा ॥५७८॥

× × × ×

दोनों आर्याएं एक ही भावकी हैं, उक्तिवैचित्र्यका भेद है। पहलीमे, श्रीकृष्णकी मौलिमाला बनी हुई तुलसीसे कोई कह रही है कि तुलसी! तू कृष्णके सिरपर चढ़नेके कारण, राधाके सौभाग्यकी तुलना न कर, तेरी यह सारी सुगन्धमहिमा राधाके चरणोंको सुगन्धित करनेके लिये है। मानिनी राधाके चरणोपर सिर रखकर कृष्ण जब उसे मनावेगे, तब तेरी यह सिर चढ़नेकी सारी शेख़ी किरकिरी हो जायगी।

दूसरी में, शिवशिरस्थ चन्द्र-कलाको यही बात कोई कह रही है कि यह समझ कर कि मैं शिवजीके सिरपर सवार हूं —सिर चढ़ी हूं—मत फूल, इसका फल यह होगा कि तुझे चण्डीके (पार्वती के) चरणोंकी रेणु साफ़ करनी पड़ेगी।

विहारीलालने इन्हीं दोनो आर्याओंकी छायापर अपने दोहेकी रचना की है। गोपवेष विष्णु (श्रीकृष्ण) के सम्बन्ध-मे "मोरचन्द्रिका" ही कुछ सुहावनी प्रतीत होती है। राधा कृष्णके समय तुलसीकी पुरानी कथामे इतना स्वारस्य और औचित्य नहीं है, जितना इस 'मोरचन्द्रिका'में चमत्कार है। इसके प्रतापसे विहारीलाल 'अपहरण'के अपराधसे साफ़ बच गये। बात ही कुछ और हो गयी, नक्शा ही बदल गया।

आर्याएं बेचारी सप्तशती की गुफासे बाहर न निकलीं, और विहारीका यह दोहा सब जगह लोगोकी ज़बानपर चढ़ा नज़र लगारहा है! "एश.पुण्यैरवाप्यते"।

दोहा—फिर फिर चित उतही रहत टुटी लाजकी लाव।
अंग अंग छवि झौरमें भयो भौंरकी नाव॥ २८१॥

× × × ×

आर्या—भ्रामं भ्रामं स्थितया स्नेहे तव पयसि तत्र तत्रैव।
आवर्तपतित नौकायितमनया विनयमपनीय॥ ४२२॥

× × × ×

आर्याकारने स्नेह-जलमें धँसी हुई नायिकाको भंवरमें फँसी हुई नौका ठहराया है, जो विनय को—प्रतीयमान सखी आदिके प्रयत्नको—दूर करके, किसी के समझाने 'बुझानेकी परवा न करके, हिर फिरके वहीं—स्नेह जलमे—स्थित है।

उक्ति अपूर्व है, पर रूपक पूरी तरह बँधा नहीं, यद्यपि "स्नेहे पयसि" है, 'भ्रामं भ्रामं' है, 'विनयमपनीय' भी है। पर वह वात नहीं, जो दोहेमें है। 'विनयमपनीय'की जगह विहारीलालने 'टुटी लाजकी लाव' बनाकर रूपकका रूप अधिक स्पष्ट कर दिया है। आर्यामे आवर्त्त 'अर्थापात्त' है प्रकृतमें भंवर स्थानीय कोई चीज़ नहीं कही गयी। दोहेके रूपकमें "अंग अंग छवि झौंर" बहुत चमत्कृत और चक्करदार भँवर आ पड़ा है। लाजकी मज़बूत लाव भी टूट गयी। अब उसमेंसे चित्त-रूप नौकाका निकलना नितान्त कठिन है, असम्भव है। और फिर इस नावके (चित्तके) नाविकका स्पष्ट उल्लेख न करके कविने और भी कमाल किया है। चाहे 'अनया' समझिए, या 'अनेन, अथवा—"अस्याः" या "अस्य"।

आर्यामें नायिकाको नौका बनाया है, और दोहेमें चित्तको नाव ठहराया है, चित्तको नाव कहना एक प्रकारसे

औचित्यपूर्ण है। उर्दूके कवियोंने भी किश्तिए-दिलके मजमून बांधे हैं—

"किश्तिए-दिलकी इलाही बहरे-हस्तीमें हो खैर।
नाखुदा मिलते हैं लेकिन बाखुदा मिलता नहीं॥"
(अकबर)

× × ×

दोहा—सबही तन समुहाति छन चलत सबन दै पीठ।
वाही तन ठहराति यह किबलनुमा लौं दीठ॥५६॥

❀ ❀ ❀

आर्या-"एकैकशो युवजनं विलङ्घमानाक्षनिकरमिव बाला।
विश्राम्यति सुभग त्वामङ्गुलिरासाद्य मेरुमिव॥१४४॥

❀ ❀ ❀

'निहितान्निहितानुज्झति नियतं मम पार्थिवानपि प्रेम।
भ्रामं भ्रामं तिष्ठति तत्रैव कुलालचक्रमिव॥ ३१८॥

❀ ❀ ❀

एक ही बातके लिये गोवर्धनाचार्यजीको दो जगह हैरान होना पड़ा है, तोभी पूर्णरूपसे अर्थसिद्धि नहीं हुई, और बिहारीलालने अपने एक ही तीरसे निशाना मार लिया है।

पक्का प्रेम जो एक जगह जम जाता है, उसे कितना ही हिलाया डुलाया जाय, वह हिरफिरके वहीं आकर ठहरता है। इस बातको गोवर्धनाचार्यने दो प्रकारसे निरूपण किया है, एक 'अगुलि' और 'मेरु' की उपमासे, दूसरे कुलालचक्रके दृष्टान्तसे। पहली आर्याका भाव है—सुभग! वह बाला एक एक युवकको लांघती (छोड़ती) हुई तुझपर ही आकर ठहरती है। जैसे जप करते समय, उंगली मालाके सब दानोंसे उतरती हुई सुमेरु—(मालाके बड़े दाने)-पर जाकर रुक जाती है। "मेरोरुल्लंघनं न कार्यमिति ज्ञापकसम्प्रदायः"—

जप करते समय सुमेरुके दानेका उल्लंघन न करना चाहिए, अर्थात् उससे आगे उंगली न बढ़ानी चाहिए, वहीं रोक देनी चाहिए, ऐसा जापक भक्तोंका नियम है।

दूसरी आर्याका भाव है कि कुम्हारके चाककी तरह मेरा प्रेम ऊपर लादे हुए पार्थिवोंको—(मिट्टीके घड़े आदि बरतनोंको, पक्षमें राजाओंको)—भी पटक कर घूमघाम कर वहीं आकर ठहरता है।

इसी भावको प्रकट करने के लिये विहारीलालने ऊपरके दोहेमे "क़िबलेनुमा" की नयी और फडकती हुई अत्यन्त अनुरूप उपमासे निराला चमत्कार उत्पन्न कर दिया है।

जापक-सम्प्रदायको न जानने या न माननेवाली कोई उंगली, मेरु-मणिका उल्लङ्घन चाहे कर जाय, पर क़िबलेनुमाकी चिड़िया, या सुई, अपनी कशिशकी जगह छोड़कर दूसरी जगह ठहर ही नहीं सकती। और कुम्हारका चाक तो इसके सामने निरी मिट्टी है ही, वह जहां रख दिया है "तत्रैव तिष्ठति" गतिशून्य, लक्ष्यरहित, भारी जड पदार्थ "तत्रैव न तिष्ठेत् क्व नु गच्छेत्, इति पृच्छयन्तामाचार्यगोवर्द्धनाः!"

"निहितान् निहितानुज्झति" की अपेक्षा "चलत सबन दै पीठ" में वस्तुत ही औचित्य है।

विहारीकी इस क़िबलेनुमाकी उपमाको 'रसनिधि'ने भी अपने "रतन हज़ारा" मे रखा है—

"अपनौ सो इन पै जितौ लाज चलावत जोर।
किबलनुमालौं दृग रहैं निरख मीतकी ओर॥"

परन्तु इसमें और उसमे इतना ही फ़र्क़ है, जितना असलमें और नक़लमे होता है।

× × ×

दोहा--"कंज नयनि मंजन किये बैठी ब्यौरति बार।
कच अगुरिन बिच दीठि दै चितवति नन्दकुमार ॥६०

× × ×

आर्या-"चिकुरविसारणतिर्यङ्नतकण्ठी विमुखवृत्तिरपि बाला।
त्वामियमङ्गुलिकल्पितकचावकाशा विलोकयति ॥ २३१ ॥

× × ×

ये दोनो एक ही दृश्यके चित्र है। आर्या-चित्रमे कोई किसीसे कहती है कि केश सॅवारनेमे गर्दन तिरछी झुकाए, पीठ फेरे हुए भी यह उॅगलियोसे केशोके बीचमे देखनेका मार्ग बनाकर, देखो, तुम्हें देख रही है।

"चिकुरविसारण"=(केशपरिष्करण) और "ब्यौरति बार", "अङ्गुलिकल्पितकचावकाशा" और='कच अगुरिन बिच दीठि दै" – "विलोकयति" और='चितवति" दोनो जगह एक हैं। पर "नन्दकुमारको" कृपासे बिहारीका चित्र अमूल्य हो गया है। सहृदय भावुकोकी दृष्टि बलात् अपनी ओर खींचता है। दोहेका माधुर्य आर्यासे कहीं बढ़ा चढ़ा है। पढ़नेवालेकी जबान और सुननेवालेके कान इसमे साक्षी है। कस्तूरीकी गन्ध सौगन्दकी हाजत नहीं रखती।

(३)---अमरुकशतक और बिहारीसतसई

दोहा—पल्नि प्रगटि बरुनीनि बढि नहि कपोल ठहराय।
अँसुवा परि छतिया छनक छनछनाय छपि जाय ॥१२६॥

× × ×

पद्य "तप्ते महाविरहवह्निशिखावलोभि-
रापाण्डुरस्तनतटे हृदये प्रियायाः।

मन्मार्गवीक्षणनिवेशितदीनदृष्टे-
नूनं छमच्छमिति वाष्पकणाः पतन्ति ॥८६॥"

× × ×

इस दोहेकी रचनाके समय विहारीकी दृष्टिमें अमरुकका यह "छमच्छमिति वाष्पकणाः पतन्ति" "नूनं" घूम रहा था। तथापि दोहा उससे कहीं उत्कृष्ट हो गया है। दोहेमे शब्दचमत्कारके अतिरिक्त अर्थचमत्कारका आधिक्य भी वहुत बढ़ा चढ़ा है। अमरुकके यहां वाष्पकणोंके छन छन करके गिरनेका कारण "महाविरहवह्निशिखावलिभिस्तप्त" पदमे स्पष्ट है, पर विहारीके यहां यह वात छिपी है, इतनी कसर जरूर है। अमरुकके पद्यमें विरहके साथ 'महत्' पद अच्छा नहीं—यह बड़े अनर्थकी सूचना दे रहा है, 'महाविरह' पद 'महानिद्रा, 'महायात्रा' की तरह 'मृत्युविरह' की अमङ्गलताका सूचक है—परन्तु अमरुककी विरहिणीका नायक महाप्राणताकी कृपासे अभी विद्यमान है, वही तो यह कह रहा है कि 'मन्मार्गवीक्षणनिवेशितदीनदृष्टेः' इतनी खैर है। इसने अमङ्गलताके पांव जमने नही दिये, वात आयी गयी हुई। अमरुकके "वाष्पकणाः पतन्ति" से प्रकट है कि वाष्पकण नीचे गिर रहे है, छन छनाकर छिप नहीं जाते। विहारीके यहां सन्तापाधिक्य वहुतही प्रवल है, वहां आँसू गिर नही सकते, छन छनाकर वही छिप जाते हैं। विहारीने आंसुओं की उत्पत्ति और पतनका प्रकार वहुत विलक्षणतासे कथन किया है। इसमें एक खास चमत्कार है। 'वरुनीनिवढ़' से वरोनियोंकी सघनता और वियोगचिन्तामे अर्धनिमीलन दशाकी प्रतीति होती है—यदि आंख विलकुल खुली हो तो पलकें ऊपरको उठी रहनेसे, और विलकुल वन्द हों तो पलकोंके सिरे नीचेको होनेसे—आंसू इकट्ठे होकर—वढ़कर—नहीं गिर सकते। "नहिं कपोल

ठहरायँ"—से कपोलोंकी श्लक्ष्णता-स्निग्धताकी ध्वनि निकलती है। जहां निगाहके पांव ⊛ रपटते है वहां पानीकी बूंदें कैसे ठहर सकती हैं! "परि छतियां छनक छन छनाय छपि जायँ"—मे 'छनक' पदसे आंसुओंकी अधिकता और निरन्तर पतन—(आंसू थोड़े हो तो क्षणभर भी नही ठहर सकते)—'छनछनाय छपि जायँ' से वियोग-सन्तापका आधिक्य व्यङ्ग्य है। इस प्रकार वाच्यातिशयी व्यङ्ग्य होनेसे यह दोहा ध्वनिकाव्यका उत्तम उदाहरण है। और असरूकका पद्य, बस समझ लीजिए इसके सामने जो कुछ है, सो है।

इस दोहेको पढ़कर महाकवि कालिदास के कुमारसम्भव-का यह पद्य-रत्न—

"स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः
पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे
चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः॥"

और इसपर मल्लिनाथकी व्याख्या, उसका यह वाक्य—"अत्र प्रतिपदमर्थवत्त्वात्परिकरालंकारः", और इसी पद्यपर चित्रमीमांसाकार अप्पयदीक्षितकी वह अतिमनोहर मीमांसा और उसका यह निष्कर्षवाक्य—"एवं च वाच्यातिशयि

⊛ निगाह के पांव रपटते हैं—

"क्या कहूं इस सफाए-आरिजको, वहां निगाहका कदम रपटता है" (सौदा)

"रपटत लोचन चिलक देख वलभद्र" (वलभद्र)

"ऐसी मिलमिली ओप सुन्दर कपोलनकी,
खिसल खिसल परें दीठि जिन परते" (सुन्दर)

है सलसलाहट ऐसी सी कुछ नर्म गात है,
जब वहां निगाहका ध्यान पड़ा झट रपट गया। (इन्शा

व्यङ्ग्यमत्रेति ध्वनेरुदाहरणमिदम् ।"—याद आ जाते हैं। भेद इतनासाही है कि एक जगह—कुमारसम्भवके उस पद्यमें, 'योगिनी' (तपस्विनी) पार्वतीकी तपश्चर्यादशाका वर्णन है और दोहेमें किसी वियोगिनीकी विरहदशाका चित्र है।

× × ×

दोहा—"मै मिसहा सोयो समुझि मुँह चूम्यों ढिग जाय।
हँस्यौ खिसानी गर गह्यो रही गरे लपटाय ॥ २१४ ॥

× × ×

पद्य—शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ॥
विश्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थली
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥ ८२ ॥

❀ ❀ ❀

अमरुकका यह पद्य साहित्यपाठियोमें बहुत प्रसिद्ध है। इसकी ❀ व्याख्या यहां नहीं की जायगी। केवल इतना

❀ व्याख्या करते सकोच होता है, डर लगता है कि "अर्वाचीन-साहित्यविवेचनाकार' माननीय मित्र श्रीमान् साहित्याचार्य पण्डित शालिग्रामजी शास्त्री, कहीं दुबारा न बरस पड़े। उनकी आज्ञा है कि इस श्लोककी व्याख्यास्तुति न कीजाय—

"आदर्शो मणिरिव वाथ हृदय येषां परार्थग्रहे
ये वा भाविनि भारतीयविभवे सर्गप्रतिष्ठापकाः।
येषां चारुचरित्ररक्षणविधौ प्रेक्ष्य सदा शिक्षके,
'शून्य वासगृह' स्तुवन्ति गुरवो हा हन्त तेषांपुरः॥"
(अर्वाचीनसाहित्यविवेचना)

इस पद्यका पूर्व प्रकृत गद्यस्य 'किशोरकाणां' तथा पद्यस्य 'गुरवः' उपलक्षण है अन्य श्रोता और वक्ताके भी।

निवेदन ही पर्याप्त होगा कि विहारीका यह दोहा अमरुकके इसी प्रसिद्ध पद्यका "तुल्यदेहितुल्य" प्रतिद्वन्द्वी है । अमरुकने जिस गोपनीय घटनाको अपने पद्यमें विशद व्याख्या करके रसिकोंको चौंका दिया है, ठीक उसी घटनाका उक्तिवैचित्र्यसे विहारीने भी वर्णन किया है, और हम समझते है खूब किया है । ख़ासकर दोहेका उत्तरार्ध बहुत ही उत्तम हो गया है । उसमें पर्याय-व्यापारोका बड़ा ही मनोहर शब्दचित्र खिंच गया है। फिर दोहे की शब्दस्थापना पर ध्यान दीजिए, कितना गढ़कर—दृढ़तासे सन्धि मिला कर—शब्दोको विठलाया है कि ज़रा भी कहीं शिथिलताका नाम नहीं, एक मात्रा भी इधर उधर नहीं हो सकती—"हँस्यौ, खिसानी, गर गह्यौ, रही गरै लपटाय ।" अंगूठीपर नगीने से जड़ दिये हैं !

× × ×

दोहा---पति रतिकी वतियां कहीं सखी लखी मुसकाय ।

कैंके नवै टला टली अली चली सुख पाय ॥२६॥

❀ ❀ ❀

पद्य—"त्वं मुग्धाक्षि विनैव कञ्चुलिकया धत्से मनोहारिणी
लक्ष्मीमित्यभिधायिनि प्रियतमे तद्वीटिकासंस्पृशि ।
शय्योपान्तनिविष्टसस्मितसखीनेत्रोत्सवानन्दितो
निर्यातः शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः ॥" २७

* * *

यहां भी विहारीने अमरुकके "प्रवन्धशतायमान" पद्यसे अपने दोहेकी टक्कर लड़ायी है, "शार्दूलविक्रीडित" का ... दुनाली वन्दूकसे मुकावला किया है, और खूब किया

निशाना मार लिया है। अमरुकके फूलोंकी टोकरीका विहारीने अपने दोहेकी शीशीमें किस खूबीसे अतर खीचकर रख दिया है!

पद्यके पूर्वार्ध का भाव—"पति रतिकी वतियां कहीं"—इतनेमे ही आगया है। पद्यमें सखीसमाजके सामने हाथापाईकी कार-रवाई, सभ्यताकी सीमाका उल्लङ्घन कर गयी है। विहारीने उसे "रतिकी वतियां" में परिणत करके औचित्यके अन्दर ला दिया है। पद्यके "अलीकवचनोपन्यासं" का सार 'टलाटली' इस वाक्य-विन्दुमें है। "आलीजनो निर्यातः" को "अली चलीं" समझिए। "सस्मितसखीनेत्रोत्सवानन्दितः" इस समस्त वाक्य-की वखिया उधेड़ कर "सखी लखी मुसकाय" और "सुखपाय" ये पृथक् पृथक् टुकड़े कर दिये हैं।

अव चाहे इसे छायापहरण समझिए, या "अर्थापहरण" कहिए, या अनुवाद नाम रखिए, जो कुछ भी हो, है अद्भुत लीला। इससे अच्छा और हो नहीं सकता। इसपर पदावलि कितनी श्रुतिमधुर है, अनुप्रासका रूप कितना मनोहर है कि सुनते और देखते ही वनता है!

× × ×

दोहा—सखी सिखावति मानविधि सैनन वरजति वाल।
हरुये कहु मो हिय वसत सदा विहारीलाल ७१३

* * *

पद्य—"मुग्धे मुग्धतयैव नेतुमखिलः कालः किमारभ्यते
मानं धत्स्व धृतिं वधान ऋजुतां दूरे कुरु प्रेयसि।
सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना
नीचैः शंस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति॥"

❀ ❀ ❀

अमरुकके इस पद्यरत्नने भी साहित्यके जौहरियोंसे बड़ी क़द्र और क़ीमत पायी है, इसकी भी बडी धूम है, और सच-मुच है भी इसी योग्य, इसकी प्रशंसामें जो कुछ कहा जाय अनुचित नहीं है। इसका भाव है—नारदमुनिकी चेली कोई सहेली, किसी भोली भाली पतिप्राणा मुग्धाको "मानविधि"-का पाठ पढ़ाने बैठी है,—"क्या इसी सिधलेपनसे सारा समय वितानेकी ठानी है? ऐसे कैसे गुज़ारा होगा? देख, धैर्यपूर्वक मानको धारण कर, प्रियके साथ इस सरलताको काममें मत ला, जरा टेढ़ी बांकी बनकर रह—"

'मानविधि'के इस विद्रोहपाठको सुनकर बेचारी मुग्धाके होश उड़ गये, हृदयेश्वरके साथ ऐसा विद्रोह! विद्रोहशिक्षापर व्याख्यान देनेवाला तो प्रेमराज्यमे बच जाता है, पर श्रोतापर विपत्ति आ जाती है, इस डरसे घबरायी हुई मुग्धा कहती है—"ऊँचे मत बोल, मेरे हृदयमे स्थित प्राणेश्वर कहीं न सुन पावें, चुप रह।"

विहारीका दोहा इसीकी छाया है। पर ध्यान दीजिए तो एक बातमे इससे बढ़ गया है। "सखी सिखावत मानविधि" इस वाक्यमे अमरुकके पद्यके पूर्वार्धका, "सख्यैवं प्रतिबोधिता" तक सब भाव आगया है। मानविधिके प्रकारका इस प्रकार विस्तारसे वर्णन न किया जाय तो कुछ हानि नहीं, प्रेमके पचड़ोसे परिचित रसिक जनोंके लिए यह कोई नयी बात नहीं, उन्हें समझानेको "मानविधि" इतना इशाराही काफ़ी है। पद्यके "मुग्धा" पदके मुक़ाबिलेमे दोहेमे "बाला" पद है ही। "नीचैः शंस" और "हृद्ये वसु" में भी भाषाभेदके सिवा कोई फ़रक़ नही। अब इसके आगे 'विहारीलाल' का चमत्कार बहुत विलक्षण है।

बिहारीलालके दोहेकी 'बाला' अमरुककी 'मुग्धा'की तरह शब्दोंमें यह नही कहती कि 'ऊँचे मत बोल, नही तो प्राणपति सुनलेंगे।' वह "सैननि बरजति" आंखके इशारेसे निषेध करती है। वह इस प्रपंच प्रसंगमें सम्मिलित होते इतना भय खाती है कि शब्दोंमे मना करते भी डरती है, 'धीरे बोल' यह भी इशारेसे ही समझाती है, सखीद्वारा इस प्रस्तुत प्रसंगमे किसी प्रकार सहमत होना तो दूर रहा कण्ठद्वारा निषेध करते भी उसे संकोच है। धीरेसे बोलनेका इशारा भी इसलिए नही कर रही कि वह चुपकेसे सुनना चाहती है, किन्तु कदाचित् इस कारण कि कोई और सुनकर इस बेतुकी बातपर सखीका उपहास न करे! अन्यथा जिसके हृदयमें "सदा बिहारीलाल" बस रहे हैं, वह चुपकेसे भी इस विद्रोह षड्यन्त्रमे शरीक होनेका कैसे साहस करेगी? यह ज़रा सोचनेकी बात है!

"हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति"

इसकी अपेक्षा "मो हिय बसत सदा बिहारीलाल" मे कहीं अधिक चमत्कार है। "बिहारीलाल" पद यहां बड़ा ध्वनिपूर्ण है—सब जगह बिहार करनेका जिनका स्वभाव है, जो पूरे "हरजाई" हैं वह "बिहारी" जब प्रेमाधीन हो, अपने स्वभावको छोड़ मेरे हृदयमें सदा बसते हैं—यहीं डेरा डाले हुए है—फिर मानको अवकाश कहाँ? धन्य बिहारीलाल तुम्हारी लीला!

"ग़रज़ वाइज़की महनत रहगयी सब रायगां होकर"

❀ ❀ ❀

शृङ्गारसतसई (रामसतसई) के रचयिताने भी इस

भावको अपने दोहेमे भरा है, विहारीका अनुकरण किया है, पर वह बांकपन कहां !

"हिय लोचनमे भरि रहे सुन्दर नन्दकिसोर।
चलत सयान न बावरी मान धरौं किहि ठौर॥"

(४) विहारी और संस्कृतके अन्य कवि

संस्कृतके अन्य महाकवियोके पद्योंको छाया भी कही कही सतसईमे पायी जाती है। इसकी भी कुछ बानगी देखिए—

दोहा---"मरिवेको साहस कियो बढी विरहकी पीर।
दोरति है समुहे ससी सरसिज सुरभि समीर"॥४३४॥

* × *

पद्य —"धत्ते चक्षुर्मुकुलिनि रणत्कोकिले बालचूते
मार्गे गात्रं क्षिपति बकुलामोदगर्भस्य वायोः।
दावप्रेम्णा सरसबिसिनीपत्रमात्रान्तराय-
स्ताम्यन्मूर्त्तिः श्रयति बहुशो मृत्यवे चन्द्रपादान्॥"
(भवभूति, मालतीमाधव)

भवभूतिने माधवकी विरह-विह्वलताके इस वर्णनमे एक एक करके प्रायः सब 'उद्दीपन विभावो' को गिना दिया है। अर्थात्—विरहसे अधीर होकर माधव, मृत्युके लिये बौरे हुए आमपर दृष्टि डालता है, कोकिलकी कूकपर कान लगाता है। मौलसिरी की गन्धसे सुगन्धित वायुके मार्गमे लोटता है। दावाग्निकी बुद्धिसे, भीगे हुए कमलपत्रोको ऊपर ओढ़ता है, जब इनसे भी काम निकलता नही देखता तो विरहीजनोके घातकोमे शिरोमणि चन्द्रकिरणोकी शरणमे जाता है।

विचित्रालंकारका क्या ही उत्तम उदाहरण है, विरहीजनका उपचार भी कितना विचित्र है। चन्द्र आदि पदार्थ, जो सन्ताप-शान्तिके लिये औषध हैं, उनसे ही यहां सन्तापोद्दीपनद्वारा मृत्यु मांगी जाती है!

विहारीके दोहेमे इतनी उद्दीपनसामग्रीका सग्रह नहीं है, इस कारण इसे 'हीनता' न समझिए, इसमे एक वातहै। भवभूतिके यहाँ "महाप्राण" माधव (पुरुष) की दशाका वर्णनहै, उसको अभीष्ट-सिद्धिके लिये इतने ही घातक उद्दीपनोंकी आवश्यकता है, और इधर दोहेमे एक वेचारी विरहिणी अवलाका वर्णन है, उसका काम तमाम करनेको इनमेंसे एक आध घातक भी पर्याप्त है, घातकोंकी सेना दरकार नही है। हम समझते है यही समझकर कविने उद्दीपनसामग्रीका अधिक विस्तार नहीं किया।

इस प्रसंगमे उस प्रसिद्ध संस्कृत पद्यके ये वाक्य स्मरण कीजिये तो विरही और विरहिणीकी सहनशीलताका भेद मालूम हो जाय—

"कामं सन्तु, दृढं कठोरहृदयो रामोस्मि सर्वं सहे,
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव"

× × ×

पद्य—"जानुभ्यामुपविश्य पार्ष्णिनिहितश्रोणिभरा प्रोन्नमद्-
दोर्वल्ली नमदुन्नमत्कुचतटी दीव्यन्नखाङ्कावलिः।
पाणिभ्यामवधूय कङ्कणझणत्कारावतारोत्तरं
वाला नह्यति किं निजालकभरं किं वा मदीयं मनः॥"

* * *

किसी संस्कृत कविका यह उद्भट पद्य जूड़ा वाँधनेकी दशापर वड़ी ही सुन्दर स्वभावोक्ति है, हूवहू नक्शा उतार दिया

है, तस्वीर खींच दी है। एक नुक्तेका फ़रक़ नहीं छोड़ा, पर इसका जवाब विहारीका यह दोहा हो सकता है—

दोहा—कच समेटि कर भुज उलटि खए सीस पट टारि।
काकौ मन बांधे न यह जूरौ बांधनिहारि॥४४३॥

× × ×

दोहेके आकारमे जितनी गुंजायश थी, कामकी कोई बात नही छोड़ी, सब परमावश्यक क्रियाविशेषण मौजूद है। "वाला नह्यति किं निजालकभरं कि वा मदीयं मनः।" की "किं वा मदीयं" इस परिच्छेदोक्तिमे इतना चमत्कार नही, जितना दोहेके इस परिच्छेदशून्य कथनमे है—

"काकौ मन बॉधै न यह जूरौ बॉधनिहारि।"

सहृदयोका भावक हृदय इसमे साक्षी है। अस्तु, यह तो हो गया, पर विहारीके इस दोहेका जवाब नही है—

दोहा—छुटे छुटावैं जगतते सटकारे सुकुमार।
मन बॉधत बेनी बँधे नील छबीले बार॥४४१॥

× × ×

इसका जवाब किसीको याद हो तो बतलावें? क्या कहना है, क्या कही है। ये बाल क्या है, काली बला है। एक आफ़त हैं, क़यामत हैं। छुटे हुए चैन लेने दें न बँधे हुए!!

केशकलापकी इस लोकोत्तर महिमासे अनभिज्ञ कोई संस्कृत कवि क्या बेतुकी बात कहने बैठे है—

"कमलाक्षि! विलम्ब्यतां क्षणं कमनीये कचभारबन्धने।
दृढलग्नमिदं दृशोर्युगं शनकैरद्य समुद्धराम्यहम्॥"

× × ×

आप कहते है कि ज़रा ठहरियो, अभी जूड़ा न बाँधो, मेरी आंखें केशपाशके सघन जालमें फँसी हैं, मै ज़रा उन्हें आहिस्ता आहिस्ता उभार लूं, वहांसे उन्हे निकाल लूं। कहीं वह बालोंमे बँधी न रह जायँ।

क्या अच्छी सूझी है, इन हज़रतने यदि विहारीसे केशोंकी करामात सुनी होती तो ऐसी फ़िजूल आरज़ू कभी न करते। अरे बाबा! आंखे ज्यो त्यो करके निकाल भी ली तो क्या हुआ! इस नागनके मुहमेसे 'मन' तो नही निकाल सकोगे?

× × ×

उर्दूके बूढ़े कवि मीरहसन भी इस बारेमे सिर्फ़ इतना ही जानते थे--

"लटोंमे कभी दिलको लटका लिया,
कभी साथ बालोंके झटका दिया।"

* * *

दोहा---तिय कित कमनैती पढ़ी विन जिह भोंह कमान
चल चित वेझे चुकति नहि वक विलोकनि वान ४६७

× × ×

पद्य—"मुग्धे! धानुष्कता केयमपूर्वा त्वयि दृश्यते।
यया विध्यसि चेतांसि गुणैरेव न सायकैः।"

ऊपरके पद्यमे कहा गया है कि मुग्धे! तुझे यह कैसी अपूर्व धनुर्विद्या आती है, जिससे तू गुणोसे ही चित्तोको वींधती है, वाणोंसे नही।

पद्यके केवल "गुणैः" पदमे एक ज़रासी करामात है, जिससे यह साहित्यसंसारमे अच्छी प्रसिद्धि पा गया है, 'गुण' शब्द

श्लिष्ट है, गुणका अर्थ है, सौन्दर्य आदि और कमानकी डोरी। अब ज़रा तुलनात्मक दृष्टिसे देखिए, इसे देखे विहारीका दोहा करामातोकी खान है कि नही।

पद्यके पूर्वार्धका भाव "तिय कित कमनैती पढ़ी" दोहेके इस एक पादमे आ गया है। अब इसके आगे इस प्रश्नकी व्याख्या—कमनैतीकी अपूर्वता—प्रारम्भ होती है। इस कमनैतीमें भौंहकी कमान तो है, पर उसपर, जिह (ज्या) डोरी नहीं है। "बंक-विलोकनि वान" वाण हैं, सो तिरछे टेढ़े—(तिरछी नज़र)—यह तो कमनैतिकी सामग्रीहै—विना डोरीकी कमान, और टेढ़े वान—और लक्ष्य (निशाना) है अलक्ष्य 'चल चित्त'। निमेषमात्रको जिसकी गति नही रुकती, संसारभरके चञ्चल पदार्थ जिसके सामने पंगु है, खुर्दबीन और दूरबीनसे भी जो दीख नही पड़ता, ऐसा चञ्चल चित्त है निशाना। इसपर भी वार ख़ाली नही जाता "वेधै चुकत नहिँ" दिले-बेक़रार विंध ही तो जाते हैं; मजाल है निशाना ज़रा चूक जाय। इसका नाम है विचित्र कमनैती !!

दुष्यन्तके सेनापति इतनेको ही धनुर्धारियोंका उत्कर्ष माने बैठे थे कि भागते दौडते जंगली जानवरोपर निशाना ठीक बैठ गया, और बस !

"उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिद्ध्यन्ति लक्ष्ये चले"

(अभिज्ञानशाकुन्तल)

वह विहारीकी इस कमनैतीका करतब देखते तो जानते कि उत्कर्ष इसमे है उसमे तो ख़ाक नही—

"वडे मूज़ीको मारा नफ़्सेअम्मारहको गर मारा,

निहंगो अज़्दहाओ शेरे-नर मारा तो क्या मारा।" (ज़ौक़)

इस मैदानमें उर्दू के महारथी तीरन्दाज़ोंके हाथ भी ज़रा देख लीजिए, कैसी समस्यापूर्ति सी कर रहे हैं। एक उस्ताद कहते हैं—

"तिरछी नज़रोंसे न देखो आशिक़े-दिलगीरको,
कैसे तीरन्दाज़ हो सीधा तो करलो तीरको।"

* * *

"आतिश' भी इनकी ताईद करते हुए कहते हैं—

"तिरछी नज़रसे तायरे-दिल हो चुका शिकार,
जब तीर कज पड़ेगा तो देगा निशाना क्या॥"

* * *

तीसरे, 'तीरे-नज़रके मजरूह' फ़र्माते हैं—

"ख़ता करते हैं टेढ़े तीर यह कहनेकी बातें हैं,
वो देखें तिरछी नज़रोंसे ये सीधे दिल पै आते हैं॥"

बस देख लिया, ये भी टेढ़ी सीधी बहससे आगे न बढ़ सके †

× × ×

दोहा—कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय।
उहि खाये बौराय जग इहि पाये बौराय॥६४८

* * *

पद्य—"सुवर्णं बहु यस्यास्ति तस्य न स्यात्कथं मदः।
नामसाम्यादहो यस्य धुस्तूरोपि मदप्रदः॥"

* * *

ऊपरका 'उद्भट' श्लोक नहीं कह सकते इस दोहेको देखकर बना है, या दोहा इसे देखकर। यदि यह दोहेको देखकर बना है तो अपनी असलियतसे बहुत दूर जा पड़ा, और यदि

---

† अकबर साहबने भी इसी मजमून को इस तरह बाँधा है :—
"जमाना होगया बिस्मिल तेरी सीधी निगाहोंसे
ख़ुदानाख्वास्ता तिरछी नज़र होती तो क्या होता।"

दोहेकी रचना इसे देखकर हुई है तो विहारीने मज़मून छीन लिया है।

श्लोकका भाव है कि जिसके पास बहुतसा सुवर्ण है, उसे मद क्यों न हो। जिस सुवर्णके नामसादृश्यसे धतूरेमें भी मादकता आगयी है, वह स्वयं मादक क्यों न होगा।

श्लोकमें एक तो "बहु" पद व्यर्थ है, भरतीका है। जो पदार्थ मादक है, वह बहुत हो या थोड़ा, मादकता उसके साथ है। यदि बहुत परिमाणमें ही कोई पदार्थ मादकता प्रकट करता है, तो उसमें कुछ चमत्कारयुक्त वैशिष्ट्य नहीं।

दूसरे "सुवर्ण" और "धुस्तूर" पदोंमें साक्षात् इतना नामसाम्य भी नहीं है, जितना 'कनक'—'कनक' में सादृश्य है। "धत्तूरः कनकाह्वयः" इस कोशवाक्यके बलसे यदि सुवर्णके सब पर्याय, धतूरेके पर्याय यथाकथञ्चित् मान भी लिये जायँ, तथापि लोकमें साम्यप्रसिद्धि केवल 'कनक' शब्दमें है। वैद्यकग्रन्थोंमें भी धतूरेके लिये 'कनक' शब्द ही प्रायः व्यवहृत है, सुवर्ण या उसके अन्य पर्याय—हिरण्य, तपनीय, अष्टापद, शातकुम्भ इत्यादि नहीं। 'प्रयोग और प्रसिद्धिके सामने कोशकी एक नहीं चलती, कोश धरा ही रहता है, जो शब्द जिस अर्थमें प्रसिद्ध होगया, सो होगया, जो रह गया, सो रह गया।

इसके अतिरिक्त किसी मादक पदार्थके नाम-साम्यसे ही कोई पदार्थ मादक हो जाय, इसमें प्रमाण नहीं। 'आबे-गौहर' में भी 'आब' है, पर उसके छिड़कावसे न धूल दब सकती है न पीनेसे प्यास बुझ सकती है। दोहेमें कनकके पानेमें मादकता बतलायी गयी है, जो अनुभवसिद्ध है। अनेक विष ऐसे हैं जिनके स्पर्शसे और पास रखनेसे मनुष्य बौरा जाता है। दृष्टिविष सर्पके देखनेसे भी घातकता होती है। इसलिये दोहेमें जो "उहि खाये

बौराय जग इहि पाये बौराय" कहा है, वह यथार्थ है। श्लोकमें केवल कविकल्पनाका सूक्ष्म चमत्कार है, यथार्थताका अभाव है। दोहेमे दोनों बातें हैं। इस कारण दोहेके "कनक कनकते सौ गुनी" वाक्यमें श्लोककी अपेक्षा अधिक नहीं तो सौ गुनी उत्कृष्टता अवश्य है। †

× × ×

दोहा---या भव-पारावार को, उलँघि पार को जाय।

तियछवि छायाग्राहिनी, गहै बीचही आय ६८१

✲ ✲ ✲

पद्य—"संसार! तव निस्तारपदवी न दवीयसी।
अन्तरा दुस्तरा न स्युर्यदि रे मदिरेक्षणाः॥

✲ ✲ ✲

श्रीभर्तृहरि महाराजकी उल्लिखित श्रुतिमधुर सूक्ति बड़े मार्केकी चोज़ है। इसे सुनकर विरक्त जनोंके शुष्क हृदयोंमे भी सरसताके रक्तका संचार होने लगता है, बिजलीसी दौड़ जाती है, भावशबलताकी प्रबल तरङ्गोंका तूफ़ान उठने लगता है। वे बड़ी आनन्दमुद्रासे आंखें बन्द करके, झूमझूम कर, हर्षातिरेकसे रुकरुक कर, एक एक पदपर विराम करते हुए—

"संसार!—तव—निस्तार-पदवी—न—दवीयसी—अन्तरा—दुस्तरा—न—स्यु—र्यदि—रे मदिरेक्षणाः!!!

इस प्रकार पाठ करते करते जब अन्तिम पद "मदिरेक्षणाः"के

---

† एक फारसी शेरमें यही बात दूसरे ढंग से कही गयी है :—

"बादा ' खुरदन ओ हुशियार नशिस्तन् सहलस्त
गर बदौलत बिरसी, मस्त न गर्दी मर्दी"

अर्थात् शराब पीकर भी होशहवास दुरुस्त रहे यह आसान बात है, पर दौलत (धन) पाकर यदि तू मस्त न हो-होशमें रहे—तो 'मर्द आदमी है!

पास पहुंचते है तो एक साथ बेदम होकर निराशाके अथाह समुद्रमें डूब जाते हैं। उन्हे इस बरफ़की पहाड़ीसे टकराकर अपने वैराग्यरूप निर्भय 'टैटनिक' * के भी टुकड़े होते दीखने लगते है। इस 'तारपीडो'की तनिक टक्करसे शमदमादि सुदृढ़ साधनोंके बड़े बड़े बेड़े चकनाचूर होते दीख पड़ते हैं।

पर हम समझते है इसमे कोई ऐसी घबरानेकी बात नही है। भर्तृहरिजीने तो सिर्फ़ "दुस्तराः—दुःखेन तीर्यन्त इति दुस्तराः—कहा है "केनाप्युपायेन कथमपि तरीतुमशक्याः" तो नही कहा! फिर घबरानेकी कौन बात है? यदि जहाज़ कमज़ोर है, समुद्रमें तूफ़ान आनेका या किसी छिपी चटानसे टकरानेका डर है, या तारपीडोकी टक्करका भय है, तो जाने दो इस जहाज़ को. हवाई जहाज़पर बैठकर समुद्रको पार कर जाओ।

स्वामीजी महाराज! छक्के तो बिहारीके इस दोहेको सुनकर छूटते हैं, देखिए, ज़रा सँभल कर, धैर्य धरकर सुनिए। वाक्य-समाप्तिके पूर्वही कहीं समाधि न लगा जाइये। हाय रे निष्ठुर बिहारी! तेरी बिभीषिकाने तो किसी तरह भी कहीके न छोड़े, एकदम सारे साधन ही बेकार कर दिये!

तिय-छवि छायाग्राहिनी गहै बीच ही आय

हरे हरे! इससे भला कोई कैसे बचने पावेगा! यह तो ऊपर उड़ते हुए हवाई जहाज़ोंको भी छाया पकड़कर—अनायास

---

* 'टैटनिक' (जहाज) की दुर्घटनापर स्वर्गीय महा कवि 'अकबर ने क्या ख़ूब कहा है—

"टैटनिक टुकड़े हुआ टकराके आइसबर्ग से
दबगया साइन्स भी आख़िर पयामे-मर्ग से"

आइसबर्ग=बर्फ की चट्टान, । पयामे-मर्ग=मौत का पैग़ाम,

नीचे खींचकर—निगल जायगी! इस छाया-ग्राहिनीके पंजेसे छूटना तो सिर्फ़ 'पवनसुत' महायोगी महावीरजीकाही काम था। पर महावीर तो एकही थे, सब कोई तो महावीर नहीं है? नहीं हैं तो फिर पड़ो छायाग्राहिनीके जालमें। देखा? डराने वाले भयका ऐसा भयानक रूपक बांधा करते हैं—"तिय-छवि छाया-ग्राहिनी—दुस्तरा मदिरेक्षणाः—तियछविछायाग्राहिनी—"

(५) विहारी और उर्दू कवि

विहारी और उर्दू कवियोंकी कवितामें भी कहीं कहीं भावसाम्य है। पर वह छायात्मक नहीं। उसे इत्तफ़ाक़िया 'तवारुद'* कह सकते है। "सौ स्याने एक मत" के अनुसार तबीअतें एक नतीजेपर जा पहुची हैं। जान बूझकर या एक दूसरेको देखकर ऐसा नहीं हुआ। जिन उर्दू कवियोंके पद्योंसे विहारीके दोहोंका मुक़ाविला किया गया है, वे सब विहारीके पश्चात्वर्ती हैं। पर जहांतक मालूम है उन्होंने भी विहारीकी कविताको देखकर अपने यह पद्य नहीं लिखे, वे हिन्दी नहीं जानते थे। अचानक मज़मून लड़ गये है। अस्तु, इसके भी कुछ नमूने सुन लीजिए—

शेर—"उनके देखेसे जो आजाती है रौनक़ मुँहपर।
वो समझते हैं कि बीमारका हाल अच्छा है।" (ग़ालिब)

* * *

अर्थात् अपनी विरहजन्य कृशता या दयनीय दशा, प्रेमी अपने प्रेमपात्रपर किसी प्रकार ज़ाहिर नहीं कर सकता, क्योंकि विरहकी दशामें प्रेमपात्र उसके पास नहीं होता, और जब वह आता है तब हर्षातिरेकसे उसकी दशा बदल जाती है।

---

* तवारुद—एकही मज़मूनका अलग अलग दो कवियोंको सूझना।

इस शेरकी मौलाना हालीने बहुत प्रशंसा की है। "दीवाने-हालीके मुक़द्दमे" और "यादगारे-ग़ालिब" में इसे उद्धृत करके दिखलाया है कि यह शेर कविकी प्रतिभाशक्तिका सर्वोत्कृष्ट नमूना है। इसके शब्द और अर्थ दोनोंमें समानरूपसे प्रतिभाका प्रकाश झलकता है। इसके साथ एक शेर शेख़सादीका यह लिखा है—

"गुफ्ता बूदम् चु बियाई ग़मे-दिल बा तो बगोयम्,
चे बगोयम् के ग़म अज़ दिल बरवद चूं तो बिआई।"

❀ ❀ ❀

अर्थात् प्रेमी अपने प्रेमपात्रसे कहता है कि मैं कहता था कि जो तू आवे तो दिलका ग़म तुझसे कहूं, पर अब क्या कहूं, क्योंकि जब तू आता है तब दिलसे ग़म ही जाता रहता है। हाली कहते हैं कि इन दोनो शेरोंका अभिप्राय तो यही है कि किसी प्रकार अपना दुःख या सन्ताप प्रेमपात्रपर ज़ाहिर नहीं किया जासकता। पर सादीके बयानमें यह सन्देह बाक़ी रह जाता है कि सम्भव है, प्रेमपात्र अपने प्रेमीकी ज़ाहिरी बदहाली देखकर समझ जाय कि इसका मन सन्तप्त है। क्योंकि सादीके बयानसे सिर्फ़ यही मालूम होता है कि प्रेम-पात्रके आनेसे ग़म जाता रहता है, न यह कि ज़ाहिरी हालत भी बदल जाती है। पर मिर्ज़ा ग़ालिबके बयानमें यह सन्देह भी नहीं रहता। तथापि सादीके शेरको मिर्ज़ा के शेरपर नजीर देनी चाहिए, क्योंकि वह इससे पहला है।

यह तो हुई शेख़सादी और मिर्ज़ा ग़ालिबकी बात। अब देखिए ब्रजभाषाके गोवर्द्धनाचार्य कविराज बिहारीलाल इसी विषयको ग़ालिबसे पहले कैसे अच्छे और निराले ढंगसे कह गये हैं—

दोहा—"जो वाके तनकी दसा देख्यौ चाहत आप ।

तौ वलि नेकु विलोकिए चलि औचक चुपचाप" ३०८

अर्थात् जो आप उस विरहिणीके शरीरकी दशा देखना चाहते है तो मैं वलिहारी, ज़रा अचानक और चुपचाप चलकर देखिए । यदि आपके पहुंचनेकी उसे ख़बर होगयी तो उसकी कृशता और दुर्बलता दूर होकर उसे स्वस्थता प्राप्त होजायगी, फिर उसकी विरहजन्य अवस्थाका ठीक ठीक प्रत्यक्ष अनुभव आपको न होसकेगा, इसलिये मेरी प्रार्थना है कि अचानक और चुपचाप चलकर उसे देखिए, जिससे मेरी वातपर आपको विश्वास हो और उसपर दया आवे ।

हमारी रायमे यह दोहा उक्त दोनों शेरोंसे वहुत उत्कृष्ट है । इन शेरोंसे तो यही पाया जाता है कि प्रेमपात्रके पहुंचने या उसे देखनेपर ही प्रेमीकी हालत वदल जाती है । पर दोहेमें 'ओचक' 'चुपचाप' शब्दोंसे यह ध्वनि निकलती है कि यदि अचानक और चुपचाप न चले और किसी प्रकार तुम्हारे चल पड़नेकी ख़वर भी उस तक पहुच गयी तो तुम्हारे पहुंचनेसे पहले—इस शुभ सवादके पहुचतेही—उसकी दशा औरसे और होजायगी, जिससे आप उसे उस दयनीय अवस्थामें न देख सकेंगे जिसमे दिखाना अभीष्ट है ।

× × ×

दोहा—"दृग उरझत टूटत कुटुम जुरत चतुर चित प्रीति ।

परति गांठ दुरजन हिए दई नई यह रीति" २७३

❀ ❀ ❀

शेर—"सोहबत तुझे रक़ीवसे मैं अपने घरमें दाग़,
कीधर पतंग, शमअ कहाँ, अंजुमन कुजा ।
(सौदा)

❀ ❀ ❀

विहारीका यह दोहा "असङ्गति" अलङ्कारका अत्युत्कृष्ट उदाहरण है। वैसे तो यह असंगतिका उदाहरण है पर इसकी बाते बहुत ही सुसङ्गत है । स्वर्गीय पण्डित बालकृष्णजी भट्ट इस असङ्गतिकी भावभगीपर बेतरह लट्टू थे। जब विहारीकी चर्चा चलती थी वह इस दोहेको ज़रूर पढ़ते थे और कई बार पढ़ते थे। उनके "हिन्दीप्रदीप" मे न जाने यह कितनी बार उद्धृत हुआ है।

सौदाका यह शेर भी असंगतिके लिहाज़से इस दोहेसे मिलता जुलता है, भावमे भी कुछ साम्य है, पर सौदा इस मैदानमे तीन ही चक्कर लगाकर रहगये हैं। विहारीका एक चक्कर अधिक है, इनके चारो चक्कर एकही दायरेके अन्दर बड़े चमत्कारजनक है । सौदाकी असंगतिमें सहृदयताको पराङ्मुख करनेवाला 'रक़ीब' 'रसाभास' है, जो उर्दू कविताका स्वाभाविक दोष है, इसमे कविका दोष नहीं, कविताका स्वाभाविक दोष है, किसीका सही, दोष अवश्य है, इसमे सन्देह नहीं । "सौदा" का यह शेर अपने रंगमें निराला है, इसमे भी वर्णनवैचित्र्यका एक बांकपन है, पर विहारीको नहीं पहुचता । विहारीके यहां शब्दोंके जोड़ तोड़मे मुहावरोंका तमाशा देखने लायक़ है, फिर इस तोड़ मरोड़मे घटनाकी यथार्थता कितनी अक्षुण्ण है।

जो चीज़ उलझती है, वही टूटती है, जब उसे जोड़ते हैं तो गांठ भी उसीमे पड़ती है । ऐसा नहीं होता कि उलझे

तो देवदत्तका दुपट्टा और टूट जाय यज्ञदत्तकी घड़ीका फ़ीता। फिर जोड़ लगावें हरिदत्तकी अचकनके पर्देमें, और उससे गाँठ पड़ जाय विष्णुमित्रके पायजामेमें। पर इस 'असंगति' की बलिहारी है, उलझती आँख है तो टूटता कुटुम्ब है। और फिर इससे प्रीति कहां जाकर जुड़ती है, चतुरके चित्तमें। और उससे गांठ पड़ती है दुर्जनके हृदयमें! कैसी नयी रीति है।

बिहारीने असंगतिके और भी मज़मून बाँधे हैं जो अपनी अपनी जगह बहुत अच्छे हैं, पर इससे अच्छा वह भी नहीं बांध सके, फिर और किसीसे क्या आशा रक्खी जाय।

× × ×

दोहा—"वाहि लखे लोयन लगे कौन जुवति की जोति
जाके तनकी छांह ढिग जोन्ह छाह सी होति ५१८

❀ ❀ ❀

शेर—"शमारू कहना उसे "सौदा" है तारीकीए-अक़्
शमाका अक्स उसके आरिज़पर कलफ़ है माहका॥"
(सौदा)

❀ ❀ ❀

सौदा कहते हैं कि उसे (यारको) "शमारू" (दीपकके समान चमकते हुए चेहरेवाला) कहना अक़्का अन्धेर है। उसके कपोलोंपर दीपकका प्रतिबिम्ब ऐसा मालूम होता है जैसे चन्द्रमामें स्याहीका धब्बा। अच्छा यही सही, 'शमारू' न कहिए, आप उसे इस दशामें "माहरू" कह लीजिए। यह कोई ऐसी बात नहीं है जिसके लिये झगड़ा किया जाय, ऐसा तो कहते ही हैं, चन्द्रमुख और चन्द्रमुखी एक प्रसिद्ध बात है। हां, बिहारी जो कुछ कहते हैं वह ज़रूर चौंकानेवाली बात है। इन्हें चन्द्रसाम्यपर भी सन्तोष नहीं है, यह

कहते हैं—उसके मुखके प्रकाशकी कौन कहे शरीरकी "छाया" के सामने खुद चांदनी भी परछाईका अन्धेरा बनकर रह जाती है! फिर उसकी ज्योतिके सामने और किसी व्यक्तिका प्रकाश कैसे ठहर सकता है, आंखोमे क्योंकर समा सकता है। कैसे पसन्द आसकता है। इसका नाम है लोकोत्तर चमत्कार!

× × ×

दोहा—"डर न टरै नींद न परै, हरै न कालविपाक
छिन छाकै उछकै न फिरि. खरौ विषम छविछाक ॥"२७०॥

* * * *

शेर—मैमें वह बात कहां जो तेरे दीदारमें है,
जो गिरा फिर न कभी उसको सँभलते देखा ॥

* * *

इस दोहेकी मस्तीका आलम सबसे निराला है। सौन्दर्य-जन्य प्रेमका नशा बड़ा ही विचित्र है। और नशे डरसे उतर जाते है, पर यह किसी डरसे भी नहीं उतरता। और नशोंमे नींद आ जाती है, पर इसमें नींद हमेशाके लिये भाग जाती है। और नशोका असर कुछ समयके पश्चात् स्वयं उतर जाता है, पर यह जहां एक बार चढ़ा फिर क्षणभरके लिये भी नहीं उतरता। प्रेमके नशेमे और दूसरे नशोंसे यह बड़ा विलक्षण "व्यतिरेक" है।

उर्दूके कविने भी यही बात कही है, पर इस ख़ूबसूरतीसे कहां। वह गिर कर ही रह गये हैं, बयानकी मस्तीमे फिर न सँभल सके, और कुछ कहनेका होश ही ग़रीबको नहीं रहा!

× × ×

दोहा—"रह्यौ ऐंच अन्त न लह्यौ, अवधि-दुसासन वीर।
आली बाढ़त विरह ज्यौं, पांचाली कौ चीर।"१२५।

शेर—"जुदाईके ज़मानेकी सजन क्या ज्यादती कहिए,
कि इस ज़ालिमकी जो हमपर घड़ी गुज़री सो जुग बीतो"
(शाह आबरू)

❀ ❀ ❀

हर आन हमको तुझ बिन एक एक बरस हुई है।
क्या आगया ज़माना ऐ यार रफ्ता रफ्ता"।
(मीर तक़ी)

* * *

जुदाईके ज़मानेमें एक घड़ी जुगके बराबर बीतना, या एक आन (क्षण)का बरस बराबर मालूम होना भी कुछ बात है ज़रूर, पर इन कथनोंमें उतना चमत्कारजनक विस्तार नहीं है, जितना पांचाली (द्रौपदी)के चीर बढ़नेमें है, वर्ष और युगका अन्त हो सकता है, पर पाञ्चाली के चीरकी समाप्त असम्भव है। इस "पूर्णोपमा"में इतिहास पूर्णतया साक्षी है।

× × ×

दोहा—"कहत सबै बेंदी दिये, आंक दस गुनो होत।
तियलिलार बेंदी दियें, अगनित बढ़त उदोत॥"४४५॥

* * *

शेर—"ख़ाले-सियाह नाफ़े मुदव्वर के पास है।
जो हिन्दसा कि पांच था वह अब पचास है॥"

* * *

अङ्कगणितके मूल सिद्धान्तको किस मौलिकतासे प्रकट करके बात बढ़ायी है, एक 'बेंदी'से सौन्दर्य-अङ्कमें कितना अगणित—संख्यातीत—आधिक्य आगया है।

उर्दू कवि साधारण सिद्धान्तसे आगे नहीं बढ़ सका। वह गोल नाभिपर काले तिलका बिन्दु लगाकर, पांच के पचास ही

कर सका है। कोई नयी बात नहीं हुई, बच्चे भी जानते हैं कि "पांचके बिन्दा पंचास" होते हैं।

× × ×

दोहा—"जो न जुगति पिय मिलनकी, धूर मुकति मुँह दीन।
जो लहिये संग सजन तौ, धरक नरक हू की न॥"५४७॥

* * *

शेर—"मुझको दोज़ख़ रश्के-जन्नत है अगर मेरे लिये।
वाँ भी आतिश हो किसीके रुए-आतिशनाक से॥"

× × × (ज़ौक़)

मित्रका साथ हो तो नरक भी स्वर्ग है। प्रेमके उत्कर्षपर बिहारीकी यह उक्ति बड़े मार्केकी है, सख्यभावके भक्तिमार्गपर भी यह दूरसे बड़ा मनोहर प्रकाश डाल रही है। कितने ज़ोरदार शब्द हैं, प्रेमके आवेशमें मुक्तिके मुँहपर कैसी धूल डाली है! कहते हैं कि यदि वहां प्रियके मिलनेका कोई उपाय नहीं है, तो ऐसी मुक्तिके मुंहपर, परे धूल भी डालो। यदि सजनका संग प्राप्त है तो कोई परवा नहीं, नरक ही सही, जहां प्रियकी प्राप्ति है, तो वह नरक, नरक नहीं, परम स्वर्ग है।

ज़ौक़ भी इसी बातको अपने ढंगपर कह रहे हैं, वह किसीके रुए-आतिशनाक (अग्निके समान मुख)की लपटमें जल रहे हैं और कहरहे हैं कि दोज़ख़ (नरक)की आग भी यदि इसी आगसे प्रज्वलित हो, वहां भी यही आग दहक रही हो तो मेरे लिये दोज़ख़ भी जन्नत (स्वर्ग)से अच्छा है।

भावसाम्य होनेपर भी ज़ौक़ बिहारीको नहीं पहुंचते। बिहारीके कहनेका ढंग हृदयहारी और भाव बहुत गम्भीर है।

उर्दूके कवि प्रियमुखाग्निके पतंग बन कर जलनेमें मज़ा

समझते है, और चन्द्रमुखके चकोर हिन्दीकविमुखचन्द्रिका-पानमे आनन्द पाते है।

× × ×

दोहा—"देखौं जागति वैसियै, साँकरि लगी कपाट।
कित ह्वै आवत जात भजि, को जानै किहि बाट॥" ३४४॥

* * *

शेर—"खुलता नहीं दिल बन्द ही रहता है हमेशा,
क्या जाने कि आ जाता है तू इसमे किधर से।" (जौक़)

* * *

उर्दूके आशिक़ोंका दिल हमेशा ग़मसे बन्द रहता है, ज़ौक़ कहते हैं कि हमारा दिल तो हमेशा बन्द ही रहता है, फिर न जाने तू उसमे किधरसे आजाता है। शेर बेशक बहुत अच्छा है, सीधा और साफ़ है। तोभी बांकपन और जिद्दतसे खाली नहीं। पर, बन्द दिलमे उसका—उसके ध्यानका—आजाना, जिसकी चिन्तामें वह बन्द है, असम्भव नहीं है, स्वाभाविक है।

दोहेका भाव इससे कहीं चमत्कृत है, कहनेवालेकी तन्मयता, बेखुदी और भोलेपनके भावको किस सुन्दरतासे दिखलाया है। स्वप्नदशाके मिथ्यामिलनकी सत्यप्रतीति कैसे सच्चे रूपमे प्रकट की है कि बस सुनकर तबीअत फड़क जाती है, भावावेशकी सी दशा हो जाती है।

जागकर देखा तो किवाड़ बराबर बन्द है, साँकर वैसेही लगी हुई है, इस बन्द मकानमे वह (चित-चोर) किधर होकर घुस आता है और फिर किस रास्तेसे निकल भागता है, कौन जाने, किससे पूछे!

* * *

सोरठा—"मैं समझ्यो निरधार, यह जग काचौ काच सौ।
एकै रूप अपार, प्रतिबिम्बित लखियत जहां॥" ६६६॥

शेर—"जगमे आकर इधर उधर देखा,
तू ही आया नज़र जिधर देखा।" (मीर दर्द)

× × ×

मीर दर्द उर्दूके एक पहुचेहुए सूफी शाइर थे। वह अपने अनुभवकी जो कुछ बात ऊपरके शेरमे कहते है, उसमे सचाई ज़रूर है, उन्होने ऐसा ही देखा होगा। पर और लोग इस बातको कैसे समझे, संसारमे तो ये अनेक पदार्थ दिखलायी दे रहे है।

बिहारीने इस तत्त्वको वेदान्तके "प्रतिबिम्बवाद" के आधार-पर काचकी उपमा देकर हृदयङ्गम प्रकारसे समझा दिया है, वह कहते है कि हमने अच्छी तरह—अन्वयव्यतिरेक द्वारा निर्णय करके-समझ लिया है, (तुम भी समझ लो) यह संसार काचके शीशेकी तरह कच्चा—क्षणभङ्गुर—है, प्रतिबिम्बग्राही होनेसे इसमे वही एक ब्रह्म अपाररूपसे प्रतिबिम्बित हुआ दीख रहा है। यह सब उसीका 'विराट्रूप' है जो देख रहे हो। "सांचोकोन्यो डारयो ताते सांचो स्यो निहारयतु" (कृष्णकवि) ❀

× + ×

दोहा—"भूषन-भार सँभारिहै, क्यों यह तन सुकुमार।
सूधे पाय न धर परत, सोभा ही के भार॥"५३०॥

— — —

नाज़ चाहता है कि जेवरसे हो तज़ईने-जमाल।
नाज़ुकी कहती है सुर्मा भी कहीं बार न हो॥ (अकबर)

❀ सुप्रसिद्ध सूफी कवि सूर्यनारायण 'मेहर' ने इस भावको यों अभिव्यक्त किया है —

तू है निगार-ख़ाना आईना ख़ाना दुनिया,
हर दिल मे हो रहा है क्या [illegible] ।

यों नज़ाकतसे गरां सुर्मा है चश्मे-यारको।
जिस तरह हो रात भारी मर्दुमे-बीमारको॥

(नासिख़)

❀ ❀ ❀

गोयन्द कि शब बरसरे-बीमार गरानस्त।
गर सुर्मा बचश्मे-तो गरानस्त अज़ानस्त॥

(नासरअली)

❀ ❀ ❀

नासरअली और नासिख़के शेर बिलकुल मिलते जुलते है. आज़ादके शब्दोंमें नासिख़ने "फ़ारसीकी मख़लूक़को तनासुख़ देकर उर्दूकी ज़िन्दगी दे दी है" फ़ारसी शेरका अपने शब्दोंमें सिर्फ़ उल्था कर दिया है। फारसीके कवि माशूक़की मस्त आँखको 'चश्मे-बीमार' बाँधा करते है, यह उनका एक कविसमयसिद्ध सा भाव है। कवि कहता है कि तेरी आंख-पर जो सुर्मा (अंजन) भारी मालूम होता है वह ठीक ही है, बीमारके सिरपर रात भारी गुज़रती ही है। सुर्मे और रातमें साम्य है, दोनो स्याह हैं, आंख बीमार है ही। सो कविको यह मज़मून मिल गया। पर इसमें कुछ ऐसा निराला-पन या चमत्कार नहीं है, सब अङ्गोंमे स्वभावसे ही सुकोमल और इसपर बीमार आंख, सुर्मेके भारको न सह सके तो ताज्जुब क्या है। अकबर साहबने इस मज़मूनमें एक जिद्दत पैदा करके बेशक जान डाल दी है। उन्होंने अपने शेरमें केवल बीमार या तन्दुरुस्त आंखके लिये ही नही, सारे शरीरके लिये सुर्मेका भार असह्य ठहराया है। क्या खूब कहा है "नाज़ुकी कहती है सुर्मा भी कहीं बार न हो"—वाह रे नाज़ुकी! तेरी नज़ाकत!

अब ज़रा विहारीकी नाज़ुकख्याली मुलाहज़ा फ़र्माइए, सुर्मेका आख़िर कुछ तो वजूद है, इसकी थोड़ी मिक़दारमे भी कुछ न कुछ भार—गुरुता—ज़रूर है, नाज़ुकी, (सौकुमार्य) उसे न सँभाल सके तो आश्चर्यकी बात नहीं,—पर विहारीकी सुकुमारी नायिकाके तनकी सुकुमारतामें हद दर्जेकी नज़ाकत है, जो शोभाके भारसे ही लची जाती है, ज़मीनपर सीधे पांव नही पड़ते ! फिर भूषणोंके भार सँभाल सकनेकी तो बात ही क्या है !

मुन्शी देवीप्रसाद 'प्रीतम' ने विहारीके इसी दोहेका क्या अच्छा अनुवाद किया है –

"सँभाले बारे-ज़ेवर क्या तेरा नाज़ुक बदन प्यारी !
कजी रफ्तारकी कहती है बारे-हुस्न है भारी ॥"

× × ×

दोहा—"पहिर न भूषन कनकके, कहि आवतु इहि हेतु ।
दर्पनके से मोरचे, देह दिखाई देत ॥"५२६॥

* * *

नहीं मोहताज जेवरका जिसे खूबी खुदा देवे,
कि आख़िर बदनुमा लगता है देखो चांदको गहना ॥
(आवरू)

ऊपरके शेरमे उर्दू कविने 'गहना' शब्दके श्लेषके आधार-पर एक बात निकाली है, पर अच्छी तरह बयान नहीं हो सकी, 'मोहताज न होने' और 'बदनुमा लगने' मे बहुत फ़रक़ है । विहारीके दोहेमे यह मज़मून बहुत खूबसूरतीके साथ बंधा है । सोनेके भूषण पहननेका निषेध किफ़ायतके ख्यालसे या किसी और विचारसे नहीं किया जाता, बल्कि सौन्दर्यरक्षाकी

दृष्टिसे। दर्पणके समान स्वच्छ शरीरपर भूषण कुछ ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे आईनेपर मोरचा, ज़ंग।

आजकलके 'भूषणविरोधी' समाजसुधारक, बिहारीके इस दोहेके आधारपर आन्दोलन करें तो उन्हें अच्छी सफलता प्राप्त हो सकती है! अर्थशास्त्रकी दुहाईका असर भूषणाभिलाषिणी ललनाओंपर नहीं हो सकता, पर कविताका यह जादू बेशक चल सकता है!

× × ×

दोहा—"*लिखन बैठि जाकी सबिहि, गहि गहि गरब गरूर।*
भये न केते जगतके, चतुर चितेरे कूर॥"५३४॥

❀ ❀ ❀

शेर—"शक्ल तो देखो मुसव्विर खींचेगा तसवीरे-यार,
आपही तसवीर उसको देखकर हो जायगा।"
(ज़ौक़)

❀ ❀ ❀

"न हो महसूस जो शै किस तरह नक्शेमें ठीक उतरे।
शबीहे-यार खिंचवाई कमर बिगड़ी दहन बिगड़ा॥"
(मसहफ़ी)

❀ ❀ ❀

बिहारीके उक्त दोहेमें और इन शेरोंमें कुछ भावसाम्यकी छटा है। ज़ौक़को तो आशा ही नहीं है कि मुसव्विर यारकी तस्वीर खींच सकेगा, उनका ख़्याल है कि मुसव्विर यारको देखकर खुद तस्वीर बन जायगा। ज़ौक़के मज़मूनमें मुहावरेका ज़ोर है, किसी अदृष्टपूर्व आश्चर्यजनक पदार्थको देखकर हक्का बक्का हो जानेको—स्तब्ध भावकी स्थितिको—'तस्वीर बन जाना' या 'बुत बन जाना' बोलते हैं।

मसहफ़ीने 'शबीहे-यार' खिंचवायी थी, पर नक्शा ठीक नहीं उतरा, तस्वीरमें मुँह और कमर बिगड़ गयी, पर इसमें वह मुसव्विर (चित्रकार)का दोष नहीं बतलाते । उर्दू फ़ारसी वालोंके यार (माशूक़)के मुँह और कमर होती ही नही, जो चीज है ही नही, नज़र ही नहीं आती, उसकी तस्वीर क्या ख़ाक खिंचे !

ज़ौक़ने तो मुसव्विरको तस्वीर खींचनेका मौक़ा ही नहीं दिया, मसहफ़ीने एकबार तस्वीर खिंचवायी थी सो उसकी कमर और मुँहका नक्शा बिगड़ गया ।

बिहारी कहते है कि एक वार नही, अनेक वार, और एक नही संसार भरके अनेक, साधारण नहीं चतुर, चितेरे—जिन्हें अपनी चित्रकेलापर गर्व था—दावेके साथ सबी—शबीह खींचने बैठे. पर चित्रकार बेवक़ूफ़ बनकर—हारकर—बैठ रहे । चित्र नही खिंच सका, पर नही खिंच सका ।

बिहारीके दोहेके सामने ये दोनो शेर दोपहरके दीपक है ।

× × ×

चित्र क्यों न बन सका ?

उर्दू कवियोंने तसवीरे-यार के न खिंच सकनेका सबब साफ़ साफ़ बतला दिया है, पर बिहारीलाल इस बारेमे चुप हैं, उन्होंने चतुर चितेरोंके 'कूर' कहलाकर रह जानेका—चित्र न बन सकनेका—कोई कारण नही कहा, बिहारीलालके कारण-निर्देश न करनेमे कुछ रहस्य है । इस विषयमें उनका चुप रहना बहुत ही उचित हुआ है, उन्होंने यहां बड़ी मार्मिकता प्रकट की है । जिस काममे जगतके कितने ही चतुर चित्रकार बेवकूफ़

साबित हो चुके हैं, उसका कारण, शब्दचित्र द्वारा प्रकट करना भी कुछ वैसी ही बात होती! कारण कोई बहुत ही गूढ़ है। कितने ही चित्रकारोंके बेवकूफ़ बननेमे कारण भी कितने ही हो सकते है, उन सबके उल्लेखकी गुंजायश छोटेसे दोहेमें कहां? एकाधका निर्देश करना, कारणबाहुल्यके महत्त्वको घटाना है, हम समझते है यही समझकर कारणान्वेषणका कार्य कविने दूसरे लोगोंकी समझ बूझपर छोड़ दिया है।

कुछ प्राचीन टीकाकारोंने अपनी अपनी समझके अनुसार, चित्र न बन सकनेके भिन्न भिन्न कारण समझाये हैं, इसके कुछ नमूने देखिये—कृष्ण कविने इस दोहेपर अपने कवित्तके तिलकमें कहा है—

"यह नायिकाकी निकाई सखी नायक सो कहती है कि वाहि देखे "सात्त्विक भाव" होत है, याने चितेरे पर क्योंऊ लिखत बनै नाहीं।"

"... काहू पै न बन्यो वाके चित्रको बनाइबो"—

(१) सात्त्विकभावका आविर्भाव भी चित्र न बन सकनेका कई प्रकारसे एक कारण हो सकता है—

नायिकाका अलौकिक रूप लावण्य देखकर किसी चित्रकार-को सात्त्विक "स्तम्भ" होगया तो हाथही काम नहीं करता। किसीको "प्रस्वेद" होगया तो उसने चित्रकारीका रंग ही न जमने दिया। किसीको "कम्प" होगया तो चित्ररेखाएँ तिरछी टेढ़ी होकर रह गयी। किसीको "आंसू" (बाष्प) उमड़ आये तो कुछ सूझता ही नहीं, नज़र ही नहीं जमती। चित्रलेखनमें इस प्रकार सात्त्विक भावके बाधक होनेका प्रमाण भवभूतिने माधव

की दशामें दिखलाया है। माधव अपनी प्रिया मालतीका चित्र लिखने बैठा है, पर नहीं लिख सकता, बेचारा बड़े 'विषाद'से कहता है—

" वारं वारं तिरयति दृशावुद्गतो वाष्पपूर-
स्तत्संकल्पोपहितजडिम स्तम्भमभ्येति गात्रम्।
सद्यः स्विद्यन्नयमविरतोत्कम्पलोलाङ्गुलीकः
पाणिर्लेखाविधिषु नितरां वर्तते किं करोमि॥"

❀ ❀ ❀

अर्थात् वार वार उमड़े हुए आंसुओंका प्रवाह आंखोंपर पर्दा डाले हुए है, मालतीविषयक संकल्पसे शरीरमें जड़ता आकर 'स्तम्भ' हो रहा है, चित्र लिखनेमें इस हाथकी यह हालत है कि पसीनेमें तर है, उँगलियां निरन्तर कांप रही है। क्या करूं, कैसे चित्र लिखूं!

× × × ×

(२) हरि कवि चित्र न बन सकनेका कारण " रूपकी अधिकाई " बतलाते है--अर्थात् रूप इतना अधिक है कि वह चित्रके सांचेमें किसी प्रकार नहीं समा सकता! यह भी हो सकता है. बड़े आदमी कहते हैं इसलिये इसे भी ठीक समझना चाहिए!

× × ×

(३) शृङ्गारसतसईकारने विहारीके इसी चोटीके दोहेकी छायापर –(अपनी समझसे शायद विहारीका भाव स्पष्ट करनेके लिये!) जो यह नीचेका दोहा लिखा है. इसमें भी इन चतुर चितेरोंकी चर्चा है, चित्र न खिंच सकनेका एक कारण स्पष्ट कर दिया गया है। इनके कहनेके ढंगसे मालूम होता है कि चित्र तो खिंचता है, पर उसमें उसकी "बांकी अदा" (हाव भावकी छटा) नहीं खिंचती।

दोहा—"लाख लाख खींचे सदा, चतुर चितेरे आय । *
पर वाकी बांकी अदा, नकु न खींची जाय ॥"८७॥
(शृङ्गारसतसई)

× × ×

(४) एक कारण यह भी बतलाया जाता है कि नायिका वयःसन्धिकी अवस्थामें है—रूप निरन्तर वर्धमानावस्थामें है वह प्रतिक्षण बढ़ रहा है, बराबर बदल रहा है, उसे एक हालतपर क़याम नहीं, चित्रकार, चित्र बनाकर अच्छी तरह दुरुस्त करके, उसे जब असलसे (नायिकासे) मिलाकर देखता है तो बिम्ब और प्रतिबिम्बमें बहुत भेद पाता है, चित्र बनाकर मिलान करने-तकके थोड़े समयमें ही—कुछ मिनटोंमें ही—कुछसे कुछ हालत हो जाती है, नक़शा ही बदल जाता है, चित्रकार बेचारा हक्का बक्का रह जाता है। पद्माकरने यही कहकर ऐसी किसी व्रजबाला के स्वरूप-वर्णनमें (अपनी) असमर्थता प्रकट की है—

"पल पलमें पलटन लगे, जाके अंग अनूप,
ऐसी इक व्रजबालको, कहि नहि सकत सरूप ।"

* * *

इस मतकी पुष्टि उर्दूके सर्वश्रेष्ठ वर्तमान महाकवि जनाब 'अकबर' भी करते हैं, फ़र्माते हैं—

---

* कुछ ऐसेही भाव उर्दूके नीचे लिखे शेर भी जाहिर करते हैं —

"तस्वीरमें उतरा न फरोगे रुखे—रोशन,
आंचमें कभी धूप को ढलते नहीं देखा ।" — नदर, बदायूनी।

"नाज़ुक है न खिंचवाऊंगा तस्वीर मैं उसकी
चेहरा न कहीं अक्स के बदले उतर आए ।" — अर्शद, देहलवी।

"क्या मुसव्विर यार की तस्वीरे क़ामत खींचते,
खिच न सकती उनसे वह गर ता क़यामत खींचते ।" — ज़फ़र।

"लहज़ा लहज़ा है तरक़्क़ी पै तेरा हुस्नोजमाल,
जिसको शक हो तुझे देखे तेरी तसवीरके साथ।"

(५) नायिकाकी नज़ाकत और नातवानी (सौकुमार्य और विरहदौर्बल्य)—भी चित्र न खिंच सकनेमें कारण हो सकता है। चित्रकार डरता है कि कहीं चित्रके साथ वह (नायिका) भी न खिंच जाय!

"नातवानी मेरी देखी तो मुसव्विरने कहा,
डर है तुम भी कहीं खिंच आओ न तसवीरके साथ॥"[१]

× × × × (अकबर)

(६) एक कारण यह भी हो सकता है, यदि सहृदय भावुक इसे पसन्द करें, नायिकाके प्रत्येक अङ्गका रूपमाधुर्य इतना आकर्षक है, कि जिस चित्रकारकी दृष्टि जिस अङ्गपर पहले पड़ी, बस वह वहीं चिपक कर रह गयी, फिर दूसरे अङ्ग-पर जा ही न सकी, और कुछ देख ही न सकी। इस प्रकार सर्वाङ्गके देखनेका अवसर किसी भी चित्रकारको न मिला, सब एक ही एक अङ्ग देखकर रह गये! इस दशामें सर्वाङ्ग सुन्दर चित्र बनता तो कैसे बनता?

यह बात एक पुराने प्राकृत कविकी कल्पना है

"जस्स जहँ विअ पढमं तिस्सा अङ्गम्मि णिवडिआ दिट्ठी।
तस्स तहिं चेअ ठिआ सव्वङ्गं केण वि ण दिट्ठम्॥"
(यस्य यत्रैव प्रथमं तस्या अङ्गे निपतिता दृष्टिः।
तस्य तत्रैव स्थिता सर्वाङ्गं केनापि न दृष्टम्॥ (गा० स० ३।३४)

× × × ×

१. इसी मज़मून पर ग़ालिब फ़रमाते हैं—
नक़्श को उसके मुसव्विर पर भी क्या क्या नाज़ हैं—
खींचता है जिस क़दर उतना ही खिंचता जाय है।

(७) चित्र कैसे बने, अवयवोंकी पृथक् पृथक् प्रतीति तो होती ही नहीं। उसके अलौकिक कान्तिवाले अङ्ग आपसमें इस प्रकार प्रतिबिम्बित हो रहे हैं—एककी आकृति दूसरेमें पड़ी इस तरह झलक रही है—कि यह हाथ है, यह मुख है, इत्यादि अवयव-विभागका पता ही नहीं चलता! कोई चतुर आवे तो, इस समस्याका निर्णय तो करे! फिर कहे कि चित्र क्यों नहीं बना। इस संस्कृत पद्यमें यही बात कही गयी है—

"अवयवेषु परस्परबिम्बिते-
ष्वतुलकान्तिषु राजति तत्तनोः।
अयमयं प्रविभाग इति स्फुटं
जगति निश्चिनुते चतुरोऽपि कः।"

× × × ×

(८) चित्र तो तब बन सके जब श्रीमती 'अङ्गना'का कोई अङ्ग दीख पड़े, वहाँ तो सौन्दर्यज्योतिके चाकचिक्यमें चित्रकार बेचारेको कुछ सूझता ही नहीं, आंखें ही चौंधिया गयीं। ज्योतिके परदेमे ज्योतिष्मान् पदार्थ छिपा हुआ है, ज्योति दीखती है, पर जिससे वह ज्योति निकल रही है, वह चीज़ नज़रसे ग़ायब है। (मूसाकी तजल्लीका सा नज़ारा है!)

"सुन्दरी [कीदृशी] सा भवत्येष विवेकः केन जायते।
प्रभामात्रं हि तरलं दृश्यते न तदाश्रयः।" (दण्डी)

× × × ×

(९) कोई चित्रकार अपनी निष्फलतापर स्वयं कह रहा है—

"जो नक़ाब उट्ठी मेरी आंखोंपै पर्दा पड़ गया।
कुछ न सूझा आलम उस पर्दानशींका देखकर॥"

× × × (मोमिन)

(१०) कोई नज़ारेकी ताव न लाकर कह रहा है—

"दिला! क्योंकर मैं उस रुख़सारे-रोशन के मुक़ाबिल हूं,

*जिसे ख़ुरशीदे-महशर देखकर कहता है मैं तिल हूं।"**

(अकबर)

\+ \+ \+

इत्यादि अनेक कारण चित्र न बन सकनेके हो सकते हैं।

---

* किसी चमकीले चेहरेको देखनेके लिये बेचैन अपने दिलसे कोई कहता है कि भाई! क्यों मजबूर करता है, मैं उस रुखसारे-रोशनके—प्रकाशमय मुखके—सामने कैसे जाऊं, उसपर किस तरह दृष्टि डालूं? उसपर—जिसे देखकर प्रलयकालका सूर्य कहता है—कि तेरे सामने मैं 'तिल'—कपोलपरका काला तिल—हूं! परले दर्जेकी अत्युक्ति है। परमार्थ पक्षमें ले जानेपर यह अत्युक्ति यथार्थतामें परिणत होकर और भी हृद्यंगम हो जाती है। गीताकी उक्तिसे भी कुछ बढ़ जाती है। उस परमज्योतिके सम्मुख प्रलयकालके सहस्रों सूर्य काले तिलसे भी काले हैं।

"दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्र युगपदुत्थिता।

यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः।" (गीता)

नवीन ज्योतिर्विज्ञानसे सिद्ध है कि सूर्य्यका पिण्ड वस्तुतः घोर काला है, जो ज्योतिर्मय प्रचण्डतापसे उत्तप्त वायव्यों और वाष्पोंके घने मेघसे आच्छादित है। ज्योतिका पर्दा पड़ा हुआ है, कहीं कहीं इन्हीं भास्वर बादलोंके फटनेसे गवाक्ष से बन जाते हैं जिन्हे ज्योतिषी सूर्य्यके धब्बे कहते हैं। इन्हीं झरोखोंसे सूर्य्यके वास्तविक पिण्डका कभी कभी दर्शन हो जाता है। कोई कोई नन्हा धब्बा वस्तुतः ५००० मीलसे भी अधिक व्यास का अनुमित हुआ है। इसलिये अकबरकी काले तिलकी उपमा बहुत ही युक्तिसङ्गत और विज्ञान सम्मत है।

वास्तविक कारण क्या था, सो तो विहारी ही जानते होंगे, या उनके चतुर चितेरे।

"की है य वन्दिश ज़हने-रसाने, जिसने देखा हो वह जाने।"

(६) विहारी और हिन्दी कवि

विहारीके पूर्ववर्त्ती, समसामयिक और परवर्त्ती हिन्दी कवियोंकी कवितामें और विहारीकी कवितामें भी कहीं कहीं बहुत सादृश्य पाया जाता है, पर ऐसे स्थलोमें विहारी अपने पूर्ववर्त्ती कवियोंको प्रायः पीछे छोड़ गये हैं, समसामयिकोंसे आगे रहे है, और परवर्त्ती उन्हें नहीं पा सके हैं। इसके भी कुछ नमूने देखिऐ—

विहारी और केशव

दोहा—"नेकु हँसोहीं वानि तजि, लख्यौ परत मुख नीठि।
चौंका चमकनि चोधमें, परति चोधसी दीठि॥"४८३

❀ ❀ ❀

कवित्त—तैसीये जगति जोति सीस सीस-फूलनकी
चिलकत तिलक तरुनि ! तेरे भालको,
तैसीये दसनदुति दमकत 'केसोराय'
तैसोई लसत लाल कण्ठ कण्ठमालको।
तैसीये चमक चारु चिबुक कपोलनकी
झलकत तैसो नाक-मोती चलचालको,
हरे हरे हँसि नेक चतुर चपलनैन
चित चकचौंधे मेरे मदन गुपालको॥

* * *

केशवदासजीने अपने मदनगोपालके चित्तकी चकाचौंधके लिये इतनी चमकीली चीज़ें एक जगह जमा कर दी है कि उनकी मौजूदगीमे चकाचौंध न हो तो ताअज्जुब है। सिरपर जगमगाता सीसफूल, माथेपर चमकता तिलक, दांतोकी चमक, कण्ठमे लाल-रत्नोका कण्ठा, नाकमे हिलता हुआ आबदार मोती, फिर चिबुक और कपोलकी दमक, उसपर चपलनैनीका ज़ोर ज़ोरसे हॅसना, इतनेपर भी चकाचौंध न हो, तो कब हो? यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं हुई।

पर विहारीके यहां कमाल है, नायिकाके हॅसनेमे जो ज़रा दांतोका चौका खुलता है तो उसीके प्रकाशसे देखनेवालेकी आंखोमे ऐसी चकाचौंध छा जाती है, कि मुॅह मुश्किलसे नज़र आता है। आंखोके सामने जब बिजली कौंद जाती है तो सामने की चीज़ नज़र नहीं आती! इस अकेली दशनप्रभाके सामने केशवदासकी इधर उधरसे जुटायी हुई सारी चमकीली चीज़ें मात है!

× × ×

दोहा—चिर जीवौ जोरी जुरं. क्यो न सनेह गंभीर
को घटि ये वृषभानुजा, पे हलधरके वीर २२६

❀ ❀ ❀

कवित्त—अनराने औठपाय रावरे गने न जाहि
वेऊ आहि तमकि करैया अतिमान की,
तुम जोई सोई कहो वेऊ जोई सोई सुनें
तुम जीभ पातरे वे पातरी हैं .कान की।
कैसे केसोराय काहि बरजौं मनाऊँ काहि
आपने सयाँ धौं कौन सुनत सयान की,

वास्तविक कारण क्या था, सो तो विहारी ही जानते होंगे, या उनके चतुर चितेरे।

"की है य वन्दिश ज़हने-रसानं. जिसने देखा हो वह जानें।"

(६) *विहारी और हिन्दी कवि*

विहारीके पूर्ववर्त्ती, समसामयिक और परवर्त्ती हिन्दी कवियोंकी कवितामें और विहारीकी कवितामें भी कहीं कहीं बहुत सादृश्य पाया जाता है, पर ऐसे स्थलोंमे विहारी अपने पूर्ववर्त्ती कवियोंको प्रायः पीछे छोड़ गये हैं, समसामयिकोंसे आगे रहे है, और परवर्त्ती उन्हें नहीं पा सके हैं। इसके भी कुछ नमूने देखिऐ—

विहारी और केशव

दोहा—"नेकु हँसोहीं वानि तजि, लख्यौ परत मुख नीठि।
चौंका चमकनि चौंधमें. परति चोंधसी दीठि॥"४८३

❀ ❀ ❀

कवित्त—तैसीये जगति जोति सीस सीस-फूलनकी
चिलकत तिलक तरुनि! तेरे भालको,
तैसीये दसनदुति दमकत 'केसोराय'
तैसोई लसत लाल कण्ठ कण्ठमालको।
तैसीये चमक चारु चिबुक कपोलनकी
झलकत तैसो नाक-मोती चलचालको,
हरे हरे हँसि नैक चतुर चपलनैन
चित चकचौंधे मेरे मदन गुपालको॥

* * *

केशवदासजीने अपने मदनगोपालके चित्तकी चकाचौंधके लिये इतनी चमकीली चीज़े एक जगह जमा कर दी है कि उनकी मौजूदगीमे चकाचौंध न हो तो ताअजुब है। सिरपर जगमगाता सीसफूल, माथेपर चमकता तिलक, दांतोंकी चमक, कण्ठमे लाल-रत्नोका कण्ठा. नाकमें हिलता हुआ आवदार मोती, फिर चिबुक और कपोलकी दमक, उसपर चपलनैनीका ज़ोर ज़ोरसे हॅसना, इतनेपर भी चकाचौंध न हो, तो कब हो? यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं हुई।

पर विहारीके यहां कमाल है, नायिकाके हॅसनेमे जो ज़रा दांतोंका चौका खुलता है तो उसीके प्रकाशसे देखनेवालेकी आंखोंमे ऐसी चकाचौंध छा जाती है, कि मुॅह मुश्किलसे नज़र आता है। आंखोके सामने जब बिजली कौंद जाती है तो सामने की चीज़ नज़र नही आती! इस अकेली दशनप्रभाके सामने केशवदासकी इधर उधरसे जुटायी हुई सारी चमकीली चीज़ें मात है!

× × ×

दोहा—चिर जीवौ जोरी जुरै. क्यों न सनेह गँभीर

को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधरके बीर २२६

❀ ❀ ❀

कवित्त—अनगने औठपाय रावरे गने न जाहि
बेऊ आहि तमकि करैया अतिमान की,
तुम जोई सोई कहो वेऊ जोई सोई सुनें
तुम जीभ पातरे वे पातरी है कान की।
कैसे केसोराय काहि वरजौं मनाऊँ काहि
आपने सयाँ धौं कौन सुनत सयान की,

कोऊ वड़वानलकी ह्वै है सोई ऐहै बीच
तुम वासुदेव वे हैं वेटी वृषभान की ॥

❀ ❀ ❀

केशवदासकी मानापनोदनिपुणा सखी नायक नायिकाके अनगिने औठपायों। और आये दिनके प्रणयकोपसे तंग आ गयी है। नायक जीभका पतला है—मौक़े वेमौक़े कहनी अनकहनी कुछ ही वात, हर किसीके आगे कह बैठना है—उधर नायिका कानकी पतली—कानोंकी कच्ची—है जो किसी पिशुनसे लाग लगावकी वात सुनी उसेही सच मानकर खिंच वैठी। ऐसी दशामें सखी वेचारी क्या करे, किसे वरजे और किसे मनावे, दोनों अपनी वुद्धिमत्ताके सामने किसीको नहीं वदते, किसीकी नहीं सुनते, क्यो सुनें? कोई किसीसे कम है? दोनों ही वड़े वापकी औलाद हैं—वरावरका जोड़ है—यह हैं 'वासुदेव' तो वह हैं, 'वेटी वृषभान' की।

"किसीसे क्यों दवें हम साहवे-तेग़ोसिनाँ ‡ होकर"

विहारीकी सखीका परिहास वड़ाही ला-जवाव है, रसिक मोहन सुनकर फड़क ही गये होंगे! इससे अच्छा, साफ़, सच्चा, सीधा और दिलमें गुदगुदी करनेवाला मीठा मज़ाक़ साहित्य-संसारमें शायद ही हो।

'वृषभानुजा' और 'हलधरके वीर'में जो शब्दश्लेषमूलक ध्वनि है वह वहुत ही मधुर है, सभङ्ग और अभङ्ग श्लेषका अत्युत्तम उदाहरण है। श्लेषमें कुछ न कुछ अर्थकी खींचतान रहती है, पर यहां वह वात नहीं, वहुत वेसाख्तगी है।

। औठपाय=चञ्चलता-उत्पात—शरारत। अवतक इसी अर्थमें बोला जाताहै।

‡ साहिवे तेग़ोसिनाँ—तलवार और भाले वाले (शस्त्रधारी)

वृषभानुजा–वृषभानुकी पुत्री (राधा) और वृषभ–अनुजा, बैलकी छोटी बहिन । हलधरके वीर–बलभद्रके भाई और हल-धर–बैलके भाई । पहला सभङ्ग और दूसरा अभङ्ग श्लेष है । शब्दश्लेषमूलक परिहासध्वनि कितनी मजेदार है !

इन शब्दोंसे इस प्रकारकी परिहासध्वनि निकालने-वालोंके विषयमे कोई भगवद्भक्त टीकाकार कहते हैं–"कोऊ अज्ञानी यामे गाय अरु बैलको अर्थ काढ़तु हैं"—ठीक है, पर साहित्यमार्गमें यह अज्ञान अनिवार्य है, कवि लोग मज़ाक़में किसीका लिहाज़ नहीं करते, वह ज्ञानगुदड़ीको एक ओर फेककर सब कुछ कह गुज़रते हैं। फिर यहां ज्ञानमार्गानुसार सीधा साधा अर्थ करनेमें तो कुछ भी चमत्कार नहीं रहता। सतसई कुछ राधाकृष्णकी वंशावलिकी पोथी तो नहीं है, जो सहृदय उसमें इतनाही पढ़कर सन्तुष्ट हो जायँ कि राधाके पिताका नाम वृषभानु था और कृष्णके भाई बलदाऊजी थे !

* * ❀

दोहा—वे ठाढ़े उमदा [डा] त उत. जल न बुझे बडवागि
जाही सौं लग्यौ हियो. ताही के उर लागि ८३

× × ×

कवित्त–मेरो मुँह चूमे तेरी पूजि साध चूमिवेकी
चाटे ओस अबु क्यो सिरात प्यास डाढ़े हैं,
छोटे कर मेरे .कहा छ्वावति छबीली छाती
छ्वावो जाके छ्वाइबे को अभिलाष बाढ़े हैं।
खेलन जो आई हो तौ खेलो जैसे खेलियतु
'केसोराय' की सौं तै ये कौन खेल काढ़े हैं,
फूल फूल भेटति है मोहि कहा मेरी भटू
भेटे किन जाय वे जु भेटिबे को ठाढ़े हैं ॥

× × ×

केशवदासजीका यह विस्तृत वर्णन अपने ढंगमें बहुत अच्छा है, खूब साफ़ है, एक एक बातको खूब तफ़सीलवार समझाकर कहा है, इतनेपर भी बन्धशैथिल्य नहीं होने पाया। केशवदासजीकी कवितामें ऐसा प्रसाद गुण बहुत कम है, कोई न कोई कड़ी गांठ रहती ही है, पर इसमे ऐसा नहीं है। खूब घुला हुआ बयान है।

विस्तृत व्याख्यानको इस प्रकार संक्षिप्त करके कहना कि मतलबकी कोई बात न छूटने पावे और सुननेवाला समझ जाय, उसपर असर हो, कथनशैलीकी यह कला कुछ कम कठिन नहीं है, बिहारी इस बातके उस्ताद हैं। देखिये इस तफ़सीलको कितना मुख्तसिर किया है, फिर भी ज़ोरे-कलाम क़ायम है, कम नहीं हुआ, केशवदास कहते हैं 'ओस चाटे प्यास नहीं जाती, बिहारी कहते हैं जलसे-समुद्रजलसे—बड़वानलकी आग नहीं बुझती, प्रत्युत और बढ़ती है—(यह आग घनश्यामसे ही बुझेगी)—कितना ज़बरदस्त दृष्टान्त है, ओसकी इसके सामने क्या बिसात है! 'वे ठाढे उमड़ात उत' में कितना उम्दा भाव उमड़ रहा है! "जाही सौं लाग्यौ हियौ, ताहीके उर लाग" क्या पतेकी कही है, जिससे मन लगा है उसीकी छातीसे जाकर लग।

बिहारी और सुन्दर

दोहा—कहा लड़ैते दृग करे, परे लाल बेहाल

कहु मुरली कहु पीतपट, कहूं मुकुट बनमाल २१७

× × ×

कवित्त—कहूं वनमाल कहूं गुञ्जनिकी माल कहूं
नन्द सखा ग्वाल ऐसे हास [ल] भूलि गये है,
कहूं मोरचन्द्रिका लकुट कहू पीत पट
मुरली मुकुट कहूं न्यारे डारि दये है।
कुण्डल अडोल कहूं 'सुन्दर' न बोलें बोल
लोचन अलोल मानो काहू हर लये हैं,
घूंघटकी ओट ह्वैके चितयो कि चोट करी
लालन तो लोट पोट तबहीतें भये है॥

❀ ❀ ❀

दोनो कवियोंने एकही प्रसंगका वर्णन किया है। कविताके दो भेद होते है 'समास' और 'व्यास'। थोड़ी बातको फैलाना—विस्तृत करके कहना—उतना कठिन नहीं है जितना, बहुतको (व्यासको) थोड़ेमें (समासमे) लाना। सुन्दरने अपने कवित्तमें जिस बातको खूब फैला कर कहा है बिहारीने उसे बड़ी उत्तमता-से खूब कस कर समासमें दिखाया है। सुन्दरजीकी भाषा अनुप्रास-पूर्ण होनेपर भी रचना शिथिल है।

दोनों जगह उपालम्भके बहाने विरहनिवेदनमें तात्पर्य है। सुन्दरने "घूँघटकी ओट ह्वैके चितयो कि चोट करी" इस वाक्यमें जो बात खोलकर कही है, वही बिहारीने 'लड़ैते' इस एक शब्द-द्वारा व्यक्त की है। बिहारीके यहां 'व्याजस्तुति' द्वारा नेत्रोंका सौन्दर्य—नीकी 'चितवन' का चमत्कारातिशय—व्यङ्ग्य है। सुन्दरजीके यहां वैसा नहीं। 'लड़ैते' का अर्थ है—'लाड़ला' (दुर्ललित)। लाड़ले लड़के अक्सर नटखट, ऊँटपाई या दङ्गई हो जाया करते हैं। 'लड़ैते' का दूसरा अर्थ लड़ैत (डकैत, लठैत की तरह) लड़ाकू या लड़ाका भी है। 'लड़ैत' लड़के भोले भाले

दोहा—कुटिल अलक छुटि परत मुख, बढ़िगो इतो उदोत
बंक बकारी देत ज्यौं, दाम रुपैया होत ४४२

* * *

सवैया

मानो भुजगिन कज चढ़ी मुख ऊपर आय रही अलके त्यौं,
कारी महासटकारी हैं सुन्दर भीजि रहीं मिलि सौंधनही सौं॥
लटकी लट वा लटकीलो ते और गई बढ़िकै छवि आनन की यौं,
आंकु बढ़ै दिये दूजी बिकारीके होत रुपैयन ते मुहरे ज्यौं॥

× × ×

सुन्दरजीके वर्णनकी 'उत्प्रेक्षा' मे मुख पर लटकी हुई दो लटोका उल्लेख स्पष्ट है। पर रुपयेसे मुहर बन जानेके साथ 'दूजी बिकारी' की सगति किसी तरह ठीक नही बैठती, यदि मुखके दोनो ओर दो लटे लटकी हुई माने तब तौ यह रूप)१) होगा, और यदि एकही ओर दो लटें लटकती मानी जायॅ तो १)) ऐसा होगा, पर इन दोनो सूरतोमे रुपयेसे मुहर नही बन सकेगी, एक आर दुहरी विकारी देनेसे १)) तोला समझा जाता है न कि मुहर, ब्रैकटकी तरह इधर उधर दो विकारी देनेसे (१) भी मुहर का बोध नही होता। सो सुन्दरजीकी 'दूजी बिकारी' की यह पहेली आजकल किसी तरह हल नही होती।

बिहारीकी 'बंक बिकारी' की उपमा बहुत ही बांकी है। शुष्क गणितज्ञ, सहृदय काव्यमर्मज्ञ, और विदग्ध रसिक, सब समानरूपसे इनकी सत्यताके साक्षी हैं।

दाम लिखनेकी पुरानी प्रणाली अबतक प्रचलित है, पहाड़ा है—

मूल्य उससे कहीं अधिक है। रुपयेसे मुहर बनानेकी अपेक्षा दामसे रुपया बनाना बहुत नफ़े का सौदा है। रुपये से मुहर या अशरफ़ी मूल्यमें केवल १६ गुना ही अधिक है, और दामसे रुपया एकदम १६ सौ गुना अधिक है! अन्तरं महदन्तरम्.

(१ दाम : १ रु० : : १ : १६००)

तोषजीने भी मुखचन्द्र पर लटकी हुई लटपर 'उपमा दे-कर' उत्प्रेक्षाकी दृष्टि डाली है, कहते हैं कि मदन-देवने आकाशचन्द्रमाके मुक़ाबले मे मुखचन्द्रपर 'साद' (सही) किया है, अर्थात् आकाशचन्द्र ग़लत हैं, मुखचन्द्रही सही चन्द्र हैं—

"बंक लगी लट एक कपोल यहै उपमा कवि तोष दियो है,
याद कियो वही चन्दहि मैन मनो टॅक * चन्दहि 'साद'
किया है।"

× × ×

दोहा—दृग थिरकौंहै अधखुले, देह थकौंहै ढार
मुरत सुखितसी देखियत, दुखित गरभ के भार ५४२

* * *

कवित्त—आवत न पानी पान आकुल विकल प्रान
गरभके जे निदान ते सबै लुकावने,
जेठानी सों कह्यो चहै सासु तन गई दीठि

तोलेपर यह दो बिकारी देनेकी रीति मुहरसे ली गयी हो, क्योंकि मुहर एक तोलेकी होती थी। जो कुछ हो, पर मुहर लिखने में आजकल दो बिकारी देनेकी रीति राजपूताने को छोड़कर सर्वत्र प्रचलित नहीं है इधर कई नये पुराने मुनीमोंसे पूछा गया सुन्दरजी की मुहर की दूजी बिकारीको किसी ने ठीक नहीं समझा † टॅक=टाँक लिखना सही करके।

कवित्त—काहे को दुरावति है हमहूँ भुरावति है
कौन कहलावति है झूठी सौंहैं खाति है,
लियो है चुराइ चित्त साहजहां दूलहको
सु तो यह बात सब नीके जानी जाति है।
देख तुही बैठि डीठ लालनकी हेरि फेरि
तियनि मे तोहिपर आइ थिर थाति है,
मन्त्रकी कटोरी जैसे चली चली डोलति है
चोरहीकी ठौर भले आइ ठहराति है॥

❀ ❀ ❀

सुन्दरजी अपने आश्रयदाता शाहजहां दूलह (शाहजहां बादशाह) की चितचोरीकी कैफ़ियत सुना रहे है, चोरका पता चलानेके लिये ऐसे टोटके—मन्त्रकी कटोरी चलाना इत्यादि—पहले किये जाते थे, अब भी कहीं कहीं पुराने ख्यालके लोग ऐसा करते है, बहुतसे आदमियोंको जिनपर चोरीका सन्देह होता है एक पंक्तिमे बिठाते है, 'मन्त्रकी कटोरी' चलाते हैं, वह चलती चलती जिसके पास जाकर ठहर जाय, वही चोर समझा जाता है। 'शाहजहां दूलह' की चितचोर बहुतसी स्त्रियोमे मिली बैठी है, 'दूलह' की दृष्टि मन्त्रकी कटोरीकी तरह उसी पर जाकर ठहरती है, सो चोरीके कमीशनमे पंच बनी हुई कोई सखी, चितचोरीका फ़ैसला सुना रही है कि तूही चोर है, तैने ही हमारे दूलहका चित्त चुराया है। यह फ़ैसला एक ख़ास अदालतका फ़ैसला है। बिहारीका वर्णन व्यापक है। मन्त्रकी कटोरीकी बात आजकलके शिक्षित चाहे न भी मानें, पर बिहारीके क़िबलेनुमाके सब क़ायल हैं।

× × ×

ध्वनि द्वारा स्वयं कह रहा है। प्रिय पास न होगा, दूर होगा, तभी पाती भेजेगा, इसकी भी ज़रूरत नही है कि वह इतनी दूर बैठा हो जिससे यथासमय सन्देसे न पहुच सकते हो, और तभी चिट्ठीका इस प्रकार आदर किया जाय। प्रियकी प्रेमपत्रिका कहीसे किसी दशामे आवे हरहालतमे वह इसी बरतावकी मुस्तहिक़ है कि हाथमे लेकर होठोसे चूमी जाय, सिर चढ़ायी जाय, छातीसे लगायी जाय, भुजाओसे भेटी जाय, आदरसे देखी जाय, उत्सुकतासे वांची जाय और एहतियातसे ग़ैरोकी नज़रसे बचानेको, लपेटकर, रखी जाय। आख़िर अन्तरङ्ग सखी द्वारा प्राप्त प्रियकी प्रेमपत्रिका है, कुछ डाक द्वारा पहुची 'समाचारपत्रिका' नही है। सेनापतिके 'कुशलपत्र' और बिहारीके 'प्रेमपत्रमे 'बहुत भेद है। बिहारीकी बन्दिश कितनी चुस्त है! पेचमे कसी हुई रुईकी गांठ है। इसके मुक़ाबलेमे सेनापतिका कवित्त ढीलमढाला फूला हुआ घासका गट्ठर।

तोप कविने भी पियकी पातीका वर्णन अपने ख़ास ढङ्गमे ख़ासा किया है—

कवित्त—"पढ़ि न सिराति पाती भूलि भूलि जाती
नेकु [देख] सखियां न पावे निज अँखियाँ दिये रहै,
रूसती रिसाती हँसि हँसि बतराती चूमि
चाहि मुसकाती प्रेम आसव पिये रहै।
कहै कवि तोप जिय जानि दुखकाती ताते
छाती की तबोज पिय-पाती को किये रहै,
नेकु न पत्याती दिन राती इहि भाति प्यारी
बिरह अपाती ताको कातीसी लिये रहै।"

× × ×

ध्वनि द्वारा स्वयं कह रहा है। प्रिय पास न होगा, दूर होगा, तभी पाती भेजेगा, इसकी भी ज़रूरत नही है कि वह इतनी दूर बैठा हो जिससे यथासमय सन्देसे न पहुच सकते हो, और तभी चिट्ठीका इस प्रकार आदर किया जाय। प्रियकी प्रेमपत्रिका कहींसे किसी दशामें आवे हरहालतमे वह इसी बरतावकी मुस्तहिक़ है कि हाथमे लेकर होठोंसे चूमी जाय, सिर चढ़ायी जाय, छातीसे लगायी जाय, भुजाओंसे भेटी जाय, आदरसे देखी जाय, उत्सुकतासे वांची जाय और एहतियातसे ग़ैरोंकी नज़रसे बचानेको, लपेटकर, रखी जाय। आख़िर अन्तरङ्ग सखी द्वारा प्राप्त प्रियकी प्रेमपत्रिका है, कुछ डाक द्वारा पहुची 'समाचारपत्रिका' नही है। सेनापतिके 'कुशलपत्र' और विहारीके 'प्रेमपत्र'मे बहुत भेद है। विहारीकी बन्दिश कितनी चुस्त है! पेचमे कसी हुई रुईकी गांठ है। इसके मुक़ाबलेमे सेनापतिका कवित्त ढीलमढाला फूला हुआ घासका गट्ठर।

तोष कविने भी पियकी पातीका वर्णन अपने ख़ास ढङ्गमे ख़ासा किया है—

कवित्त—"पढ़ि न सिराति पाती भूलि भूलि जाती
नेकु [देख] सखियां न पावे निज अँखियाँ दिये रहै,
रूसती रिसाती हँसि हँसि बतराती चूमि
चाहि मुसकाती प्रेम आसव पिये रहै।
कहै कवि तोष जिय जानि दुखकाती ताते
छाती की तबाज पिय-पाती को किये रहै,
नेकु न पत्याती दिन राती इहि भाति प्यारी
विरह अपाती ताको कातीसी लिये रहै।"

× × ×

ध्वनि द्वारा स्वयं कह रहा है। प्रिय पास न होगा, दूर होगा, तभी पाती भेजेगा, इसकी भी ज़रूरत नहीं है कि वह इतनी दूर बैठा हो जिससे यथासमय सन्देसे न पहुच सकते हों, और तभी चिट्ठीका इस प्रकार आदर किया जाय। प्रियकी प्रेमपत्रिका कहीसे किसी दशामे आवे हरहालतमे वह इसी बरतावकी मुस्तहिक़ है कि हाथमे लेकर होठोसे चूमी जाय, सिर चढ़ायी जाय, छातीसे लगायी जाय, भुजाओंसे भेटी जाय, आदरसे देखी जाय, उत्सुकतासे बांची जाय और एहतियातसे ग़ैरोंकी नज़रसे बचानेको, लपेटकर, रखी जाय। आख़िर अन्तरङ्ग सखी द्वारा प्राप्त प्रियकी प्रेमपत्रिका है, कुछ डाक द्वारा पहुची 'समाचारपत्रिका' नही है। सेनापतिके 'कुशलपत्र' और बिहारीके 'प्रेमपत्रमे 'बहुत भेद है। बिहारीकी बन्दिश कितनी चुस्त है! पेचमे कसी हुई रुईकी गांठ है। इसके मुक़ाबलेमे सेनापतिका कवित्त ढीलमढाला फूला हुआ घासका गट्ठर।

तोप कविने भी पियकी पातीका वर्णन अपने ख़ास ढङ्गमे ख़ासा किया है—

कवित्त—"पढ़ि न सिराति पाती भूलि भूलि जाती
नेकु [देख] सखियां न पावे निज अँखियाँ दिये रहै,
रूसती रिसाती हँसि हँसि बतराती चूमि
चाहि मुसकाती प्रेम आसव पिये रहै।
कहै कवि तोप जिय जानि दुखकाती ताते
छाती की तबोज पिय-पाती को किये रहै,
नेकु न पत्याती दिन राती इहि भांति प्यारी
बिरह अपाती ताको कातीसी लिये रहै।"

× × ×

विहारी और सेनापति

दोहा—कर लै चूमि चढ़ाय सिर, उर लगाय भुज भेंटि
लहि पाती पिय की लखनि, बाँचति धरति समेटि ४०५

* * *

कवित्त—नैन नीर बरसत देखिबे को तरसत
लागे कामसर सत पीर उर अति की,
पाये न संदेसे ताते अधिक अंदेसे बढ़े
सोचै सुकुमारि पै न कहै मन गति की।
नाही समै औचक ही काहू आनि चीठी दीनी
देखत ही 'सेनापति' पाई प्रीति रति की,
माथे लै चढ़ाई दोऊ दृगनि लगाई चूमि
छाती लपटाय राखी पाती प्रानपतिकी॥

* * *

सेनापतिजीने पाती पाने की भूमिका खूब बढ़ाकर बाँधी है। प्राणपतिका संदेसा न पानेसे सुकुमारी को अन्देशा (चिन्ता) बढ़ रहा था, उसकी आँखोंसे नीर बरसता था और देखने को जी तरसता था, इत्यादि, प्राणपतिके पत्र पानेपर इस प्रकारकी हर्षोत्पत्तिका कारण खूब खोलकर कह दिया है, जिससे देखनेवाला समझ जाय कि इस चिट्ठीको यह इतना महत्त्व क्यों दिया जा रहा है। माथे पर चढ़ाना, दोनों आंखोंसे लगाना, चूमकर छातीसे लिपटाना, यह सब क्यों होरहा है। बहुत दिनोंमें कालेकोसोंसे कुशलपत्र आया है इसलिये ऐसा हो रहा है।

पर विहारीलालने लम्बे उपाख्यानकी कुछ आवश्यकता नहीं समझी। यह सारी कथा "पियकी पाती" यह शब्द अपनी

ध्वनि द्वारा स्वयं कह रहा है। प्रिय पास न होगा, दूर होगा, तभी पाती भेजेगा, इसकी भी ज़रूरत नहीं है कि वह इतनी दूर बैठा हो जिससे यथासमय सन्देसे न पहुच सकते हो, और तभी चिट्ठीका इस प्रकार आदर किया जाय। प्रियकी प्रेमपत्रिका कहींसे किसी दशामे आवे हरहालतमे वह इसी बरतावकी मुस्तहिक़ है कि हाथमे लेकर होठोंसे चूमी जाय, सिर चढ़ायी जाय, छातीसे लगायी जाय, भुजाओंसे भेटी जाय, आदरसे देखी जाय, उत्सुकतासे बांची जाय और एहतियातसे ग़ैरोंकी नज़रसे बचानेको, लपेटकर, रखी जाय। आख़िर अन्तरङ्ग सखी द्वारा प्राप्त प्रियकी प्रेमपत्रिका है, कुछ डाक द्वारा पहुची 'समाचारपत्रिका' नही है। सेनापतिके 'कुशलपत्र' और विहारीके 'प्रेमपत्रमे' बहुत भेद है। विहारीकी बन्दिश कितनी चुस्त है! पेचमे कसी हुई रुईकी गांठ है। इसके मुक़ाबलेमे सेनापतिका कवित्त ढीलमढाला फूला हुआ घासका गट्ठर।

तोष कविने भी पियकी पातीका वर्णन अपने ख़ास ढङ्गमे ख़ासा किया है—

कवित्त—"पढ़ि न सिराति पाती भूलि भूलि जाती
नेकु [देख] सखियां न पावे निज अँखियाँ दिये रहै,
रूसता रिसाती हँसि हँसि बतराती चूमि
चाहि मुसकाती प्रेम आसव पिये रहै।
कहै कवि तोष जिय जानि दुखकाती ताते
छाती की तयोज पिय-पाती को किये रहै,
नेकु न पत्याती दिन राती इहि भांति प्यारी
विरह अघाती ताको कातीसी लिये रहै।"

× × ×

दोहा वाल छवीली तियनमै. वैठी आपु छिपाय
अगगट ही फानूससी. परगट होति लखाय ५२४

\+ + +

कवित्त—चन्दकी कलासी चपलासी निय सेनापति
वालमके वर [उर] बीज आनंदके वोति है,
जाके आगे कंचनमें रञ्चक न पैये द्युति
मानो मन मोती लाल माल आगे पोति है।
देखी प्रीति गाढ़ी ओढ़े तनसुख ठाढ़ी, जोति
जोवनकी वाढ़ी छिन छिन और होति है,
झलकत गोरी देह वसन झीनेमें मानो
फानुसके अन्दर दिपति दीप जोति है॥

\+ + +

सेनापतिजीने किसी चन्द्रकलासी चपलासी यौवनमदमाती युवतिको—जिसके आगे सुवर्णमें जरा भी द्युति नहीं है (चपलासी कहनेके बाद सुवर्णको घटानेकी कुछ आवश्यकता तो न रही थी)—तनसुखकी चादर या साड़ी उढ़ा कर खडी किया है। और इस स्थितिमें उसकी गोरी देहको झीने-महीन वस्त्रमेंसे इस प्रकार चमकती दिखलाया है मानो फ़ानूसमें दीपककी ज्योति झलक रही है ।

विहारीलालने इन सब चमकदार विशेषणोंका काम केवल 'छवीली' पदसे लिया है (छवीलीका प्रकाश चन्द्रकला या चपलासे कुछ कम है कि वह अपने प्रकाशका महत्त्व प्रकट करनेको इनका सहारा ढूंढे !) लज्जाशीला वालाको स्त्रियोंके समूहमें अच्छी तरह छिपाकर विठलाया है पर वह इतनेपर भी नहीं छिप सकी । वह देखो सबसे अलग फानूसकी तरह

साफ़ दिखायी दे रही है। ऊपर लटका हुआ अकेला 'हण्डा' चमकता दिखायी देता हो तो इसमें इतना चमत्कार नहीं है, जितना इसमें है कि बहुतसे लैम्पोंके बीचमें रखा हुआ, ऊपरसे किसी परदे या ढक्कनसे ढका हुआ होनेपर भी कोई फ़ानूस सबसे अलग दिखायी दे रहा हो, बहुत छिपानेपर भी न छिपता हो!

* * *

विहारी और तोपनिधि

दोहा—नभ-लाली चाली निसा, चटकाली धुनि कीन

रतिपाली आली अनत, आये बनमाली न १५२

* * *

सवैया

जोन्हतें छाली छपाकर भो छनमे छनदा अब चाहति चाली,
कूजि उठे चटकाली चहूँ दिसि फैल गयी नभ ऊपर लाली।
साली मनोज विथा उरमें निपटै निठुराई धरे बनमाली,
आली कहा कहिये कहि 'तोष' कहूं पिय प्रीति नई प्रतिपाली॥

* * *

तोषजीने विहारीके इसी दोहेके शब्द और अर्थको आगे पीछे करके अपने यहां रखदिया है। दोहेकी बन्दिशमें जो चुस्ती थी वह सवैयेमें आकर ढीली पड़ गयी है। दोहेके शब्दोंसे व्याकुलता टपकी पडती है—'नभ लाली' इस घबराहट भरी अधूरी बातमें जो भाव है, वह 'फैल गयी नभ ऊपर लाली' इस पूरे वाक्यमें नहीं है। 'चाली निसा' इस कथनमें "सागरको मेरे हाथसे लीजो कि चला मैं" की तरह जो व्याकुलता प्रतीत होती है वह "छनमें छनदा अब चाहति चाली" में

कहां है? "कूजि उठे चटकाली चहुदिसि" में मुहावरा बिगड़ गया। चिड़ियोंके लिए 'चहकना' और भौंरोंके लिए 'गुन्जारना' बोलते हैं, 'कूजना' नही कहते। "चटकाली धुनि कीन" के 'धुनि' पदसे दोनो बातें समझी जा सकती हैं। दोहा नूरके सांचेमें ढला हुआ है, एक मात्रा भरतीकी नहीं। फिर अर्थालंङ्कार और शब्दालंङ्कारका चमत्कार देखने योग्य है, वार वार पढ़नेको जी चाहता है।

× × ×

दोहा-हेरि हिंडोरें गगन ते, परी परी सी टूटि

धरी धाय पिय बीच ही, करी खरी रस लूटि ५४९

कवित्त-रावटी तिमहलेकी बैठी छविवारी वाल

देखति तमासो गुड़ि आलिनि लड़ायो है,

परि गयो नजर हरिननैनीजूके हरि

हरिहू के [ने] तिरछि कटाछहि चलायो है।

मैन सरवरी तरफरी गिरि परी ऐसी

बीच हरि धरी खरी लूटि रस पायो है,

सासु नन्द धाइ आई पाइ गहै कहै 'तोष'

आज व्रजराज घर ऊजरौ बसायो है॥

× × ×

यहां तोपजीको हिंडोरेसे सन्तोप नही हुआ, तिमहलेकी रावटीमे जा पहुचे हैं, पर कवित्तको दोहेसे ऊंचा नहीं पहुंचासके। कवित्तमे जो कुछ चमत्कार है वह दोहेके शब्दोंका ही है, पर वह कुछ बिखरसे गये हैं—सजावटमें अन्तर पड़गया है। इसके अतिरिक्त तोपजीके वर्णनमें कुछ अस्वाभाविकता सी आगयी है, रसकी लूट करायी है पर तिमहलेसे

गिरनेमे, सास ननद और धायके घवरानेमें, शृङ्गारमें भयानक रसकी मात्रा इतनी बढ़ गयी है कि वह (भयानक) 'संचारी' से * 'स्थायी' वन बैठा, महमानसे मालिक मकान वनगया ! विहारीके यहां यद्यपि हिंडोलेके आकाशसे परीकी तरह टूट कर पड़ी है परन्तु प्रियने दौड़कर इस सफ़ाईसे बीचमे ही धरकर—सॅभाल कर—रसकी लूट की है कि किसीको घवरानेका तनक भी अवसर नही दिया, देखनेवालोने समझा कि आसमानसे कोई परी टूटकर पड़ी है।

हिंडोरे-गगनका उज्ज्वल रूपक, 'परी परी सी टूट' की ऊँची उपमा और मनोहर यमक, 'हेरि हिंडोरे' 'धरी धाय' 'करी खरी' का श्रुतिमधुर अनुप्रास, जिसे देखिए वही निराला है। दोहे मे दशाविशेषका एक दर्शनीय स्वाभाविक चित्र खींच दिया है।

कोई "परीपैकर" नवेली हमजोली सहेलियो में मिली, वेधड़क मौजमें हिंडोलेपै पेंग वढ़ा रही थी, कि ऐसे मे अचानक "आ निकले उधर वह भी" उन्हे देखतेही लज्जा और संकोचसे कुछ इस जल्दीमे उसने हिंडोलेसे उतरना चाहा कि सॅभल न सकी, परीसी टूट पड़ी, पर उन हज़रतने कमाल फुरतीसे काम लिया—ज़मीनतक न पहुँचने दिया—बीचहीमे दबोच लिया।

यह गिरना जान बूझकर प्रेमपरीक्षा के लिये भी हो

* "भावो वापि रसो वापि, प्रवृत्तिर्वृत्तिरेव वा।
सर्वेषां समवेतानां, यस्य रूप भवेद् बहु।
स मन्तव्यो रसः स्थायी, शेषाः सञ्चारिणो मताः॥"
[भरतमुनि—नाट्यशास्त्र]

सकता है, और सात्त्विक भाव-स्तम्भ, वेपथु आदिके आधिक्यसे भी। कारण निगूढ़ है। इसपर "विभावकी व्यक्ति क्लिष्टता सो होत है" कहकर किसी टीकाकारने कटाक्ष किया है, रसदोष बतलाया है। तथा किसीने "स्वकीया परकीया दोउ भासत हैं" समझकर "रसाभास" कहा है। पर ऐसा नहीं है, इस छिपे भेदमें कुछ बड़ा चमत्कार है।

× × ×

दोहा—पिय बिछुरनको दुसह दुख, हरपि जात प्यौसाल
दुरजोधन लौं देखियत, तजत प्रान यह बाल २५

❀ ❀ ❀

दोहा—आये पिय परदेस ते, गये सौति के धाम।
हरप विषाद भयो भई, दुरजोधन सी वाम॥ (तोष)

❀ ❀ ❀

तोष यहाँ भी विहारीका अनुकरण करने चले हैं, पर निभ नहीं सके, सादृश्य यह कह कर रो दिया है—

"किसी की जब कोई तक़लीद करता है मै रोता हूं,
हॅसा गुलकी तरह ग़ुञ्चा जहाॅ उसका दहन बिगड़ा!"
(आतिश)

विहारीने जो उपमाका सामञ्जस्य दिखाया है—चूलसे चूल मिलाया है—वह तोपके यहां कहां! विहारीके दोहे में हर्ष और विपाद एककालावच्छेदेन विद्यमान हैं—"पिय विछुरन का दुसह दुख" और 'प्यौसाल गमनका हरप'—एक साथ मौजूद हैं। इससे मरणकालीन दुर्योधनकी समता पूरी तरह फ़िट होकर रह गयी है। इस सादृश्यमें तोपके होश ख़ता होगये हैं, इनकी वामको पियके परदेशसे, आनेका जब सुख था, तब "सौतके धाम" जानेका दुःख नहीं था, और जब सौतके

धाम चले गये तो अब आनेका सुख खरहेका सींग होगया, काफ़ूर हो गया। दोनो एक साथ नही रह सके, या उतनी अच्छी तरह नहीं रह सके जैसे कि विहारीके यहां। "भई दुरजोधनसी बाम" मे वह बात नहीं जो 'दुरजोधन लौं देखियत, तजत प्रान यह बाल" मे है। दुर्योधनके नाना प्रकारके चरित्रसे महाभारत भरा पडा है, हर्ष विषाद भी कई बार हो सकता है। इसलिये केवल इतनेहीसे उस दशाविशेषकी झटिति प्रतीति नही होती।

दुर्योधनको शाप था कि जब हर्ष शोक एक साथ होगा, तब प्राण निकलेंगे. भीमके गदाप्रहारसे व्याकुल दुर्योधन मुमूर्षुदशामे पड़े थे, प्राण नहीं निकलते थे, जब सौप्तिक वधमे अश्वत्थामा पाण्डवपुत्रोंके सिर काट कर लाये तो दूरसे देखकर दुर्योधनको हर्ष हुआ कि पाण्डवोंके सिर हैं, पर पाससे देखनेपर यह जान कर कि पाण्डवोंके नही, पाण्डवपुत्रोंके सिर है, शोक हुआ. इसी हर्षविषादकी सन्धि दशामे दुर्योधनने प्राण त्यागे

× × ×

दोहा—नई लगनि कुलकी सकुच, विकल भई अकुलाय
दुहूँ ओर ऐंची फिरै, फिरकी लौं दिन जाय २८८

* * *

दोहा - प्रीतमको हि[illegible] गति लिखे जात तेहि सग।
रही डोरी [illegible]ज्जाजकी, भई चंग के रंग ॥

(तोष)

* * *

विहारीकी 'फिरकी' [illegible] 'तोषने चंग' बनाकर उड़ाया है, (यद्यपि यह चंग भी विहारीसे ही लिया है—"चंग रंग भूपाल")

पर फिरकीकी उपमामे जितनी अनुरूपता है उतनी चंग (पतंग) मे नहीं है। 'नई लगन' ने व्याकुलताको खूब व्यक्त कर दिया है। "दुहूं ओर ऐंची फिरे, फिरकी लौं दिन जाय" वाक्य "नई लगन" "कुलकी सकुच" इन दोनों भावोंके द्वन्द्वयुद्धको तुल्यबलताका कैसा अच्छा द्योतक है, कितनी ज़बरदस्त कशमकश है, वह भी थोड़ी बहुत देरकी नहीं, दिन भरकी! पतङ्ग एक बार डोरीसे खिंच कर वहीं रह जाता है। ऊपर नही जा सकता, फड़फड़ाता भले ही रहे। फिरकी, बराबर दोनों ओर यकसां फिरती रहती है। इति विभावयन्तु-सहृदयाः।

× × ×

विहारी और पद्माकर

दोहा—भौंहनि त्रासति मुख नटति आँखिन सो लपटाति
ऐंचि छुरावति कर इँची आगे आवति जाति ४३

❀ ❀ ❀

दोहा—कर ऐंचत आवत इँची तिय आप हि पिय ओर।
झूठि हु रूसि रहै छिनक छुवत छराको छोर॥
(जगद्विनोद)

❀ ❀ ❀

पद्माकरकी कवितामे विहारीकी कविताका स्पष्ट अपहरण है। नीचेका दोहा ऊपरके दोहेका कुछ बदला हुआ रूप है। विहारीने बड़ी विदग्धतासे दशाविशेषका स्वाभाविक भावभरा पूरा चित्र अपने दोहेमे खींच कर रख दिया है। पद्माकरने 'कुट्टमित' की खींचतानमे डाल कर उसका रूप कुछ भद्दा कर दिया। पिछले पदमें—'छुवत छराको छोर' मे—बात खोल कर

मामला बिगाड़ दिया। बिहारीने यहांतक पहलू बचाया है कि, 'त्रासति' 'नटति' क्रियाओंके कर्त्ताकी प्रतीति 'इँची' इस लिङ्गविशिष्ट पदसे करायी है, 'तिय' 'पिय' की बात खोलकर नहीं कही। पद्माकरने 'तिय आपही पिय ओर' कहकर मामला बिल्कुल साफ़ कर दिया। बिहारीके क्रियापद बहुत अधिक मनोहर और चमत्कृत हैं, पद्माकरके यहां यह बात कहां!

× × ×

दोहा—कहा लेहुगे खेलमें तजो अटपटी बात
नेक हँसोहीं है भई भौंहे सौंहे खात ३७३

❀ ❀ ❀

दोहा—आनि आनि तिय नाम लै, तुमहिं बुलावत स्याम।
लेन चाह्यो नहिं नाह को, निज तियको जो नाम॥
(पद्माकर)

× × ×

पद्माकरके दोहेका मतलब है कि नायकके हरजाईपनसे नायिका खिजी और खिंची बैठी थी, सखीने बहुत समझा बुझाकर उसे मनाया है, नायककी ओरसे वकालत करके उसकी निर्दोषता सिद्ध की है, सन्धि कराकर दोनोंको मुश्किलसे मिलाया है कि बातो बातोमे उसी प्रतिनायिकाका नाम नायकके मुँहसे निकल गया, × उसके नामसे इसे पुकार बैठा जो इस झगड़ेकी जड़ थी। जिसके कारण मन-मुटाव हुआ था, चतुर सखीने देखा कि मामला फिर बिगड़ चला, उसने अपनी प्रत्युत्पन्नमतितासे बात सँभाली, नायिकाको बिगड़ती देख कहा कि और और स्त्रियोंका नाम लेकर

× संस्कृत साहित्यमें प्रेम पचड़ेकी इस भयानक भूलका परिभाषित नाम 'गोत्रस्खलन' है।

जो यह तुम्हें पुकारते हैं इसका कारण यह है कि सदाचारके नियमानुसार पतिको अपनी पत्नीका नाम नहीं लेना चाहिए। इसकी पुष्टिमें शायद उसने सदाचारके क़ानूनका यह विधिवाक्य भी पढ़ा हो!—

"आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च।
श्रेयस्कामो न गृह्णीयाज्ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः॥"

अर्थात् जो अपनी भलाई चाहे उसे चाहिए कि भूलकर भी अपना नाम, अपने गुरुका नाम, कंजूस-मक्खी चूंसका नाम, अपनी बड़ी सन्तान—जेठे लड़के—और स्त्रीका नाम न ले। विहारीलाल इस सदाचारके अस्वाभाविक बखेड़ेमे नहीं पड़े. उनकी सखीने बड़ी सफ़ाईसे इसे हँसीमे डाल कर टाल दिया। नायक वहका ही था, प्रतिनायिकाका नाम उसके मुंहसे निकला ही था, नायिकाका ध्यान उस ओर अभी अच्छी तरह जाने भी न पाया था कि उसने नायकको सावधान कर दिया. कि बस रहने दो, इस अटपटी बानको छोड़ो भी, इस खेलमे क्या लोगे? सपत्नीका नाम लेकर मेरी सखीको क्यो चिढ़ाते हो? तुम्हें तो हँसी मज़ाककी सूझी है, पर कहीं हँसीको सतभाव मान कर यह फिर बिगड़ बैठी तो मिन्नत ख़ुशामद करके मुझे फिर मनाना पड़ेगा, मुश्किलसे तो किसी तरह मनी हैं; सौगन्धें खाकर तुम्हारी निर्दोषता प्रमाणित की है तब कहीं इनकी ये रुखौही भौहें, हँसौहीं—टेढ़ी भौहें सीधी—हो पायी हैं। विहारी की सखीके इस कथनमे कितनी मार्मिकता, कितनी विदग्धता भरी है। किस अच्छे ढंगसे बातको निभाया है। नायिकाको ज़रूर यक़ीन आ गया होगा कि यह मुझे छेड़नेको हँसी कर रहे हैं।

× × ×

विहारी और घासीराम

दोहा—कोहरसी एड़ीनकी लाली देखि सुभाइ
पाय महावर देनकों आप भई वेपाय ५०९

❀ ❀ ❀

कवित्त—मन्द ही चॅपेते इन्द्रवधु के वरन होत
[मन्द होइ जात इन्द्रवधु की वरन दुति]
प्यारीके चरन नवनिन [नवनीत] हु ते नरमैं,
सहज ललाई वरनी न जात घा [का] सीराम
चुईसी परत कवि हू की मति भरमै।
एड़ी ठकुराइनकी नाइन गहत [छुअत] जवै
ईंगुरको [सु] रंग दौरि आवै करवर मैं,
दीयो है कि देवो है विचारै सोचै वार वार
[दैनो है कि दीनो है निहारै सुचै वार वार]
वावरीसी ह्वै रही महावरि लै कर मैं॥ (घासीराम)

× × ×

घासीराम (या काशीराम) का कवित्त इसी दोहेकी व्याख्या है, दोहेके 'आप भई वेपाय' मुहावरेमें जो किंकर्तव्यविमूढताका भाव व्यङ्ग्य है, वह कवित्तमें 'दीयो है कि देवो है विचारै सोचै वार वार" इसमें 'वाच्य' हो गया है। 'कोहरसी-लाली' और "ईंगुरसो रंग" एक ही वात है।

'मन्द ही चॅपेते इन्द्रवधुके वरन होत' ने "उत्तम सौकुमार्य" को व्यर्थ ही "मध्यम सौकुमार्य" वना दिया—"रसार्णवसुधाकर" में मध्यम सौकुमार्यका यह लक्षण किया है—

"न सहेत करस्पर्शं, येनाङ्गं मध्यमं हि तत्।"

× × ×

अर्थात् जो सौकुमार्य (नज़ाकत) हाथके स्पर्शको भी

सहन न कर सके, सिर्फ छूनेसे ही जिसमें लाली चमक आवे वह "मध्यम" है। इसके उदाहरणमें यह पद्य दिया है—

"लाक्षां विधातुमवलम्बितमात्रमेव
सख्याः करेण तरुणाम्बुजकोमलेन।
कस्याश्चिदग्रपदमाशु बभूव रक्तं
लाक्षारसः पुनरभून्न तु भूषणाय॥"

× × ×

लाखका रंग (महावर) देनेके लिये सखीने अपने कर-कमलसे ज्योंही उसके पांवको ज़रा छुआ कि वह लाल सुर्ख हो गया, फिर लाखके रंगकी ज़रूरत ही न रही।

दोहेका सौकुमार्य इनसे कहीं उत्तम है। यहां एडीकी स्वाभाविक लालीको देख कर ही महावर देनेवाली चक्कर मे हैं। महावर देनेको पांव तक हाथ बढ़ानेकी उसे हिम्मत ही नही होती!

× × ×

विहारी और कालिदास

दोहा—त्रिवली नाभि दिखायकै सिर ढकि सकुच समाहि
गली अली की ओट ह्वै चली भली विधि चाहि ४१

\+ ÷ ÷

कवित्त—भोरी वैस इन्दुमुखी सांकरी गलीमे मिलि
सुन्दर गोविन्दको अचानक ही आयकै,
"कालिदास" जगैं जेब अंगनि जवाहिरकी
वाहिर ह्वै फैली चांदनीसी छवि छायकै।
नेरो गह्यो स्याम सोहैं विहँसि विलोकी वाम
हेरयो तिरछौहैं नारि [नार] नैंसुक नवायकै,

गोरे तन चोरे चित जोरे दृग मोरे मुख
थोरे बीच कौरे लागि चली मुसकायकै ॥"

❀ ❀ ❀

दोहेमे स्वभावोक्तिका चित्रसा खिंच गया है। पूर्वार्धमें प्रेमसूचक 'हाव' बड़े मनोहर ढंगसे व्यक्त हुए है। अन्तमें 'भली विध चाहि' ने उनका भाव मार्मिकतासे—बेमालूम तौरपर— खोल दिया है। "गली अलीकी ओट ह्वै चली" इस छोटेसे वाक्यमे जो बात है, उससे कवित्तका बहुतसा भाग भरा हुआ है। कवित्तमे "मुसकाय कै" पद मज़ेदार है, पर वह 'विहँसी विलोकी' का जवाब है। इन्दुमुखी और गोविन्द साकरी गलीमें अकेले है, वहां हसने मुसकरानेका मौक़ा है। यहां गलीमें साथमें अली भी है। इसलिये यही—न मुसकराना ही— मुनासिब हुआ।

× × ×

दोहा—जालरन्ध्र मग अगिनिको कछु उजास सो पाइ
पीठ दिये जग सौं रहै दीठि झरोखा लाइ ३२६

❀ ❀ ❀

कवित्त—प्यारी खण्ड तीसरे रसीली रंग रावटीमें
नकि ताकी ओर छकि रह्यौ नँद नन्द है,
'कालिदास' बीचिन दरीचिन ह्वै छ[झ]लकत
छविकी मरीचिनकी झलक अमन्द है।
लोग देखि भरमै कहा धौं है या घरमे
सुरँग भयो जगमगी जोतिनको कन्द है,
लालनको जाल है कि ज्वालनिकी माल है कि
चामीकर चपला कि रवि है कि चन्द है॥

× × ×

कालिदासने बहुत ऊँचे पर तीसरे खण्ड की रंगरावटीमें पहुंचकर 'घटना-मन्दिर' की नींव उठायी है। 'जगमगी जोति'-को बहुत चमकाकर दिखाया है, लोगोंको भरमाया है और "नँदनन्द"को छकाया हैं। पर 'सन्देह'की झड़ी लगाकर अन्तमे खुद फिसल पड़े हैं! "रवि है कि चन्द है" मे अच्छा खासा "पतत्प्रकर्ष" अथवा अर्थदोष=अक्रम हो गया है।

दोहेकी उठान इतनी ऊँची न होनेपर भी इससे उत्कृष्ट है। उत्तरार्धमें लोकोक्तिसे परिपुष्ट "परिसंख्या" बहुत ही सुन्दर है। "तकि नाकी ओर छकि रह्यो नंदनन्द हैं" की अपेक्षा "पीठ दिये जग सो रहे दीठि झरोखा लाइ" कहीं चमत्कृत भाव है।

विक्रमकी दृष्टि भी इसपर पड़ी है, विहारीके 'जालरन्ध्र को उन्होने उलट दिया है, और कालिदासके 'सन्देह' मे 'उत्प्रेक्षा' की एक मशाल अपनी ओरसे और बाल दी है मशालची अंधेरे में रहता ही है! सो यह भी 'पतत्प्रकर्ष' के गढ़ेमें जा पड़े हैं।

दोहा—रन्ध्रजाल ह्वै देखियतु, पियतन प्रभा विसाल
चामीकर चपला लखौ, कै मसाल मनिमाल ८५
(विक्रम)

\+ + +

विहारी और रसखान

दोहा--किती न गोकुल कुलवधू काहि न केहि सिख दीन
कौने तजी न कुलगली ह्वै मुरली-सुर लीन ७

× × ×

सवैया

कौन ठगौरीभरी हरि आज बजाई है बांसुरिया रसभीनी,
तान सुनी जिनहीं जितही तिनहीं तिन [त]लाज विदा करि दीनी।
घूमे खरी खरी नन्दके द्वार नवीनी कहा अरु बाल प्रवीनी,
या ब्रजमण्डलमे 'रसखान' सु कौन भटू जु लटू नही कीनी ॥

— — —

"गुरुजनपरिचर्या-धैर्य-गाम्भीर्य-लज्जा
निजनिजगृहकर्म स्वामिनि प्रेम सेवा।
इति कुलरमणीनां वर्त्म जानन्ति सर्वा
मुरमथन ! समस्तं हंसि वंशीरवेण।"

× × ×

संस्कृत पद्य, रसखानके सवैये और विहारीके दोहो मे 'वंशीरव' 'वांसुरियाकी तान' और 'मुरलीके स्वर' की ही शिकायत है। रसखानकी पदावली बहुत मृदु और रचना मधुर है। पर दोहेकी मुरलीका स्वर बहुत ही मर्मस्पर्शी है। "कौन भटू जु लटू नही कीनी" की अपेक्षा "कौने तजी न कुल-गली" मे मुरलीके स्वरका प्रभावाधिक्य कही बढ़ गया है। फिर "कुलवधू" और "काहि न केहि सिख दीन" ये वाक्य इस भावको और भी ज़ोरदार सिद्ध कर रहे हैं। इस मुरलीके स्वर मे लीन होकर कुलगलीको छोड़नेवाली कोई साधारण कामिनी न थी, किन्तु "कुलवधू" थी, और कुलवधू भी ऐसी जो एक दूसरीको मुरलीके स्वरमे लीन न होने, कुल-गली न छोड़ने, कुलमर्यादाका उल्लंघन न करनेका उपदेश देती थी. इतनेपर भी मुरलीके स्वरसे खिंचकर 'कुलगली' छोड़ 'कुञ्जगलीमे' पहुंच गयी !

संस्कृत पद्यमे भी यह बात इस अनूठे ढंगसे नहीं कही

गयी। "कुलगली" की व्याख्यासे पद्यका पूर्वार्ध भरा हुआ है, "वर्त्म जानन्ति" मे और "काहि न केहि सिख दीन" में बहुत भेद है। केवल किसी बातको साधारणतया जाननेमें और अच्छी तरह समझकर उपदेश देनेमें अन्तर है, किसी बातका साधारण ज्ञान रखनेवाला उस विषयमें भूल कर जाय तो आश्चर्य नहीं, पर उस विषयका 'उपदेशक' यदि उसके विरुद्ध आचरण करे तो अवश्य आश्चर्यकी बात है।

७—विहारी-सतसई और दूसरी सतसइया

दूसरी सतसइयाँ, विहारीसतसईका मुक़ाबला भाषा, भाव और रचना आदि किसी बातमें भी नहीं कर सकीं। विहारीकी भाषामे और अन्य सतसईकारोंकी भाषामें इतना ही भेद है जितना किसी पुख्ताकलाम "अहले-ज़बान" की टकसाली भाषामें और नये "ज़बांदां" की बहुत कुछ बनावटी और मिलावटी भाषा में हो सकता है। विहारीके शब्दोंको दूसरे लोगोंने प्रायः दोहराया है, पर दूसरोंकी रचनामें जाकर वही शब्द जो विहारीके यहां बड़ी आन बान और शानसे जमे बैठे थे, बन्धशैथिल्यादिके कारण कर्णकटु, नीरस और ढीले पड गये हैं। विहारीने जिस शब्दको, जिस मुहावरेको जिस जगह गढ़कर बिठला दिया है, फिर उसे कोई और उस तरह नहीं बिठा सका।

विहारीने जिनका अनुसरण किया है, उनसे आगे निकल गये हैं, और विहारीकी जिन्होंने नक़ल की है वह विहारीकी परछाईं भी नहीं दबा सके।

शृंगारसतसईकार, विक्रमसतसईकार, और रतन-हजाराकारने विहारीकी चालपर चलनेकी बहुत जगह चेष्टा की है,

उसी प्रसंगपर उन्हीं शब्दो और भावोसे काम लिया है, पर वैसा चमत्कार नही ला सके। वे मानो अपनी इस असफलता-पर खिसियानी हँसी हँसते हुए विहारीकी ओर इशारा करके कह रहे है—

"यानेव शब्दान् वयमालपामो यानेव चार्थान् वयमुल्लिखामः।
तैरेव विन्यासविशेषभव्यैः सम्मोहयन्ते कवयो जगन्ति॥"

❀ ❀ ❀

विहारीके अनुकरणमें किसीको कहीं भी सफलता नहीं हुई। सफलता तो एक ओर, कही कहीं तो किसी किसीने बेतरह ठोकर खायी है, अर्थका अनर्थ हो गया है। अकबरकी यह उक्ति विहारीके इन अनुकारियोंपर पूरी तरह चरितार्थ हो रही है—

"मेरी तर्ज़-फुग़ांकी बुल्- हवस् तक़लीद् करते है,
ख़िजल् होंगे असरकी भी अगर उम्मीद् करते है।"

❀ ❀ ❀

इस प्रकारके कुछ उदाहरण उक्त तीनो कविताओसे नीचे उद्धृत किये जाते है, जिनमे विहारीकी नक़ल उतारी गयी है। थोड़ासा ध्यान देकर पढ़नेसे ही विहारीकी कवितामे और इनमे जो अन्तर है, स्पष्ट प्रतीत हो जाता है, इसलिये विशेष कहनेकी आवश्यकता न होगी। इस प्रसङ्गमे पहले हम उसी 'महारथि' को लेते है जिसकी रचनाके सम्बन्धमें 'विवेचनाविनोद' मे कहा गया है कि "यह विहारीकी सतसई के समान है"—और "विहारी के दोहोमे इसके दोहे मिला दिये जायँ तो पहचाने न जायँ"—इत्यादि।

× × ×

विहारीसतसई और शृंगारसतसई

दोहा—सन सूक्यों बीत्यों बनों ऊखों लई उखारि
हरी हरी अरहर अजों धर धरहर हिय नारि ९७

(वि० स०)

꧁ ꧁ ꧁

दोहा—कित चित गोरी जौ भयो, ऊख रहरि कौ नास।
अजहूँ अरी हरी हरी, जहँ तहँ खरी कपास ॥ ६० ॥

(शृं० स०)

꧁ ꧁ ꧁

ऊपरके दोहेमे विहारीने शब्दरचना—चातुर्य—अनुपम छेकानुप्रास—माधुर्यके अतिरिक्त, अपनी प्रकृतिपर्यवेक्षणप्रवीणताका परिचय भी कितने अच्छे प्रकारसे दिया है।

किसी "संकेतविघट्टना"—"अनुशयाना" नायिकाको अन्तरङ्ग सखी धीरज बँधा रही है कि यद्यपि सन सूख गया, वन (कपास) की बहार बीत गयी और ऊख (ईख) भी उखाड़ ली गयी, पर अभी हरी हरी अरहर खड़ी है, इसलिये हृदयमे धीरज धर, घबरा मत, एक बहुत सघन संकेतस्थल (सहेट) —अरहर काखेत—अभी बना है।

दोहेमे इन चीजोंके सूखने और उखड़ने आदिका क्रम बिलकुल ठीक है, हर जगहका किसान इसकी ताईद करेगा।

अब जरा शृंगारसतसईकारका "नेचरनिरीक्षण" देखिये इन हज़रतने अनभिज्ञतासे या "नास" के साथ 'कपास' की तुक मिलानेकी धुनमें, कितनी उलटी बात कह डाली है जो वास्तविकताके—प्रायः सार्वदेशिक अनुभवके—विरुद्ध है। ऊख (ईख) के बाद रहरि—अरहरका नाश नहीं हो जाता, प्रत्युत वह ईखके बहुत दिनों पीछेतक—गेहूँ कटने-

तक—हरी भरी खड़ी रहती है, और वन—कपासकी—बहार इन दोनोंसे बहुत पहले बीत जाती है। पर श्रृंगारसतसईकार उस समय "जहँ तहँ, हरी हरी कपास खरी" देख रहे हैं जब उसका अक्सर निशान भी नही रहता। भारतवर्षमें तो क़रीब क़रीब सब जगह ऐसा ही होता है, यह किसी ख़ास जगहकी बात कही हो, कहीं एक आध जगह ऐसा देखकर, बिहारीके दोहेको इसलाह दी गयी हो, तो नहीं कह सकते।

मौलाना हालीने अपने दीवानके मुक़द्दमेमे कविके लिये "सृष्टि-कार्यनिरीक्षणकी आवश्यकता क्यो है" इस बातको "मसनवी" (आख्यायिका) पर बहस करते हुए एक उदाहरण द्वारा समझाया है। हाली लिखते हैं—

'इसी प्रकार क़िस्सेमे ऐसी छोटी छोटी प्रासङ्गिक बातोका बयान करना, जिन्हें तजरबा और मुशाहदा झुठलाते हो कदापि उचित नही, इससे आख्यायिकाकार (कवि) का इतना बेसलीक़ापन साबित नही होता जितनी उसकी अज्ञता और लोकवृत्तान्त से अनभिज्ञता, या ज़रूरी अनुभव प्राप्त करनेसे बेपरवाई साबित होती है। जैसे कि "बद्रे-मुनीर" मे एक ख़ास मौक़े और वक़्त का समा (दृश्य) इस तरह बयान किया है—

"वो गानेका आलम वो हुस्ने-बुताँ
वो गुलशनका आलम वो दिनका समा।
× × ×
दरख़्तोंकी कुछ [illegible]
वो धा [illegible] ॥"

अख़ीर मिसरे से साफ़ यह प्रतीत होता है कि एक तरफ धान खड़े थे और एक तरफ़ सरसों फूल रही थी। मगर यह वात वाक़ेके ख़िलाफ़ है, क्योंकि धान ख़रीफ़में (सावनीमें) होते हैं, और सरसो रवीमे (असाढ़ीमे) गेहुओंके साथ वोयी जाती है।—

शृङ्गारसतसईका यह दोहा 'वद्रेमुनीर' के इस धान सरसो-वाले मिसरेको भी मात कर गया!

× × ×

कौन सुनै का सौं कहौं सुरति विसारी नाह।
बदाबदी जिय लेत हैं ये वदरा वदराह २९०

(वि० स०)

* * *

इक तो मदन-विसिख लगे मुरछि परी सुधि नाहिं।
दूजे वद वदरा अरी घिरि घिरि विप वरषाहिं॥ ३५६॥

(शृं० स०)

* * *

यह दोहा 'शृङ्गारसतसई' के अच्छे चुने हुए दोहोंमे गिना जा सकता है। इसमे भी विहारीकी पूरी तरह नक़ल करनेकी कोशिश की गयी है।

विहारीने विरहिणीके मुखसे वेबसीकी हालत मे "सुरति विसारी नाह" कहला कर जो हृदयहारी भाव मार्मिकतासे व्यक्त किया है, वह "इक तो मदन विसिख लगे" इस सूरत में आकर, खुलकर चमत्कारहीन होगया है। विहारीने उस दशामें—निःसहायावस्थामें—"उद्दीपन विभाव" (वर्षा-मेघ) के आक्रमणकी असह्यता, दोहेके उत्तरार्धमे कितने

चमत्कृत ज़ोरदार, प्रभावशाली शब्दोंमें, किस सुन्दरतासे प्रकट की है कि बस सुनकर तबीअ़त फड़क जाती है, सुननेवालेके दिलपर चोट सी लगती है—

"बदाबदी जिय लेत है, ये बदरा बदराह"

इधर शृङ्गारसतसईकारने "उद्दीपनविभावके" प्रादुर्भावका उल्लेख करनेसे पहले ही ग़रीबको "मदनविसिख" लगाकर मूर्छित और बेसुध बना डाला है! यह इस प्रकार उद्दीपन विभावका पश्चान्निर्देश अत्यन्त अनौचित्यपूर्ण है। इसमे "उद्दीपन विभाव" की बुरी तरह—सरासर—हतक हुई है, उसके अधिकारपर अनुचित आक्रमण हुआ है, उसका महत्त्व घट गया है। 'तकबीर' का कलमा पढ़नेवाले 'मुल्ला' (बदरा)के पहुँचनेसे पहले ही हिरनी (विरहिणी) हलाल कर दी गयी है!

"बदरा बदराह" का चलता हुआ "यमक" "बद बदरा"-मे उतरकर कुछ लँगड़ा सा हो गया है। "बदाबदी जिय लेत है" इस ज़ोरदार मुहावरेमे जो ज़ोर है, वह "घिरि घिरि विष वर्षाहिं" की घिसपिसमे घट गया है। यद्यपि इसके "विष" मे कुछ चिपक —श्लेष— है, और यह "विष" उँगली उठाकर इस प्रसिद्ध पद्यकी ओर इशारा कर रहा है—

"विषं विषधरैः पीतं, मूर्च्छिताः पथिकाङ्गनाः"।

दोनो दोहोमे यद्यपि वर्णन एक ही प्रसङ्गका है, अभिप्राय एकही है, पर विदग्ध, बिहारीकी सूक्तिको ही पसन्द करेंगे—

"अर्थावबोधेऽपि समे रसज्ञैरन्विष्यते सत्कविसूक्तिरेव।
अपत्यलाभेऽपि समे विदग्धा रूपोत्तरामेव हि रोचयन्ते॥"

× × ×

दोहा—*नित संसौ हंसौ वचतु, मानौं इहि अनुमान*

विरह-अगनि लपटनि सकै, झपट न मीच सिचान ४२५

(वि० स०)

× × ×

दोहा—चन्दन कीच चढ़ाय हूं, वीच परै नहिं रांच।

मीच नगीच न आसकै, लहि विरहानल आंच ३६५

(शृं० स०)

× × ×

यहां भी विहारीकी नक़ल उतारी गयी हैं, पर यह भी निरी विडम्बना है। विहारीने जीवको हंसका फड़कता हुआ और मृत्यु (मीच) को श्येन (सिचान) का उड़ता हुआ रूपक देकर और हेतूत्प्रेक्षाके परोंपर चढ़ाकर, दोहेके मज़मून-को आसमानपर पहुचा दिया है। शृङ्गारसतसईका दोहा इसके "नगीच" नहीं पहुच सका, मंज़िलो नीचे परकटे कबू-तरकी तरह (चन्दनकी कीचमे) ख़ाकपर पड़ा लोट रहा है!

"चन्दनकी कीच (पङ्क) चढ़ानेसे भी कुछ वीच नही पड़ता, दाह कम नहीं होता, ठंड नहीं पहुचती, विरहानलकी आंचसे मौत (नगीच) नज़दीक नही आ सकती" इसमे, और "मृत्यु-रूप वाज, जीव-हंसपर विरहाग्निकी लपटके डरसे नही झपट सकता, पास फटकते उसके पर जलते है, इससे इस दशामें भी वह मृत्युके आक्रमणसे वची हुई है"—इस कथनमे बहुत भेद है।

+ + +

दोहा—*पहुँचति डटि रन सुभट लौं, रोकि सकै सब नाहि*

लाखनहूँ की भीर में, ऑखि वहीं चलि जाहि ६२

× × ×

धीर अभय भट भेदिकै, भूरि भरी हू भीर।
झमकि जुरहिं दृग दुहुँनिके, नेकु मुरहिं नहिं वीर १४७

* * *

विहारीके दोहेमे "...डटि रन सुभट" पद कितने ज़ोरदार हैं। "रोकि सके सब नाहिं" में कितना अदम्य प्रवल पराक्रम भरा है। "लाखन हूँ को भीर" मे "भूरि भीर" से वहुत आधिक्य है। नीचेके दोहे मे "धीर, वीर," पदोंके रहते 'अभय' पद सर्वथा व्यर्थ है, निरा भरतीका, विलकुल वराये-वैत है। फिर जुड़नेके वाद मुड़ना कैसा! "झमक जुरहिं दृग दुहुँनिके" वाक्य भी विहारीके "जुरे दुहुनिके दृग झमकि" (६१ दो०)-का अपहरण है। शृंगारसतसईके इस दोहेके जोड़वन्द इतने ढीले हैं कि पद पदपर डगमगाता है।

× × ×

दीप उजेरेहू पतिहि. हरत वसन रति-काज।
रही लपटि छविकी छटनि, नैनौ छुटी न लाज ३२

(वि० स०)

* * *

वसन हरत वस नहिं चल्यौ. पिय दतरस दस आय।
अँगन चिलक तिय नगनकी, लीनी लाज वचाय ॥ ६६

* * *

"हरत वसन" इस ढाकेकी साड़ीके वारीक पर्देमें जो वात ढकी थी. उसे "तियनगन" इस धींग वादरने विलकुल नंगा कर दिया। इससे सहृदयताकी सहचरी विदग्धताने शरमाकर आंखें वन्द करली! "रही लपटि छविकी छटनि नैनौ छुटी न लाज" मे जो विचित्र चमत्कार है वह "अँगन-चिलक तिय नगनकी लीनी लाज वचाय" मे आकर वहुत मन्द-

भ्रम पड़ गया है। "नेकौ छुटी न लाज" मे और "लीनी लाज बचाय" मे इतना ही भेद है जितना "वाल बाँका न होने"- में और "जान बची लाखों पाये" में है—इति सूक्ष्मेक्षिकया निभालयन्तु विचक्षणाः।

× × ×

"जदपि चवायनि चीकनी, चलति चहूं दिसि सैन
तदपि न छांड़त दुहुनिके, हँसी रसीले नैन ६५

(वि० स०)

* * *

"घरहाइन चरचै चलै, चातुर चाइन सैन
तदपि सनेह सने लगै, ललकि दुहूँके नैन ३१४

(शृं० स०)

* * *

विहारीके यहाँ "चीकनी" पद 'चवायनि'की 'सैन' का विशेषण था, उसे यहाँ "सनेह सने" वनाकर "दुहूँ के नैन" पर चुपड़ दिया है, चिपका दिया है या चस्पां कर दिया है! 'रसीले' की जगह "ललकि" रख दिया है। 'चवायनि" की "चाइन" (डाइनकी वहिन!) हो गयी है और उसकी सहायताके लिये एक "घरहाइन" और आ गयी है। इस तरह "तदपि न छांड़त दुहुनिके, हँसी रसीले नैन" का "तदपि सनेह सने लगै ललकि दुहूँके नैन" वन गया है।

(ऊपरके दोहेपर विशेष "सतसईसंहार" मे देखिये)

× × ×

"हौ हीं वौरी विरह-वस, कै बौरो सब गाम
कहा जानि ये कहत हैं, ससिहि सीतकर नाम ४१६

(वि० स०)

* * *

"जाहि जोहि भारद भई, मरी परी दुखफंद
नाहि सुधाधर क्यों कहै, दारद सारद चंद ४११
(शृं० स०)

* * *

"जाहि जोहि" 'भारद' 'दारद' 'सारद' आदि अटपटे शब्दाडम्बरकी 'गारद' मे बिहारीके भावको छिपानेकी—नूतनता लानेकी—चेष्टा की गयी है, पर इसमे और उसमे इतना ही अन्तर है जितना एक काचके टुकडे और रत्नमे होता है। (ऊपर के दोहेकी विशेष व्याख्या आगे "विहारीके विरहवर्णन" प्रकरणमे देखिये)

× × ×

विरह जरी लखि जीगननि, कह्यौ न उहि कै बार
अरी आव भजि भीतरी, बरसत आज अंगार ३८५
(वि० स०)

* * *

ए जीगन न उड़ाहि री, विरहजरी हि जराय
इन आ री मदनागिकी, चिनगारी रहि छाय ६२
(शृं० स०)

* * *

शृंगारसतसईकारको 'री री' का कुछ रोग है, 'री' को [illegible] अक्सर दोहोंमे एकही जगह मुकर्रर सिकर्रर नक-लाफ़ की है। पूर्वार्धमे 'री' था ही, उत्तरार्धमे फिर 'आ री' बन-कर आ गया है। 'विरह जरी' और "जीगननि" जो बिहारीके यहां हैं, उन्हे ही ज़रा आगे पीछे करके बिठला दिया है। "लखि" का "उड़ाहि" हो गया है। "अरी आव भजि भीतरी" का तर्जुमा "इन आ री" हुआ है। "बरसत अङ्ग

अँगार"—गर्दिशे-ऐमालसे "मदनागिकी चिनगारी रही छाय"-के रूपमे बदल गया है। 'बिरहजरी' वाक्य जिस भावको अपनी ध्वनिमे चुपचाप कर रहा था, उससे इन्हें सन्तोष नही हुआ, 'मदनागिकी चिनगारी" कहे बिना चैन नहीं पड़ा!

× × ×

लिखन बेठि जाकी सबिहि. गहि गहि गरब गरूर
भये न केते जगतके, चतुर चितेरे कूर ५३४
(बि० स०)

❀ ❀ ❀

सगरब गरब खिचै सदा, चतुर चितेरे आय
पर वाकी बांकी अदा, नेकु न खींची जाय ४७८
(शृं० स०)

❀ ❀ ❀

मालूम होता है बिहारीके "गरब, गरूर" मे पुनरुक्ति समझकर, नीचेके दोहेमे "सगरब गरब" की "इसलाह" दी गयी है! इसे पुनरुक्ति समझकर कुछ और लोग भी अक्सर धोखेमे पड़े है, किसीने 'गरब' का 'गरुव" (अधिक, भारी) बनाया है। किसीने हिन्दू और मुसलमान चितेरो के साथ 'गरब' का और 'गरूर' का यथाक्रम सम्बन्ध जोड़ा है!' पर यहाँ पुनरुक्ति नही है, इस जगह "गरूर" का अर्थ "मग़रूर"-सरापा ग़रूर--है अर्थात् बहुत गर्वीला। जहाँ गुणवाचक या भाववाचक शब्दसे गुणीका बोध कराया जाता है वहाँ गुणीमे गुणप्रकर्ष व्यङ्ग्य होता है। यथा-"साक्षादिव विनयः" यहाँ विनयी मे विनयाधिक्य व्यङ्ग है, बाणकी कादम्बरीमे तो इस प्रकार-के प्रयोग बहुतायतसे हैं—"प्रत्यादेशो धनुष्मतां"—इत्यादि।

उर्दू कवियोके "ज़ौक़" "शौक़" "दर्द" "दाग" आदि 'तख़-

त्लुस' भी एक प्रकारसे इसका उत्तम उदाहरण हो सकते हैं।

शृङ्गारसतसईके इस दोहेकी "क्रिया" ख़राब होगयी है, "कर्म्म" भी कुछ बिगड़ गया है। "खिंचै" रक्खें तो बेचारे चतुर चितेरे खुद खिंचे आते हैं! और चितेरोंपर दया करके "खींचैं" पढ़े तो मात्राकी टाँग खिंचकर बढ़ जाती है! इस दोहेकी शब्दस्थापना कुछ ऐसी बेढंगी और विषम है कि पढनेमें जबानको धचका लगता है, सहृदयताके सुकुमार—कोमल— कान इस खींचतानको सह नहीं सकते।

(बिहारीके उक्त दोहेकी गम्भीरता—बहुर्थतापर पहले ८८ पृष्ठसे ९६ पृष्ठ तक लिखा जा चुका है)

× × ×

चिर जीवो जोरी जुरे, क्यो न सनेह गंभीर

को घटि ये वृषभानुजा वे हलधरके वीर २२६

(बि० स०)

❀ ❀ ❀

जुग जुग ये जोरी जियै, यो दिल काहु दिया न

ऐसी और तिया न है, ऐसे और पिया न ३५२

(शृं० स०)

❀ ❀ ❀

ऊपरके दोहेका देखे यह नीचेका दोहा कितना नीचा है! 'जिया' 'तिया'—'पिया' की फ़िजूल तुकबन्दीके सिवा इसमें जरा भी तो कवित्वचमत्कार नहीं।

❀ ❀ ❀

ओधाई सीरी लगति, बिरह बरति बिललात

फिर ही सार गुलाब की, छींटो छुई न जात ३८२

❀ ❀ ❀

विरह आंच नहिं सहि सकी, सखी भई बेताव
चनकि गई सीसी गयौ, छिरकत छनकि गुलाव ६००
(शृं० स०)

* * *

नीचेका दोहा ऊपरके दोहेका स्पष्ट "प्रतिविम्ब" है। "सीसी चनकि (चटक) गई और सखी विरहकी आंच नहीं सह सकी, बेताव भई" नयी वात है। विहारी दूसरी जगह (विरहवर्णनमे) इससे कही अधिक कह चुके हैं। यहां "विच ही सूख गुलाव गौ, छीटौ छुई न गात" मे ही वहुत कुछ कह दिया है।

× × ×

मोहि भरोसौ रीझि है, उझकि झांकि इक वार
रूप रिझावनहार वह, ये नैना रिझवार ३३९
(वि० स०)

* * *

क्यों न एक मन होत, तन दोय प्रान इक वार
ये नीकी रिझवारि हैं, वे नीके रिझवार १०५
(शृं० स०)

* * *

नीचेके दोहेमे व्यर्थकी तुकवन्दीके सिवा कवित्वका पता नहीं। पूर्वार्धमें पड़े "प्रान" ने भारभूत हो कर इसे और भी वेजान वना दिया है। "ये नीकी रिझवारि हैं वे नीके रिझवार" —विलकुल वाहियात है। "रूप रिझावनहार वह, ये नैना रिझवार" मे एक वाँकपन है, कुछ वात है, कवित्व है।

बिहारीसतसई और विक्रमसतसई

ललित स्याम लीला ललन, चढ़ी चिबुक छवि दून।
मधु छाक्यो मधुकर पर्‌यो, मनौ गुलाबप्रसून ४८७

(बिहारी)

* * *

अति दुति ठोढी बिन्दुकी, ऐसी लखी कहूं न।
मधुकरसुतु छक्यो पर्‌यो, मनौ गुलाब प्रसून॥

(विक्रम)

* * *

बिहारीके इस दोहेकी मौजूदगीमें विक्रमजीको यह दोहा गढ़नेकी न जाने क्या ज़रूरत मालूम हुई! बिहारीके शब्दार्थ-का अपहरण तो किया, पर उसे छिपा न सके, इसलिये यह राजशेखरके उस अर्थापहरण-विचारवाले प्रसिद्ध फ़ैसिलेसे भी कुछ लाभ नहीं उठा सके—

"स नन्दति विना वाच्यं, यो जानाति निगूहितुम्"

पशु चुरानेवाले चालाक चाइयां, सींग कान काटकर पशुका हुलिया बदल दिया करते हैं। यहां भी बिहारीके दोहेके सींग "ललित स्याम लीला" काट कर और 'मधु' उड़ाकर—'मधुकर'का "मधुकरसुतु" बनाकर—छिपानेकी चेष्टा की है, सही, पर "मनौ गुलाबप्रसून" पुकार कर कह रहा है कि मैं वही बिहारी का धन हूं! 'छक्यो, पर्‌यो,' इसकी गवाही दे रहे हैं! ललित स्याम लीला-(सुन्दर स्याह गोदना)-से चिबुक-पर जो दूनी छवि चढ़ रही थी, वह इस हुलिया बदलनेमें बेभाव जाती रही। 'मधु' के छीन लेनेसे 'मधुकरसुतु' बेचारा

विरह आंच नहिं सहि सकी, सखी भई बेताब
चनकि गई सीसी गयौ, छिरकत छनकि गुलाब ६००
(शृं० स०)

* * *

नीचेका दोहा ऊपरके दोहेका स्पष्ट "प्रतिबिम्ब" है। "सीसी चनकि (चटक) गई और सखी विरहकी आंच नहीं सह सकी, बेताब भई" नयी बात है। बिहारी दूसरी जगह (विरहवर्णनमे) इससे कहीं अधिक कह चुके हैं। यहां "बिच ही सूख गुलाब गौ, छीटौ छुई न गात" में ही बहुत कुछ कह दिया है।

× × ×

मोहि भरोसौ रीझि है, उझकि झांकि इक बार
रूप रिझावनहार वह, ये नैना रिझवार ३३९
(वि० स०)

* * *

क्यों न एक मन होत, तन दोय प्रान इक बार
ये नीकी रिझवारि हैं, वे नीके रिझवार १०५
(शृं० स०)

* * *

नीचेके दोहेमें व्यर्थकी तुकबन्दीके सिवा कवित्वका पता नही। पूर्वार्धमें पड़े "प्रान" ने भारभूत हो कर इसे और भी बेजान बना दिया है। "ये नीकी रिझवारि हैं वे नीके रिझवार" —बिलकुल वाहियात है। "रूप रिझावनहार वह, ये नैना रिझवार" में एक बाँकपन है, कुछ बात है, कवित्व है।

विहारीसतसई और विक्रमसतसई

ललित स्याम लीला ललन, चढी चिबुक छवि दून
मधु छाक्यो मधुकर पर्यौ, मनौ गुलावप्रसून ४८७

(विहारी)

* * *

अति दुति ठोढ़ी विन्दुकी, ऐसो लखी कहूंन।
मधुकरसूनु छक्यो पर्‌यो, मनौ गुलाव प्रसून॥

(विक्रम)

* * *

विहारीके इस दोहेकी मौजूदगीमें विक्रमजीको यह दोहा गढ़नेकी न जाने क्या ज़रूरत मालूम हुई! विहारीके शब्दार्थ-का अपहरण तो किया, पर उसे छिपा न सके, इसलिये यह राजशेखरके उस अर्थापहरण-विचारवाले प्रसिद्ध फ़ैसिलेसे भी कुछ लाभ नहीं उठा सकते—

"स नन्दति विना वाच्यं, यो जानाति निगूहितुम्"

पशु चुरानेवाले चालाक चाइयां, सींग कान काटकर पशुका हुलिया वदल दिया करते है। यहां भी विहारीके दोहेके सींग "ललित स्याम लीला" काट कर और 'मधु' उड़ाकर—'मधुकर'का "मधुकरसूनु" वनाकर—छिपानेकी चेष्टा की है, सही, पर "मनौ गुलावप्रसून" पुकार कर कह रहा है कि मैं वही विहारी का धन हूं! 'छक्यो, पर्‌यौ,' इसकी गवाही दे रहे हैं! ललित स्याम लीला-(सुन्दर स्याह-गोदना)-से चिवुक-पर जो दूनी छवि चढ़ रही थी, वह इस हुलिया वदलनेमें बेशक जाती रही। 'मधु' के छीन लेनेसे 'मधुकरसूनु' वेचारा

भूखा रह गया! उसे इस दशामे "छक्यो पत्यौ" नहीं, "भूखौ पत्यौ" कहना चाहिये। मालूम होता है मानो दुर्भिक्षपीड़ित वच्चे की तरह भूखके मारे मूर्छित अवस्थामे अचेत पड़ा है!

× × ×

छिनक छबीले लाल वह, जौ लगि नहि बतराय
ऊख महूख पियूख की, तौ लगि भूख न जाय ३३६

(विहारी)

× × ×

कहि मिश्री कह ऊखरस, नही पियूप समान
कलाकन्द कतरा अधिक, तू अधरारसपान ८४

(विक्रम)

× × ×

विहारीने 'वृत्त्यनुप्रास' और 'व्यतिरेक' के मधुरपाकमे दोहेको पागकर किसी मधुरवाणीके 'बतराने' के सामने-(वाणीके माधुर्यकी तुलनामें)—'ऊख' 'महूख' (मधु) और 'पियूख' (अमृत)को घटाया है, और खूब तरतीवसे सिलसिले-वार घटाया है। बातमे एक मज़ा आगया है। विक्रमने "अधरा-रस"से मुक़ाविला किया है, पर इनकी कविताके पलडेमे "कान" पड़ गयी,तुलना ठीक नही होसकी। पहले तो 'मिश्री'के बाद "ऊखरस" का घड़ा चढ़ाना ही ठीक न था, ख़ैर उसे 'पियूप' ने ठीक कर दिया था कि फिर "पासंग"मे "कला-कन्द"का डेला ला धरा! इस असमानके साथ समानता करनेमे 'पियूप' का अपमान होगया, वह नीचे उतर गया, अब 'मिश्री' 'ऊखरस' और केवल 'कलाकन्द' से ही मुकावला रह गया। कुछ कमी हो तो एक वड़ी सी "भेली" और रस

सकते हैं! उससे भी पूरा न पड़े तो शीरेका एक बड़ा पीपा और सही!! कैसा बुरा आदर्श "पतत्प्रकर्ष" अथवा शब्दगत प्रक्रमभङ्ग हुआ है!

× × ×

टटकी धोई धोवती. चटकीली मुखजोति
फिरति रसोई के वगर. जगर मगर दुति होति २४३

(बिहारी)

भोगवती भोजन रचत, मृगलोचन सुखदानि
घूंघट पटकी ओट करि, पियको आगम जानि ९३
(विक्रम)

भोगवती, सुखदान, मृगलोचन जो नायिका है सो भोजन रचती है अर्थात् बनाती है, एक बात। किस प्रकार बनाती है,—प्रियका आगमन जानकर घूंघटके पटकी ओट करके, दूसरी बात। 'भोगवती' कहनेका अभिप्राय शायद यह है कि उसे खाने पीनेका बहुत शौक़ है, दूसरेका बनाया भोजन नहीं भाता। "मृगलोचनी" है इसीलिये घूंघट पटकी ओट करायी गयी है। मृगलोचनके नैनमृग खुला छोड़नेपर शायद प्रियके दिलका खेत चर लेते! भोजन बनाकर खिलानेवालीको "सुखदान" कहना उचित ही है। भोजनका समय है, इसलिये प्रियका आना एक ज़रूरी बात है। इस प्रकार विक्रमजीने इस दोहेमे कितने भाव भर दिये हैं! पर इससे कविताप्रेमीकी तबीअत नहीं भरती। सहृदय रसिककी तृप्ति नहीं होती। बिहारीकी 'टटकी धोई धोवती (धोती)" ने 'घूंघट पट' का पर्दा फ़ाश कर दिया, "चटकीली मुखजोति" ने 'भोगवती'

मृगलोचन, 'मुखदान' सबको कान पकड़कर कविताके रसोईघरसे बाहर निकाल दिया। और "फिरति रसोईके बगर" ने लज्जासे मुँह छिपाकर नीचे बैठनेको विवश कर दिया। "जगर मगर दुति" ने अपने प्रकाशमें बिलकुलही विलीन करदिया।

"टटकी धोई धोवती, चटकीली मुख जोति।
फिरत रसोईके बगर, जगर मगर दुति होनि॥"

× × ×

लाज-लगाम न मानहि, नैना मो बस नाहि
ये मुहजोर तुरग लौं, ऐंचतहू चलि जाहि २६९

(विहारी)

❀ ❀ ❀

चपल चलाकिन सौं चलत, गनत न लाज लगाम
रोकै नहिं क्यौं हू रहत, दृग तुरंग गतिवाम २६५

(विक्रम)

* * * *

विक्रमके वामगति चपल दृग-तुरंग विहारीके मुँहजोर नैना-तुरंगको नहीं पहुँचते। इनकी मुँहजोरी—बदलगामी—से हार मानकर मानो सवार पुकार बार कह रहा है कि मेरे क़ाबूसे बाहर हैं—"सवार ख़ाक हूँ बेअख्तियार बैठा हूँ"—

× × × ×

मोहि दियौ मेरो भयो, रहत जुमिल जिय साथ
सो मन बांधि न दीजिये, पिय सौतिन के हाथ १८५

(विहारी)

दियौ हरखि हित सौं हियौ, लेत न फेर लजात
आन हात प्रीतम सु अब, क्योंकर सौंप्यौ जात १०४

(विक्रम)

❀ ❀ ❀

यहां भी विक्रमजीकी शिकायतका रंग विहारीके मुक़ा-बलेमे बहुत फीका है। विक्रम दी हुई चीज़को न लौटानेकी धार्मिक दुहाई देकर ही काम निकालना चाहते है। विहारी कहते है कि आपने मन मुझे दे दिया और वह पूरी तरह मेरा होगया, वह अब कही जाना नही चाहता, मेरे जीके साथ मिलकर रहता है, उसका जी यहां लग गया है, खूब परच गया है। आप उसे ज़बरदस्ती, उसकी मर्ज़ीके ख़िलाफ़ बांधकर, सौतिनके हाथ देना चाहते है, ऐसा न कीजिये।

× × ×

मै लै दयो लयो सुकर, छुवत छनकि गौ नीर
लाल तिहारो अरगजा, उर ह्वै लग्यौ अबीर ३०२

(विहारी)

❀ ❀ ❀

उभकत अलिन की ओट ह्वै, नवल नारि दृग जोड़
घालत मूठ गुलाल भर, छुटत अरगजा होइ ३१४

(विक्रम)

❀ ❀ ❀

विहारीने विरह-संतापमे 'अरगजे' का 'अवीर' वनाया था, विक्रमने उसे सात्त्विक प्रस्वेद में सान कर फिर अरगजा बना डाला है। पर विहारीके कलामकी गरमीके आगे विक्रमका यह कथन गारा मालूम होता है!

× × ×

भूषन भार सँभारि है, क्यों यह तन सुकुमार
सूधे पाय न धर परत, सोभा ही के भार

(विहारी)

❀ ❀ ❀

हार निहार उतार धरि, विधि तन रचे सिंगार
धरन चलत ललिकत तरुनि, वारभार सुकुमार १६२

(विक्रम)

❀ ❀ ❀

चलत लंक लचकत चलति, सकति न अंग सम्हार
भार डरनि सुकुमार वह, धरत न उर पर हार १७०

(विक्रम)

❀ ❀ ❀

विहारीकी लासानी नाज़ुक ख़यालीका मुक़ाबला करनेके लिये विक्रमने पहले तो वालोंका भार अधिक वतला कर हार उतरवाया, फिर लंक (कमर) की लचकके ख़यालसे उसी वातको दोहराया। पर विहारीकी शोभाके भारके सामने ये 'वार भार' और "हार भार" पहाड़से भी भारी हैं।

❀ ❀ ❀

जो वाके तनकी दसा, देख्यो चाहत आप
तो वलि नेक विलोकिए, चलि औचक चुप चाप

(विहारी)

* * *

देखहु वलि चलि औचका, यह औसर फिर नाहिं।
खेलत कर कन्दुक लिये, रंग राउटी माहिं १४८

(विक्रम)

* * +

विहारीके इस दोहेकी व्याख्या ७८ पृ० पर पढ़कर, फिर विक्रमका यह दोहा देखिये, विहारीके वही ध्वनिपूर्ण पद, इस रंगरावलीमे आकर कैसे चमत्कारहीन होगये है।

———*———

विहारीसतसई और रतनहजारा

नीची ये नीची निपट, दीठि कुही लौं दौरि
उठि ऊँचे नीचे दियो, मन-कुलंग झकझोरि ४६५

(सतसई)

* * *

छवि मिसरी जब तें दई, तुव दृग वाजन मैन
मन-कुलंग कौं धरत हैं. ये विच चंगुल सैन ४४१

(रतनहजारा)

* * *

विहारीका 'मन-कुलंग' 'रतनहजारे' में भी है। "कुही"-का "वाज" बन गया है। क़ाफ़िया (तुक) बदल गया है, मज़मून वही है, पर बात वह नही है। "कुही" जिस चालाकीसे कुलंग-(कलविक)-चिड़िया, या कबूतरका शिकार करती है, विहारीने उसकी ऐसी सच्ची तसवीर खींच दी है कि दोहेको पढ़कर हूबहू वही नक़शा आँखोंमे फिर जाता है। कुही-(वाजकी जातिकी एक शिकारी चिड़िया) किसी वृक्षकी डालीपर या घोंसलेमें बैठी हुई चिड़ियाको, या छतरीपर बैठे हुए कबूतर-को पास पहुच कर पहले वहाँसे उसे उड़ा देती है, आप उसके नीचे नीचे उड़ती रहती है, जब उड़ते उड़ते चिड़िया अपने घोंसले या अड्डेसे इतने ऊँचेपर पहुच जाती है कि जिससे जल्दी नीचे नही आ सकती तो नीचे उड़ती हुई

"कुही" अचानक ऊपर उड़ती चिड़ियाके ऊपर पहुंचकर उसे नीचे देकर पंजोमें दवा लेती है । 'नीची नज़र'की मारके लिये यह उपमा कितनी अनुरूप है, नीची नज़रकी तरह यह ऊँची उपमा भी विदग्धोके मनको पकड़ती है । विहारीकी "कुही' के सामने रसनिधिका पालतू वाज़ नज़रमे कुछ जँचता नहीं । फिर "छवि मिसरी (?)"की वात और भी फीकी मालूम पड़ती है, मांसाहारी वाज़के लिये यह 'मिसरी'की चाट कैसी ?

× × ×

अलि इन लोयन कों कछू, उपजी वडी वलाय
नीर भरे नित प्रति रहै, तऊ न प्यास वुझाय २५९
(सतसई)

❀ ❀ ❀

पीवत पीवत रूप रस, वढ़त रहै हित-प्यास
दई दई नेही दृगन, कछू अनोखी प्यास ३७०
(रतनहजारा)

❀ ❀ ❀

रसनिधिका यह "पीवत पीवत" व्रजभाषाके अमल अङ्गमे घावके पीवकी तरह घृणोत्पादक मालूम देता है । "अहलेज़वान" कहता तो "पियत पियत" कहता । इस 'रूप-रस' मे उतना रस नहीं जितना विहारीके "नीर भरे नित प्रति रहै" मे है । "अनोखी प्यास" मे "वड़ी वलाय" के आगे कुछ भी अनोखापन नहीं । 'दृगन' के "नेही" विशेपणने "अनोखी प्यास" का अनोखापन वहुत कम कर दिया । और 'हित प्यास' के 'हित' पदने तो और भी अनोखेपनका रहा सहा पर्दा उठा दिया । हितकी प्यास है, नेही (स्नेही) नेत्रोको है, वस वात साफ़ हो गयी, अनोखापन काफ़ूर हो गया । इस जगह प्यासके मारे रसनिधिजीका "क़ाफ़िया तंग" हो गया

है। 'हित प्यास'—'अनोखी प्यास'—पहले प्यास—पीछे प्यास—यह बेशक अनोखापन है।

× × ×

दृग उरझत टूटत कुटुम. जुरत चतुर चित प्रीति
परति गांठ दुरजन हिये. दई नई यह रीति
(सतसई)

* * *

उरझत दृग बँधि जात मन, कहौ कौन यह रीति
प्रेम-नगरमे आइके, देखो बड़ो अनोति ६२६

* * *

अद्भुत गति यह प्रेम की, लखो सनेही आय
जुरै कहूं टूटै कहूं, कहूं गांठ परि जाय ६६४
(रतन हजारा)

* * *

विहारीके दोहेके भावको रसनिधिने इन दोहोमे दो वार दोहराया है, पहली वार "असंगति" के दायरेमे दो चक्कर 'दृग' और 'मन'के नामपर लगाये है। 'दृग'के साथ मनपर भी नज़र जमाए रहे है। दूसरी वार—सरपट दौड़े है और एक सांस "जुरै कहूं टूटै कहूं कहूं गांठ परि जाय" कहते गये है! पर विहारीसे वाज़ी नही ले सके।

× × ×

पहला दोहा विहारीके इस नीचे लिखे दोहेकी नक़ल है, 'नेहपुर' का 'प्रेमनगर' वन गया है, 'लगालगी लोयन'का 'दृग उरझत' हो गया है—

क्यौं वसिये क्यौं निवहिये, नीति नेहपुर नाहिं
लगालगी लोयन करें, नाहक मन बँधि जाहिं २७४

* * *

खेलन सिखये अलि भले, चतुर अहेरी मार
कानन-चारी नैन मृग, नागर-नरन सिकार ४५८
(सतसई)

❀ ❀ ❀

प्रेम अहेरी की अरे, यह अद्भुत गत हेर
कीने दृग-मृग मीत के, मन-चीते पर सेर ६२० ❀
(रतनहजारा)

❀ ❀ ❀

यहां भी रसनिधिने विहारीके 'अहेरी मार' को "प्रेम अहेरी" बनाकर अपनाया है। निस्सन्देह विहारीकी छाया होनेपर भी रसनिधिका यह दोहा चमत्कारशून्य नहीं है, "मनचीते पर सेर" यह मुहावरा अच्छा है, इस श्लेषमे कुछ चिपक है। पर 'शेर' का 'चीते' पर आक्रमण कुछ ऐसा आश्चर्य-जनक नहीं। विहारीका मार (काम)-अहेरी, सचमुच बड़ा चतुर है, जिसने "काननचारी" (कानोतक फैले हुए और वनमें चरनेवाले) नैनरूप मृग, इस ढंगसे सिखाये हैं कि वह 'नागर' (चतुर और नगरनिवासी)—नरोंका बेधड़क दिनदहाड़े शिकार करते हैं! हिरनसा 'वहशी' जानवर जो आदमीकी सूरत देखकर कोसों भागता है वह इस तरह आदमियोंका शिकार करे! यह ज़रूर ताअज्जुबकी बात है। कितना अच्छा "श्लेष" और 'रूपक' है—

"काननचारी नैनमृग, नागर-नरन सिकार"

× × ×

❀ इसी भाव को बहादुरशाह ज़फ़र ने इस प्रकार व्यक्त किया है:—
दिले पुरदागसे मेरे तुम्हारी आंख लड़ती है!
तमाशा है कि चीतेसे लड़ाते आप आहू हैं।

इन दुखिया अँखियानिकों, सुख सिरजोही नाहि
देखे बनै न देखते, अनदेखे अकुलाहि २७०

(सतसई)

❀ ❀ ❀

भरभराँय देखे विना, देखे पल न अघाय
रसनिधि नेही नैन ये, क्यों समुझाये जायँ ४३१

❀ ❀ ❀

भला "नेही" नैन किसीके समझाए कभी समझे भी हैं? जो रसनिधिजीके समझाए समझेंगे! इन्हें समझ लेना चाहिए कि यह ज़िद्दी बच्चेकी तरह किसी तरह नहीं समझाए जा सकेंगे।

विहारीकी "दुखिया अँखियान" की दशा बेशक दयनीय है, जिनके लिये किसी दशामें सुख बना ही नहीं। न देखते बनता है न बिना देखे ही रहा जाता है।

विहारीके व्यङ्ग्य स्नेहमें एक चमत्कार है, उक्तिमें वैचित्र्य है। पदावलिमे माधुर्य है। "देखे बनै न देखते" यह एक ही पद ऐसा है, जिसका जवाब नहीं है।

❀ ❀ ❀

रह्यो ऐंचि अन्त न लह्यो, अवधि-दुसासन बीर
आली बाढ़त विरह ज्यों, पाञ्चाली को चीर १२५

(सतसई)

❀ ❀ ❀

दृग दुस्सासन लालके, ज्यौं ज्यो खैंचत जात
त्यों त्यों द्रोपदि चीरलौं, मनपट बाढ़त जात २७१

(रतनहजारा)

❀ ❀ ❀

निस्सन्देह विहारीकी कविताके अलङ्कारका अपहरण तो रसनिधिने करलिया. 'रूपक' और 'पूर्णोपमा' दोनो उतर आये, पर खींचातानीके कारण इनके स्वरूपमे विरूपता आगयी, "द्रुगदुस्सासन" का रूपक वहुत विरूप होगया है, "रसाभास" के काले कीचड़मे पड़कर बहुत भद्दा होगया है । जब "द्रौपदि चीरलौं" कह दिया, तब 'मन' के साथ 'पट' जोड़नेकी क्या ज़रूरत थी ? द्रौपदीका चीर, यह उपमान ही 'मन' मे पटत्वकी प्रतीति करा रहा है, अन्यथा यह "लौं" फिर किस मरज़की दवा है । विहारीके 'विरह' मे देखिए, यही वात साफ़ झलक रही है । अव इसके 'रसाभास' पर दृष्टि दीजिए, रसनिधिके इस वर्णनसे प्रतीत होता है कि कोइ 'महामनस्विनी' नायिका अपने मनकी अडिग वहादुरी-की डीग मार रही है कि "लाल" के (ऐसी दशामे नायकको "लाल" कहना काला अन्धेर है !) नेत्ररूपी दुश्शासन ज्यो ज्यो खींचते जाते है, त्यो त्यो द्रौपदीके चीरकी तरह मेरा मनरूप वस्त्र वरावर वढ़ता जाता है ! अभिप्राय यह कि लाल (अहेरी) रूपके दाने डालकर अपने नेत्रोका जाल कितना ही फेलावे पर मेरे मन-पक्षीको नहीं पकड़ सकता ! यदि यही वात है तो 'विशुद्ध' रसा-भास है। यदि इसके कहने वाली दूती है, 'लाल' सुननेवाले है, जिसके विषयमे कहा जा रहा है वह कोई "पतिव्रता" है तव भी यही वात है । और कोई छिपा भेद हो तो रसनिधिजी जानते होगे ।

विहारीकी "पूर्णोपमा" वड़ी मनोहर है । विरहिणी विरहकी अनन्त दीर्घतासे घवराकर कहती है कि अवधिरूप

पराक्रमी दुश्शासन विरहको खूब खींच रहा है, पर विरहका अन्त नहीं हाथ आता, वह द्रौपदीके चीरकी तरह बढ़ता ही जाता है। मतलब यह कि अवधि भी विरहवेदनाको दूर करनेमें असमर्थ है, आनेकी अवधि आती है, परन्तु प्रिय नहीं आता, अवधि समाप्त हो जाती है, पर विरहकी समाप्ति नहीं होती, दुश्शासनके समान अवधि अपना पूरा ज़ोर लगाकर थक जाती है पर पाञ्चालीके चीरकी तरह विरहका अन्त नहीं मिलता, वह बढ़ता ही जाता है।

\+ + +

पत्रा ही तिथि पाइयतु, वा घर के चहु पास
नित प्रति पून्यो ई रहे, आनन ओप उजास ४८९ (सतसई)

\+ + +

कुहूनिसा तिथिपत्रमें, बाचन कौं रहि जाइ
तुव मुख ससिकी चांदनी, उदै करत है आइ १६७
[रतनहजारा]

× × ×

बिहारीके दोहेमें और रसनिधिके दोहेमें इतना ही भेद है, जितना "पून्यो" [पूर्णमासी] और "कुहूनिसा" (अमावस्या) में होना चाहिये! "कुहूनिसा" कहनेसे अन्य तिथियोंकी सत्ता समझी जा सकती है, सिर्फ़ कुहूनिसा बांचनेको रह जाती है और अन्य अष्टमी दशमी आदि निशाएं देखनेको रहजाती है, ऐसा समझा जा सकता है। बिहारीके यहां केवल 'कुहूनिशा' की ही नहीं सब तिथियोंकी यही दशा है। वहां पूर्णमासीका एकछत्र राज्य है, बाक़ी सबकी सब तिथियां तिथिपत्रके क़िलेमें एक साथ नज़रबन्द है, बाहर नजर नहीं आती। × × ×

एक संस्कृत कविने भी इस मज़मूनपर तबीअत लड़ायी है, यह बहुत आगे बढ़ गये हैं, कहते है—

" तानि प्राञ्चि दिनानि यत्र रजनी सेहे तमिस्रापदं,
सा सृष्टिर्विरराम यत्र भवति ज्योत्स्नामयो नातप. ।
अद्यान्य: समयस्तथाहि तिथयोऽप्यस्या मुखस्योदये
हस्ताहस्तिकया हरन्ति परितो राकावराकीयश. ॥ "

× × ×

अर्थात् वह पुराने दिन गये जब रात काली कहलाती थी, वह सृष्टि हो चुकी, जब धूपमे चांदनी नही खिलती थी, आज कुछ और ही समय है, देखो न, इसके मुखके उदय होनेपर बदाबदीसे सब तिथियां, पूर्णमासी बेचारीके यशको चारो ओर-से लूट रही है ! प्रत्येक तिथि पूर्णमासी होनेका दम भरती है !

इसमे बात इतनी बढ़ादी गयी है कि सुनते ही बनावटीपनकी बू आने लगती है। जब सारी दुनियामे ही यह हालत है तो फिर यह सुनाया किसे जा रहा है ! सुननेवाला भी तो इस दशा-विपर्यासको स्वयं देखरहा है, हां, यदि वह बहुत दिनो बाद किसी दूसरी सृष्टिसे लौटकर पूछ रहा है तो हो सकता है ! " सब तिथियां चारो ओरसे पूर्णिमाके यशको लूट रही है " इस कहनेसे यह भी पाया जाता है कि तिथियोकी पृथक् सत्ता अभी बनी है पर वह पूर्णमासी सी होरही है । विहारीके "पत्राही तिथि पायनु" मे इससे अधिक हृदयहारी चमत्कार है, विहारीके यहां सिर्फ़ " वा घरके चहु पास " —की बात कही गयी है, जो बेतकल्लुफ़ कही और सुनी जा सकती है, इस उक्तिके चमत्कारमे कृत्रिमताकी प्रतीति नही होती, कहनेके ढंगमे इतनी सादगी और बेसाख्तगी है कि आश्चर्यजनक होने पर भी बात सच्ची सी जान पड़ती है ।

" उर्दू के किसी तुकवन्दने भी किसीको अटारीपर चढ़ाकर रातका ख़ात्मा कराया है और चांदको मैदान छोड़कर भगायाहै—

" तमाम रात हुई करगया किनारा चांद

वस उतरो वामसे तुम जीते और हारा चांद " ।

पर इनके वामसे-अटारीसे-नीचे उतरते ही फिर रात हो जायगी और चांद जीत जायगा, वह फिर चमकने लगेगा! यह अच्छा 'सूर्य' है जो अटारीसे नीचे उतरते ही वन्द मकान का—तहख़ानेका—चिराग़ वन जाता है!

× × ×

ऊपर जिन हिंदी कवियोकी कवितासे विहारीकी तुलना की गयी है, वे सव अपने अपने ढंगके वहुत अच्छे कवि थे, उनकी कवितामे भी जहाँ तहाँ असाधारण चमत्कार पाया जाता है। पर जहाँ कही ये लोग विहारीकी चालपर चले हैं—विहारीने जिन मज़मूनोपर क़लम तोड़ दिया है, उनपर जब इन्होने क़लम उठाना चाहा है—वहाँ रह गये हैं। यही दिखाना इस तुलनाका अभिप्राय है।

कविवर भिखारीदासकी गणना हिंदीके आचार्योंमे की जाती है। इन्होंने प्रायः कविताके प्रत्येक अङ्गपर लिखा है। पर यह भी जहाँ विहारीका अनुकरण करने लगे हैं, वहां वैसा चमत्कार नही ला सके है, जैसा नीचेके उदाहरणसे सिद्ध है। पर इससे इनके श्रेष्ठ कवि होनेमे सन्देह नही किया जा सकता।

। एक मशहूर शाइरने इसी भाव को इस प्रकार प्रकट किया है —

आज की रात जो तू मह के मुकाविल हो जाय।

चांदनी मैली हो धुलवाने के काविल हो जाय।

चित-वित बचत न हरत हठि, लालन दृग बरजोर
सावधान के बट पग, ये जागतके चोर (विहारी)

❀ ❀ ❀

लाल निहारे दृगनकी, हाल कही नहिं जाय
सावधान रहिये नऊ, चित-वित लेत चुराय
(काव्यनिर्णय)

* * *

थोड़ा ध्यान देकर देखिए तो दोनोंके शब्दार्थमें बहुत अधिक भेद प्रतीत होगा।
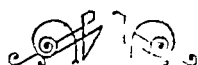
विहारीका विरह-वर्णन
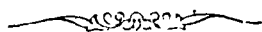
अन्य कवियोंकी अपेक्षा विहारीने विरहका वर्णन बड़ी विचित्रतासे किया है, इनके इस वर्णनमे एक निराला वांकपन है—कुछ विशेप 'वक्रता' है, व्यङ्ग्यका प्रावल्य है, अतिशयोक्ति और अत्युक्तिका (जो कविताकी जान और रसकी खान है) अत्युत्तम उदाहरण है। जिसपर रसिक सुजान सौजानसे फ़िदा हैं। इस मज़मूनपर और कवियोंने भी खूब ज़ोर मारा है, वहुत ऊँचे उड़े हैं, वडा तूफ़ान बांधा है, 'क़यामत वरपा' करदी है, पर विहारीकी चाल—इनका मनोहारी पदविन्यास—सबसे अलग है। उसपर नीलकण्ठ दीक्षितकी यह उक्ति पूरे तौरपर घटती है—

"वक्रोक्तयो यत्र विभूषणानि
वाक्यार्थबाधः परमः प्रकर्षः।
अर्थेषु बोध्येष्वभिधैव दोषः
सा काचिदन्या सरणिः कवीनाम् ॥"

× × ×

१-सीरे जतननि सिसिर रितु, सहि बिरहिन-तन-ताप
बसिबेको ग्रीषम दिननि, पर्यौ परोसिन पाप

❀ ❀ ❀

सखी नायकसे (अथवा सखीसे) नायिकाका विरह निवेदन कर रही है कि शीतलोपचारसे—ठंडे उपायोसे-शिशिर ऋतु (अगहन-पूस) मे तो विरहिणीके तनको ताप पड़ौसियोंने किसी तरह सहन की। पर अब ग्रीष्म (ज्येष्ठ—आषाढ़) के दिनोमें उन्हे उसके पासमे बसना पाप, (दुःखप्रद) होगया!

× × ×

२-आड़े दै आले बसन, जाड़े हू की राति
साहस कै कै नेहबस, सखी सबै ढिग जाति

❀ ❀ ❀

भावार्थ—जाडेकी रातमे भी, पानीसे भीगे कपड़ेको आड करके (ओढ़कर या ओट करके) सारी सखियां प्रीतिके कारण हिम्मत कर करके, उस (विरहिणी) के समीप जाती है।

जाड़ेकी रातमें जब कि शीताधिक्यसे ठिठरे हुए अङ्गोंको आग तपाकर ठीक करनेकी आवश्यकता पड़ती है, जलती हुई भट्टी, सुलगती हुई अंगीठी और दहकते हुए अलावके सामने बैठना नितान्त सुखकर प्रतीत होता है। विरहिणीके

पास उसकी सखियां, प्रीतिसे प्रेरित होकर, हिम्मत कर कर-के गीले कपड़ेकी आड़में जाती हैं।

विरहतापकी प्रबलताका कुछ ठिकाना है! विरहिणीके पड़ौसियोंने ठंडे उपायोंसे—धारागृहोंमें बैठकर, तहखानों और ख़सख़ानोंमें लेटकर, कर्पूरमिश्रित चन्दनपङ्क शरीरसे लपेटकर, जाड़ोंके दिन तो किसी प्रकार काट दिये, पर गर्मियां कैसे काटी जायँ! गांव छोडकर भागना ही पड़ेगा!

❀ ❀ ❀

३—औंधाई सीसी सुलखि, विरह वरति बिललात

बीचहि सूख गुलाब गौ, छींटौ छुई न गात

❀ ❀ ❀

भावार्थ—विरहसे बलती हुईको कराहते और रोते देख-कर सखीने गुलाबजलकी सीसी उसके ऊपर उलट दी। पर बीचमे ही गुलाव-जल सूख गया, शरीरपर एक छींट भी न गिरी।

विरहाग्निकी लपटें कितनी प्रचण्ड होंगी, जिन्होंने निरक्ष देशकी सन्तप्त भूमिकी प्रखर उष्माकी तरह ऊपर ही सारे जलको सोख लिया, नीचेतक एक बूंद भी न पहुंचने दी!

❀ ❀ ❀

४—जिहि निदाघ दुपहर रहै, भई माहकी राति

तिहि उसीरकी रावटी, खरी आवटी जाति

° ° °

भावार्थ—जिस (रावटी)मे ग्रीष्मकालकी दुपहर (मध्याह्न) भी माघकी रात्रि हुई रहती है, उसी खसकी रावटी (टट्टी या बंगले)मे वह विरहिणी अत्यन्त औटी (उबली) जाती है!

❀ ❀ ❀

कविवर भिखारीदासने विहारीलालके उल्लिखित १, २, ३, ४ दोहोंसे कतरन लेकर कवित्तकी यह कन्था तयार की है—

" एरे निरदई दई दरस तो दैरे वह
ऐसी भई तेरे या विरह ज्वाल जागि कै,
'दास' आसपास पुर नगर के वासी उत
माह हू को जानत निदाहै रह्यो लागि कै।
लै लै सीरे जतन भिगाए तन ईठ कोऊ,
नीठि ढिग जावै तऊ आवै फिर भागि कै
दीसी मै गुलाब जल सीसीमें मगहि सूखै,
सीसी यौं पिघलि परै अंचल सो दागि कै॥"

(दास—शृंगारनिर्णय)

❀ ❀ ❀

५—हौं ही बौरी विरहवस, कै बौरो सब गाम
कहा जानि ये कहत हैं, ससिहि सीतकर नाम

× × ×

भावार्थ—विरहके कारण मै ही बावली हूं, या सारा गॉव ही बावला है। क्या समझकर ये लोग चन्द्रमाको "शीतकर" (ठंडी किरणोंवाला) कहते हैं।

विहारीके इस अतिप्रसिद्ध दोहेको देखकर पण्डितराज जगन्नाथका इसके भावसे मिलता जुलता यह पद्य याद आ जाता है—

"संग्रामाङ्गणसम्मुखाहतकियद्विश्वम्भराधीश्वर-
व्यादीर्णीकृतमध्यभागविवरोन्मीलन्नभोनीलिमा।
अङ्गारप्रखरैः करैः कवलयन्नेतन्महीमण्डलं

मार्तण्डोयमुदेति केन पशुना लोके शशाङ्कीकृतः ॥"

(भामिनीविलास)

\+ + +

चन्द्रोदयको देखकर विरही कहता है कि अंगारोंकी तरह तीक्ष्ण किरणोंसे भूमण्डलको भस्म करता हुआ यह तो प्रचण्ड मार्तण्ड निकल रहा है। कौन पशु है जो इसे चन्द्रमा कहता है? इसमें जो श्यामता दीख पड़ती है, वह शशलाञ्छन नहीं है, किन्तु रणभूमिमें सम्मुख लड़कर मरे हुए वीर क्षत्रियोंके द्वारा फटे हुए मध्यभागसे आकाशकी नीलिमा चमक रही है!

सहृदय सज्जनगण! दोनों कवियोंके यहां वर्णनीय विषय एक ही है, पर दोनोंकी उक्तियोंमें वक्तृभेद स्पष्ट झलक रहा है।

"मैं ही बावली हूं, या सारा गाँव पागल है" इत्यादि सन्देहयुक्त कथनसे कहनेवालीकी उद्वेगदशा, विरहव्याकुलता, दीनता, आत्मविस्मृति, इत्यादि दशाका बोध होता है। विपत्ति और व्याकुलताकी दशामें मनुष्य संज्ञाशून्य सा हो जाता है, उसे अपने अनुभव और ज्ञानपर पूरा भरोसा नहीं रहता, प्रत्यक्षसिद्ध विषयोंपर भी सन्देह होने लगता है, निश्चयात्मक ज्ञान जाता रहता है। विहारीने विरहिणीकी उद्वेगदशाका यह बड़ा ही सुन्दर चित्र खींचा है। इस बयानमें क्या ही भोलापन है! "मालूम नहीं इस जलानेवाले चन्द्रमाका नाम 'शीतकर' क्यों रखा गया है!" इस विवक्षित अर्थमेंसे "विरहिजनोंको दुःखप्रद—जलानेवाला" यह भाव शब्दद्वारा प्रतीत नहीं कराया गया, किन्तु "विरहवल" पदसे ध्वनिद्वारा बतलाया गया है। यह विरहिजनोंको जला रहा है। इससे इसे "शीतकर" न कहकर "चण्डांशु" कहना चाहिये

इस प्रकार हेतुपुरःसर खुले कथनमे यह "सहृदयहृदयैकसवेद्य" आनन्द नही रहता! विरहव्याकुल जनको उस उद्वेग और दैन्यदशामे इस हेतुवाद, या "कौन पशु इसे चन्द्रमा कहता है यह तो सूर्य निकल रहा है" इस प्रकारके "प्रौढिवाद" का साहस कैसे हो सकता है! विरहजन्य पागलपनकी दशामे यह शास्त्रीय ज्ञानगुदड़ी—(रणमे सम्मुख लड़कर मरा हुआ वीर सूर्यमण्डलको भेदन करके दिव्यलोकको प्राप्त होता है[1]) और वीररसोचित मीलो लम्बे समास, कुछ वैसे अच्छे नही लगते जैसा कि "विरहके कारण मै ही बावली हो रही हूं, या सब गांव बावला है, क्या समझकर ये लोग इस चद्रमाको शीतकर कहते है" यह सीधा सादा, भोला भाला, दैन्यदशोचित सन्देहात्मक कथन।

× × ×

६—व्हा ते व्हा व्हा ते यहा, नैको धरति न धीर

निसि दिन डाढी सी रहै, वाढी गाढी पीर

— — —

भावार्थ—यहां से वहा जाती है और वहांसे यहां आती है, ज़रा भी धीरज नहीं धरती। रात दिन जली सी रहती है, विरहपीड़ा अत्यन्त बढ़ी हुई है।

पीड़ाके लिये आगकी जलन प्रसिद्ध है। जले हुए आदमी को किसी ढब कल नहीं पड़ती। वह व्याकुलताका मारा इधरसे उधर, उधरसे इधर बेचैनीसे तड़पता फिरता रहता है।

---

[1] द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र! सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हत॥ (म० भा०)

"कल नहीं पड़ती किसी करवट किसी पहलू उसे।"

× × ×

७-इत आवत चलि जाति उत, चली छ सातिक हाथ

चढ़ी हिडोरे से रहै, लगी उसासनि साथ

❀ ❀ ❀

भावार्थ—श्वास छोड़नेके समय छ सात हाथ इधर—आगेकी ओर—चली आती है और श्वास लेनेके समय छ सात हाथ पीछे चली जाती है। उच्छ्वासोंके झोंकोंके साथ लगी हिंडोले पर चढ़ी सी झूलती रहती है।

तन्वीकी विरहकृशता और वियोगमें दीर्घोच्छ्वासोंकी बहुलता और प्रबलता कैसे अच्छे ढंगसे वर्णन की है! नायिका विरहमें इतनी कृश हो गयी है कि श्वासोंके हिडोलेपर चढ़ी हुई, इधरसे उधर झूलती रहती है।

विरह-कृशताका वर्णन महाकवि बिल्हणने भी अनुपम काव्य "विक्रमाङ्कदेवचरित" के नवम सर्गमें अच्छा किया है। यथा—

प्राप्ता तथा तानवमङ्गयष्टि-

स्त्वद्विप्रयोगेण कुरङ्गदृष्टेः।

धत्ते गृहस्तम्भनिवर्त्तितेन

कम्पं यथा श्वाससमीरणेन॥

❀ ❀ ❀

राजासे "चन्द्रलेखा" के पूर्वानुरागका वर्णन करता हुआ दूत कहता है कि तुम्हारे वियोगसे उसकी शरीरलता इतनी कृश हो गयी है कि मकानके खम्भेसे टकरा कर लौटे हुए अपने श्वास-समीरणसे भी वह हिलने लगती है!

विहारीका वर्णन विल्हणसे वहुत वढ़िया है। इन्होंने गृहस्तम्भ से टकराकर लौटी हुई श्वासवायुसे शरीरको सिर्फ़ कँपाया ही है। विहारीने श्वासोंके हिंडोलेपर विठलाकर छ छ सात सात हाथ लम्बे झोंटे दिला दिये हैं। दयाकी जो आह की आंधीमें जिस्मको पत्तेकी मानिन्द उड़ा न दिया!

"जुरअत" का यह शेर भी दोहेकी तुलनाको नहीं पहुंचता—

" नातवां हूं वस्कि फ़ुरक़तसे× तेरी चूं वर्ग-काह❀
अव सवा। फैरे है इस पहलूसे॥ उस पहलू मुझे "

× × ×

८–करके मींडे कुसुम लौं, गई विरह कुम्हिलाय
सदा समीपिनि सखिनिहूं, नीठि पिछानी जाय

❀ ❀ ❀

भावार्थ—हाथसे मसले फूलकी तरह वह विरहसे ऐसी मुरझा गयी है कि सदा समीपमे रहनेवाली सखियाँ भी उसे मुश्किलसे पहचानती है।

कोमलाङ्गी नायिकाकी विरह-विवर्णताको मसले हुए फूलकी उपमा कितनी अनुरूप और सुन्दर है। मसले या मले हुए पुष्पको चतुर माली भी कठिनतासे शनाख्त कर सकता है कि यह क्या फूल है! जिसे हमेशा पास रहनेवाली सखियां भी मुश्किलसे पहचान सकें, उसकी दशा उस मले दले फूलसे क्या किसी प्रकार कम हो सकती है!

× × ×

×फ़ुरक़त—वियोग। ❀वर्गकाह—घासका पत्ता।
।सबा—हवा। ॥पहलू—करवट।

९—करी विरह ऐसी तऊ, गैल न छाँड़तु नीच
दीने हू चसमा चखनि, चाहै लखै न मीच॥

❀ ❀ ❀

भावार्थ—मौत आँखो पर चश्मा लगाकर भी ढूँढ़ना चाहे तो भी शायद उसे नही देख सकती। निकृष्ट विरहने उसकी ऐसी दशा करदी है। पर वह प्रेमपन्थको इतने पर भी नहीं छोड़ती!

विरहजन्य कृशताकी पराकाष्ठा है। आँखों पर चश्मा चढ़ाकर भी मौत नही देख सकती!

"ज़फ़र" भी एक वार हिज्र (वियोग) मे नातवानी (दुर्वलता-कृशता)के कारण ही क़ज़ा (मौत)की निगाहसे वच गये थे। शायद उस वक्त ढूंढनेवाली मौतके पास चश्मा नही था! वरना वह ज़रूर ढूंढ पाती, क्योकि "ज़फ़र"की

---

१ आतिश ने इसी भावको इस प्रकार अभिव्यक्त किया है :—
"यकी है दीदए वारीकबी को,
करे ऐनक तलब यह नातवानी।"
'नासिख' कहते है—
"इन्तहाए-लागरीसे जब नज़र आया न मै।
हँसके वो कहने लगे विस्तरको झाड़ा चाहिये॥"
'दाग' फरमाते है—
"उठे दस्ते-दुआ क्या जौफने ऐसा घुलाया है।
जिसे हम हाथ समझे थे वो खाली आस्ती निकली॥"
'नज़ीर' अकबरावादी कहते है—
"मुझ ज़ुल्फके मारेको न जंजीर पिन्हाओ।
काफी है मेरी कैदको एक मकड़ीका जाला॥"
"ये नातवां हूं कि आया जो यार मिलनेको
तो सूरत उसकी उठाके पलक न देख सका।"

नातवानी, विहारीकी विरहिणीकी तरह परमाणुताको नही पहुचो थी! ज़फ़रका शेर सुनिए—

"नातवानीने बचाई जान मेरी हिज्रमे।
कोने कोने ढूंढती फिरती क़ज़ा थी मै न था॥"

❀ ❀ ❀

"मै न था" पद यह भी प्रकट करता है कि हज़रते "ज़फ़र" मौतके डरसे मौक़ा वारदात छोड़ कर शायद कही जा छिपे थे! इसलिये भी क़ज़ा उन्हे न पा सकी! पर विहारीकी विरहिणी घटनास्थलसे भागी नही, किन्तु वहीं डटी है! "तऊ गैल न छाड़त" शब्द इस बातकी गवाही दे रहे है।

× × ×

१०-निति ससौ हसौ बचतु, मानौ इहि अनुमान
विरह अगनि लपटनि सकै, झपट न मीच सिचान

❀ ❀ ❀

भावार्थ— नित्यप्रति सन्देह रहता है कि इस (वियोगिनी) का हंस (जीव) किस प्रकार बचा हुआ है? सो यही अनुमान ठीक है कि मृत्युरूपी बाज़ (श्येनपक्षी) विरहाग्निकी लपटोसे डरकर, हंसरूपी जीवपर झपट नहीं सकता।

विरहाग्निकी ज्वालाएँ इतनी प्रचण्ड हैं कि उनके पास फटकते हुए मौतके भी पर जलते हैं!

× × ×

११-पजर्‌यो आग वियोग की, बह्यो विलोचन नीर
आठौं जाम हियो रहै, उड्यौ उसास समीर

❀ ❀ ❀

भावार्थ—आठों पहर वियोगकी आगमें हृदय पजरता—जलता—रहता है, नेत्रोंके जल (आँसुओं) में वहता रहता है और श्वास-वायुके झकोरोंमें उड़ता रहता है।

ज़रासा दिल और इतनी मुसीवतोंका सामना! आगकी भट्टी, जलकी बाढ़ और आँधीका तूफ़ान, इन सवमेंसे वारी वारी गुज़रना। आगसे बचा तो जल वहा रहा है। वहांसे छूटा तो आँधी उड़ा रही है। ऐसे मुक़ाबिलेसे घबराकर ही शायद किसीने यह प्रार्थना की है—

"मेरी क़िस्मतमें ग़म गर इतना था।
दिल भी या रब! कई दिये होते॥"

❀ ❀ ❀

महाकविराय सुन्दरने भी 'काम-लुहारके हाथका लोहा' बनाकर इस मज़मूनको अपनी कविताकी सानपर चढ़ाया है—

"कबहूं विरहागिनमे तचवै कवहूं द्वगनीरमे वोरि दियो।
पियके बिछुरे हियरा इहि काम-लुहारके हाथको लोह कियो॥"

\+ \+ \+

१२-गनती गनवे तै रहे, छतहू अछत समान

अलि! अब ये तिथि औम लौं, परे रहौ तन प्रान

भावार्थ—गिनतीमे तो आनेसे रहे, इन प्राणोका होना न होनेके बराबर है। हे सखी! अब इस (विरह दशामें) 'अवम' तिथिकी तरह ये प्राण, शरीरमे पड़े रहें।

जो तिथि घट जाती है वह अवम अर्थात् लुप्ता तिथि कहलाती है। उसे भी याददाश्तके तौरपर तिथिपत्रमें ज्योतिषी लिख छोड़ते हैं। जैसे यदि दशमी तिथि घटी हो तो उसे भी नवमी और एकादशीके बीचमे यथास्थान लिख

देते हैं। पर वह गिनतीमें नहीं आती, किसी काम भी नहीं आती। विरहिणी कहती है कि मेरे ये प्राण भी शरीरमें ख़ाली भले ही पड़े रहें, पर अवमतिथिकी तरह इनका रहना है केवल व्यर्थ।

प्राणपतिके विना प्राणोंकी नाममात्रकी विद्यमानता, परन्तु उनकी व्यर्थता और अनुपयोगिता प्रकट करनेके लिये अवमतिथिकी उपमा जितनी अनूठी, अछूती और निराली है, उतनी ही अनुरूप और हृदयहारिणी भी है। ऐसी ऐसी उपमा—जिनकी सतसईमे कमी नहीं है,—विहारीलालको उपमामे व्रजभाषाका कालिदास सिद्ध करनेके लिये पर्याप्त हैं।

× × ×

१३-विरह विपति दिन परत ही, तजे सुखनि सब अंग
रहि अब लौं व दुखौ भये, चलाचली जिय संग

* * *

भावार्थ—विरह-विपत्तिका दिन पड़तेही सब सुख तो इस शरीरका साथ कभीके छोड़कर चले गये थे। अबतक रहकर,—शरीरका साथ देकर—दु:ख भी अब जीके साथ चलनेको चंचल हो रहे है, वे भी जानेको तैयार बैठे हैं।

प्रियवियुक्त जनको सारे सुख तो वियोगके आते ही छोड़कर भाग जाते है। उनकी जगह दु:ख आ घेरते हैं और वे ऐसा धरना धरकर बैठते है कि विना जीको लिये नहीं टलते। "यह दर्देसर ऐसा है कि सर जाय तो जावे।"

× × ×

विरहदशामे प्राणोका भारभूत और दु:खप्रद प्रतीत होना, किसी विरहिणीकी इन उक्तियोंमे भी जो उसने अपने

दूर-देशस्थ प्राणपतिको उद्देश करके कही हैं, अच्छे और निराले ढंगसे वर्णित है—

"तुम बिन एती को करे, कृपा हमारे नाथ।
मोहि अकेली जानिके, दुख राख्यो मो साथ॥ १॥

❀ ❀ ❀

पिय तन तज मिलतो तुम्हें, प्रान-प्रिया को प्रान।
रहती जो न घरी घरी, औधि परी दरम्यान॥ २॥

❀ ❀ ❀

भेजत हौं यह पत्र सँग, दूत हाथ दुखरास।
नहि आओ तो राखियो, प्रान आपने पास॥ ३॥

❀ ❀ ❀

तुम पहँ धावन ते प्रथम, चलन कहत रहे प्रान।
पत्रोत्तर लगि हम इन्हे, राखे अति सनमान॥ ४॥"

× × ×

१४–मरन भलो बरु बिरह ते, यह बिचार चित जोय

मरन छुटै दुख एक को, बिरह दुहूँ दुख होय

भावार्थ—विरहकी अपेक्षा मरना बहुत भला है। यह बात चित्तमे विचार देखो, क्योंकि मरनेसे एक (मरनेवाले) का तो दुःख छूट जाता है, पर विरहमे दोनोको दुःख होता है।

मौत जो सारे दुःखोकी सिरताज है, उसे ज़िन्दगीपर क्या अच्छी तरजीह दी है। यह लेशालङ्कारका उत्कृष्ट उदाहरण और प्रतिभाका ख़ासा नमूना है।

"छूट जाएं ग़मके हाथोसे जो निकले दम कही।
ख़ाक ऐसी ज़िन्दगी पर तुम कही और हम कही॥"

(ज़ौक़)

× × ×

१५-मरिबे को साहस कियो, बढ़ी विरह की पीर
दौरति ह्वै समुहे ससी, सरसिज सुरभि समीर

❀ ❀ ❀

भावार्थ-विरहकी पीडा जो बढ़ी तो (विरहिणी) मरनेका साहस करके चन्द्रमाके सामने जाती है और कमलसे सुगन्धित पवनकी ओर दौड़ती है।

उद्दीपन विभावका यह क्या ही उम्दा उल्लेख है। विचित्रालङ्कारका क्या ही ललित लक्ष्य है। जो चीज़ें सुखका हेतु है, वही दु:खद हो रही हैं, उनसे ही मृत्यु माँगी जा रही है।

× × ×

१६-सुनत पथिक मुँह माह निसि, लुऐं चलति उहि गाम
बिन बूझे बिन ही सुने, जियति बिचारी बाम

* * *

भावार्थ--पथिकके मुँहसे यह सुनकर कि उस गाँवमे माघ मासकी रातमे भी लूएँ चलती हैं, (वियुक्त पथिक) बिना बूझे और बिना सुने ही स्त्रीका जीवित होना जान गया।

कोई दूरदेशस्थ वियुक्त पथिक अपनी प्राणप्रियाका मंगल-सवाद सुननेके लिये चिन्तित है। मुद्दतसे घरकी ख़बर नहीं मिली। यह भी मालूम नही कि घरवाली जीवित है या उसके प्राणपखेरू प्रियको ढूँढनेके लिये प्रयाण कर चुके हैं। इसी समय उसके गाँवकी ओरसे आनेवाले कुछ बटोही आपसमें बैठे बातें कर रहे हैं कि "अमुक गाँवमे माघ मासकी रातमें भी लूएँ चलती हैं, यह बड़े आश्चर्यकी बात है।" यह सुनकर उसने अनुमान कर लिया कि उसकी प्रिया अवश्य जीवित

है, अन्यथा माघ मासकी रातमे वहाँ लुएँ क्यों चलती ? मेरी विरहिणीके तनताप और विरहसन्तप्त निःश्वासने ही वहाँकी माघरात्रिको ज्येष्ठ आषाढ़का मध्याह्न बना रखा है। बेमौसम माघकी रातमे लुएँ चलनेका और कोई कारण होही नहीं सकता। इसलिए उसने उनसे इस विषयमे कुछ और पूछना या सुनना निरर्थक समझा, प्रियाको जीवित समझ घर चलनेकी ठान ली।

× × ×

एक और कविने भी किसी प्रवासीको वर्षाऋतुकी मूसलाधार वृष्टिमे भी उसके घरसे धूलके बगूले उठते रहने का समाचार किसीके द्वारा पहुचाकर विरहिणीकी जीवित दशाका बोध कराया है—

"बरखत मेह अछेह अति, अवनि रही जल पूरि।
पथिक तऊ तुव गेहते, उठत भभूरन धूरि॥"

* * *

बिहारीका दोहा इससे कही भावभरा और गम्भीर है। क्योकि यहाँ तो स्पष्टतापूर्वक प्रत्यक्षरूपमे स्वयं पथिकसे ही कोई उसके घरका वर्णन कर रहा है कि निरन्तर मूसलाधार मेह बरस रहा है, जिससे जल जङ्गल एक हो गया है। सर्वत्र पानी ही पानी दीखता है। खुश्की या धूलका कहीं नामोनिशान भी नही। परन्तु तुम्हारे घरसे इतने पर भी धूलके बगूले उठ रहे है!

सम्भव है यह वक्ता दूत बनकर आया हो और उसकी नायिकाके विरह सन्तापका अत्युक्तिपूर्ण वर्णन करके उसे घर ले जाया चाहता हो। यद्यपि धूल उड़नेके कारणका —विरह-

सन्तापका—उल्लेख यहाँ भी साफ़ शब्दोमे नही है, तथापि वक्ताका इस प्रकार पथिकको अभिमुख करके कथन, गाँवभरमें केवल उसीके घरसे धूलके भवूलेका उठना, विरहसन्तापका बोध स्पष्ट रीतिसे अनायास करा रहा है।

अब ज़रा विहारीके विरहीपर दृष्टि डालिये। उसकी दशा बिलकुल इससे भिन्न है। वे पथिक जो उस रास्तेके गाँवकी लुओका वर्णन आपसमें बैठे योंही आश्चर्य घटना समझकर कर रहे हैं, उन्हें मालूम नही, कि हमारे इस कथनको लुओंवाले उस गाँवका कोई आदमी भी सुन रहा है। लुएँ उस गाँवमे क्यों चलती हैं? किस घरसे चलती है? वहाँ कोई विरहज्वालासन्तप्ता प्रोषितपतिका रहती है या नहीं? इत्यादि बातोंका उन्हें कुछ पता ही नही, वे इस क़िस्मका कोई ज़िक्र नही कर रहे जिससे प्रतीत होता हो कि वे एक अनुभूत और आश्चर्यकारक घटनाका किसीको सुनानेको वर्णन कर रहे हैं। उनके कथनमे किसी प्रकारकी अत्युक्ति, बनावट या अतिरञ्जनाका कोई कारण किसी प्रकार भी लक्षित नही होता, उनकी बेलाग बातोसे मालूम होता है कि सचमुच ही उस गाँवमे माघकी रातमे लुएँ चल रही होगी। लुएँ चलनेके परम्परासे कारणभूत उस सुननेवालेने इतने हीसे अपनी विरहविधुरा प्रियाके जीवित होनेका पक्का अनुमान कर लिया। लुएं चलनेके कारणको वह समझ गया, उसे उस सुनी हुई आश्चर्य घटनासे समुत्पन्न अपने अनुमानकी सत्यतापर इतनी आस्था थी कि उसने उन कहनेवालोसे अधिक पूछना या जिरह करना तक फ़िज़ूल समझा। चुपचाप अपने घरकी राह ली।

गाँवभरमें लुएँ चल रही हैं और सिर्फ़ एक घरसे धूल उड़ रही है, दोनोंमे—"अन्तरं महदन्तरम् ।"

× × ×

किसी संस्कृतकविने भी कुछ ऐसी ही घटनाका वर्णन दूसरे ढंगपर किया है—

"भद्रात्र ग्रामके त्वं वससि परिचयस्तेऽस्ति जानासि वार्ता-
मस्मिन्नध्वन्यजाया जलधररसितोत्का न काचिद्विपन्ना ? ।
इत्थं पान्थः प्रवासावधिदिनविगमापायशङ्की प्रियायाः
पृच्छन् वृत्तान्तमारात्स्थितनिजभवनोऽप्याकुलो न प्रयाति ॥"

× × +

कोई पथिक प्रवासकी अवधि वीतनेपर वहुत दिनों बाद घर लौट रहा है, गांवके समीप पहुंच गया है, घरके पासही वैठा है, पर आगे बढ़नेकी हिम्मत नही पड़ती, उसे सन्देह है कि प्राणप्रिया इस वीचमे कही चल न वसी हो, मालूम करके चलना चाहिए। सामने कोई आरहा है, उससे पूछता है कि भई! तुम इसी गांवमें रहते हो? यहाँके लोगोसे तुम्हारा परिचय है? यहाँका हाल कुछ जानते हो? तुम्हे मालूम है यहाँ कोई 'प्रोषितपतिका' वादलोकी घोर गर्जनासे उत्कण्ठित हो कर मर तो नही गयी है?

इन पथिक महाशयके इस पूछनेके ढंगसे प्रतीत होता है कि आप कही चौदह वर्षका वनवास काट कर महाप्राणताकी कृपासे सही सलामत अभी लौटे आ रहे हैं, इस वीचमे गांवकी हालत ही वदल गयी है, उसमे कहीं वाहरके कुछ नये लोग भी आ वसे हैं, या जो इनके सामने छोटे वालक थे, वह अव वढ़कर इतने वड़े हो गये हैं कि पहचाने नहीं जाते। इसी दशामे इस प्रकार पूछना सम्भव है। या ऐसा हो कि अपने

गांवसे कहीं दूर रास्तेके किसी दूसरे गांवमें ही किसीसे पूछ रहे हैं—शकुन ले रहे हैं या अनुमानके लिये अवलम्ब ढूंढ रहे है, यहां ऐसी घटना हुई होगी. कोई प्रोषितपतिका मेघशब्दको सुनकर मर गयी होगी, तो वहां भी ऐसा हुआ होगा, नही तो नही। शकुन बांह पकड़ेगा, सहारा देगा, अनुमान अनुकूल होगा, तो चलेगे. नही तो लौट चलेंगे!

कुछ भी हो, विहारीका चटपटा बयान सुनकर यह अटपटा व्याकुल वर्णन किसी प्रकार भी—"संस्कृतवाचा वलात्प्रेर्यमाणमपि— सहृदय-हृदयमन्दिरं न प्रयाति।"

१७-चलत चलत लौं ले चले सब सुख संग लगाय

ग्रीषम वासर सिसिर निसि, पिय मो पास बसाय

\+ \+ \+

प्रोषितपतिका विरहिणी सखीसे कह रही है कि मानों चलते चलते प्रिय मेरे सब सुखोको अपने साथ लगाकर ले गये, और ग्रीष्मके दिन, तथा शिशिरकी रात्रियां, मेरे पास छोड़ गये। (१) सारे सुख प्रियके साथ चले जाते हैं, सुखहीन वियुक्तको दिन और रात वडे वडे दीखने लगते हैं काटे नही कटते। गर्मियोके दिन और जाडोंकी रातें बड़ी होती हैं। (२) "शिशिर ऋतुकी रात्रिमें, ग्रीष्मके दिन रख गये हैं" अर्थात् जाडेकी रातमे भी ग्रीष्मकी गर्मी प्रतीत होती है। (३) "ग्रीष्मके दिनमे शिशिरकी रात्रि छोड गये हैं"—शीतके समान सामजन्य कम्प होता है। (४) दिनमें विरहसे तपती हूं. और रातमे कामसे कांपती हूं।

❀ ❀ ❀

विद्वच्चक्रचूड़ामणि, कवितार्किकशिरोमणि महाकवि श्रीहर्षने दमयन्तीकी विरहदशाका वर्णन करते हुए लिखा है—

"अहा अहोभिर्महिमा हिमागमे-
ऽप्यभिप्रपेदे प्रति तां स्मरार्दिताम्।
तपर्तुपूर्तावपि मेदसांभरा
विभावरीभिर्विभरांबभूविरे॥"

*　　　*　　　*

अर्थात् आश्चर्य है कि उस कामपीड़िता दमयन्तीके प्रति जाड़ोंके ज़रासे दिनोंमे भी दिन बड़े होगये, और गर्मियोंकी छोटी रातें, बड़ी लम्बी होगयी।

श्रीहर्षमहाराजके इस कथनमे कोई ऐसी विशेषता या चमत्कारिता नही है, जिसपर "अहो" कहकर आश्चर्य प्रकट किया जाय! यहां "अहो" से अनुप्रासमात्रका ही आशय लिया जाना चाहिए। क्योकि "स्मरार्दिता" दमयन्तीके प्रति वियोगदशामे दिन और रातका बड़ा प्रतीत होना, जैसा कि प्रत्येक वियुक्तको प्रतीत हुआ करता है, एक अतिप्रसिद्ध तथा अनुभवसिद्ध घटना है, इसमे कुछ नवीनता या निरालापन नहीं है। परन्तु विहारीके उक्त वर्णनमें बहुर्थता और गम्भीरताके अतिरिक्त एक बांकपन है जो साफ़ झलक रहा है।

"सुखोको संग लगाकर ले जाना" ले जाने वालेके लौटने पर सुखोके लौटनेकी आशा दिलाता है। "ग्रीष्मके दिन और जाड़ोंकी रातको एक साथ छोड़ जाना" दो परस्पर-विरुद्ध बातोंके एकत्र समावेशका, एक बिलकुल नयी और असम्भवनीय घटना होनेपर भी कहनेवालीकी उस स्थितिमे यथार्थ प्रतीत होना, और कविका उसे इस प्रकार चुपचाप 'अहो" "अहा" की आश्चर्य और

विचित्रताद्योतक घोषणाके विना सादगी और सरलतासे बयान कर जाना, वर्णनवैचित्रीकी निराली और अनोखी छटा दिखला रहा है।

❀ ❀ ❀

१८-मै लै दयौ लयौ सुकर, छुवत छनक गौ नीर

लाल तिहारो अरगजा. उर ह्वै लग्यौ अवीर

* * *

पूर्वानुरागमे नायिकाके विरहकी दशा सखी नायकसे कहती है कि मैने ले जा कर अरगजा दिया, उसने अपने सुन्दर हाथमे लिया। पर छूते ही पानी छुन्न होकर जल गया। सो, हे लाल ! तुम्हारा वह अरगजा—(कई सुगन्धित पदार्थोंके योगसे वनाया हुआ एक प्रकारका उवटना)— उसकी छातीमे 'अवीर' होकर लगा।

प्रियप्रेषित पङ्कमय अरगजेको हाथमे लेते ही तापसे उसका पानी इस प्रकार छुन्न होकर उड़ गया जैसे तत्ते तवे-पर डाली हुई पानीकी वूँदे। वह जलार्द्र अरगजा सूख कर 'अवीर' वन गया और दीर्घोच्छ्वासकी वायुसे उड़कर छातीपर विखर गया! चलो खैर, किसी प्रकार काम तो आ गया। अरगजा न सही अवीर सही। वह प्रेमोपहार किसी रूपमे हृदयसे स्वीकार तो कर लिया गया। भेजनेवालेके लिये यह कम सन्तोषकी वात नही है!

श्रीसातवाहनकी प्राकृत "गाथासप्तशती"में भी एक गाथा ऐसी ही है। भेद केवल इतना ही है कि इसमे विरहके तापका वर्णन है और उसमे सयोगके सात्त्विक भाव,कम्प और प्रस्वेद का। यहाँ अरगजेका अवीर वन गया है, वहाँ अवीरका गन्धोदक (सुगन्धित अर्क केवडा या गुलावजल) हो गया है—

घेत्तूण चुण्णमुट्ठिं हरिसूससिआएँ वेपमाणाए ।
भिसणेमित्ति पिअअमॅ हत्थे गन्धोदअं जाअम् ॥४।१२॥
(गृहीत्वा चूर्णमुष्टिं हर्षोत्सुकिताया वेपमानायाः ।
अवकिरामीति प्रियतमं हस्ते गन्धोदकं जातम् ॥)

* * *

हर्षोत्सुका और प्रेमावेशमें काँपती हुई कामिनीकी अवीरकी मूठ, जिसे वह प्रियतम पर चलाना चाहती थी, (सात्त्विक प्रस्वेदसे) हाथमें गन्धोदक हो गयी ।

ख़ैर, कोई घवरानेकी वात नहीं। अवीरकी मूठ न मारी एक चुल्लू रंग डाल दिया । होली ही तो है !
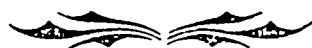
दूसरे कवियोंका विरह-वर्णन

विहारीके विरहवर्णनका कुछ नमूना सुन चुके, दूसरे कवियोंके विरह-वर्णनकी विचित्र वानगी भी देखिए—

विरहताप

कवित्त— प्यारो परदेसको गनावे दिन जोतिपी सो
व्याकुल ह्वै लखत लगन लीक खांचते,
सुनत सगुन तन तरुनीको मैन तयो
प्रान गयो पिघलि सरस काचे काँचतें ।
सासु कह्यो इतै आउ रोचन रुचिर ल्याउ
अति हि दुखित कर गह्यो लाज पांचतें
थार गयो चटक पटक नारियर गयो
मुद्रा औंटि चाँदी भई विरहकी आंचतें ॥

* * *

प्रिय परदेश जानेके लिये ज्योतिपीसे दिन पूछ रहा है मुहूर्त ठीक कर रहा है, प्यारी, ज्योतिपी को लग्नकी रेखा

खींचते व्याकुलतासे खड़ी देख रही है। शकुनका नाम सुनते ही उस गमिष्यत्पतिकाके शरीरमे कुछ ऐसी आग भड़की कि कच्चे कांचकी तरह प्राण पिघल गया। सासने विदाईकी रस्मके लिए (उसी) वहूसे थालीमे रखकर नारियल आदि लानेको कहा, कहने सुननेसे किसी तरह वह यह चीज़े ले तो आई, पर विरहाग्निकी आचसे थाल चटक गया, नारियल पटक गया, और रुपया पिघलकर चांदी वनगया!

❀ ❀ ❀

ससिमुखी सूक गयी तवते व्याकुल भई
वालम विदेसहु को चलिवो जवे कयो,
दूध दही श्रीफल रुपैया धरि थारी माहि,
माता सुत-भाल जवै रोलिकै टीको दयो।
तांदुर विसरि गयो वधुसे कह्यो ले आउ
तवतै पसीनो छुट्यो मन तन को तयो,
तांदुर ले आई तिया आंगनमे ठाढ़ी रही
करके पसारवेमे भात हाथमे भयो॥

(ग्वाल कवि)

* * *

यही वात ग्वाल कविने भी कही है, यहां और चीज़े तो पहले ही आगयी थी, रोलीके साथ टीकेपर लगानेके लिये चावल रहगये थे, सासके हुक्मसे वहूजी वही लाई हैं। पर माताके हाथ तक वह नही पहुचने पाये, लाने वालीके हाथमे पसीनेके गरम पानीमे उवलकर चावलोका भात रॅंध गया है!

\+ +

कंचनमे आंच गई चूनि चिनगारी भई
भूषन भये है सव दूषन उतारि लै,

वालम विदेस ऐसे वैसमें न लागि आगि
वरि वरि हियो उठै विरह-वयारि लै
एरी परघर कित मांगन कौ जै है आजु
आंगनमें चन्दा तै अँगार चार झारि लै,
सांझ भये भौन सँझवाती क्यों न देत आली
छातीते छुवाय दियावाती क्यों न वारि लै॥

* * *

"हिये विरहानलकी तपनि अपार उर,-
हार गजमोतिनको चटक चटक जात" ‡

❀ ❀ ❀

कोई प्रोषितपतिका विरहिणी, अपने तनतापकी दशा सखीसे कह रही है कि स्वर्णके आभूषण तनके तापसे इतने गरम हो गये है कि उनमे जड़ी हुई चुन्नी चिनगारी वन गयी, इसलिये इन भूषणोंको जल्दी उतार। आज आग लानेके लिये दूसरे घर जानेकी क्या ज़ुरूरत है, आंगनमे खड़ी होकर चार अगारी चन्द्रमासे क्यों न झाड़ ले? देखती नही कैसा दहक रहा है! सांझ हो गयी, दिया वालनेके लिये आग चाहिए? आग क्या करेगी? मेरी छातीसे छुवा कर दियाबत्ती क्यों नहीं वाल लेती!

× + —

कवित्त— सोरासों संवारिकै गुलाव माहिं ओरा डारि
सीतल वयारि हूं सों वार वार वरिये,
चैन न परत छिनु चम्पकते चन्दनतें
चन्द्रमातें चांदनीतें चौगुनी कै जरिये।

---

‡ सीतल जानि वियोगिनि के उर लै लर मोतिन की पहराई।
यों चटके मटके मुक्ताहल ज्वार भटू मनु भार भुनाई॥

'सुन्दर' उसीर चीर ऊजरेतें दूनी पीर
कमल कपूर कोरि एक ठौर करिये,
एते मानि विरहागि उठी तनमांझ लागि,
सोई होति आगि जोई आगे लाइ धरिये ॥ (सुन्दर)

विरहाग्नि इतनी प्रचण्ड हो उठी है कि जो चीज़ (ताप-शान्तिके लिये) आगे लाकर रक्खी जाती है, वही आग हो जाती है। शोरे और बरफ़से ठंडा किए गुलाबजल और शीतलवायु-से और भड़कती है। चम्पकपुष्प, चन्दनलेप, चन्द्रमाकी चांदनी इनसे और चौगुनी जलती है, उसीर (ख़स) श्वेत वस्त्र, कमल, कपूर, ये सब व्यर्थ हैं और उलटा जलाते हैं।

\+ + +

कवित्त—ऊधोजू सँदेसो नाहि कह्यो जाइ कहा कहैं
जैसी करी कान्ह तैसी कोऊ न करतु है,
जीभ तो हमारे एक कहाँ लगि कही परै
जीमे जिती कहौं तिती क्योंहू ना सरतु है।
द्वारका बसतु हरि 'सुन्दर' समुद्र ही में
इहाँ परवाह जाइ सिन्धुमे परतु है,
जानिहैं वे जमुना के जलही ते जाकी ज्वाल,
जलधिमे परयो वडवानल जरतु है ॥ (सुन्दर)

\+ * *

गोपियाँ ऊधोजीसे कहती है कि कान्हकी करतूतोंको देखे सदेसा कहा नहीं जाता, कहे भी तो कैसे कहे, एक जीभसे. जीमे जितनी बाते भरी है वह कैसे कही जायँ! तुम

जाओ, यह जमुनाका प्रवाह ही समुद्रमे ❀ पहुचकर द्वारका-वासी कृष्णसे हमारी दशा कहेगा, जिसकी ज्वालासे समुद्रकी वड़वानल जल रही है । इससे ही हमारे वियोगसन्तापका कुछ अनुमान कृष्ण कर सकेगे। हमारी विरहसंतापज्वाला ही यमुनाके प्रवाहद्वारा समुद्रमे पहुचकर वड़वानलके रूपमे जल रही है !

× × ×

कवित्त—बैठी है सखिन संग पियको गमन सुन्यो
सुखके समूहमे वियोग आग भरकी,
"गंग" कहै त्रिविध सुगन्ध लै वह्यौ समीर
लागत ही ताके तन भई व्यथा ज्वरकी ।
प्यारीको परसि पौन गयौ मानसर पै सु
लागत ही औरै गति भई मानसरकी,
जलचर जरे औ सेवार जरि छार भई
जल जरि गयो पंक सूक्यौ भूमि दरकी ॥"

(महाकवि गंग)

❀ ❀ ❀

❀ आंसुओका समुद्र

समुन्दर कर दिया नाम उसका नाहक सबने कह कहकर।
हुए थे जमा कुछ आँसू मेरी आँखों से वह वह कर ॥ (सौदा)

गोपिनके अँसुवानके नीर जे मोरी बहे बहिके भये नारे,
नारे भये नदिया बढ़ के नदिया नदते भये फाट करारे ।
वेगि चलो तो चलो उतको कवि "तोष" कहे ब्रजराज दुलारे,
वे नद चाहत सिन्धु भये पुनि सिन्धु ते ह्वै हैं जलाहल सारे ॥

गंग कवि कहते हैं कि प्रियके परदेश जानेकी बात सुनकर 'प्रवत्स्यत्पतिका' के वियोगकी आग ऐसी भड़की कि उसे छूकर—गरम होकर—जो वायु मानसरोवरपर पहुंचा तो मानसरोवरके जलचर पक्षी और मछली आदि जलजन्तु सब जल गये। सिवार जलकर राख होगयी। पानी जलकर उड़ गया। कीच सूख गयी और भूमि दरार खाकर फट गयी!

× × ×

कवित्त— दूरही ते देखत बिथा मैं वा वियोगिनि की
आई भले भाजि ह्याँ इलाज मढ़ि आवैगी,
कहै "पद्माकर" सुनो हो घनश्याम जाहि
चेतत कहूं जो एक आहि कढ़ि आवैगी।
सर सरितान को न सूखत लगैगी देर
एती कछु जुलुमिन ज्वाला बढ़ि आवैगी
ताके तनताप की कहौं मैं कहा बात मेरे
गात ही छुवेतें तुम्हे ताप चढ़ि आवैगी॥"

(पद्माकर)

❀ ❀ ❀

घनश्यामसे कोई किसी वियोगिनीकी दशा सुना रही है कि मैं दूरहीसे उसकी व्यथा देखकर भाग आयी हूं. उसके पास पहुंचकर देखती तो जल ही जाती। उसके तनतापकी बात क्या कहूं, तुम मेरा शरीर ही छू देखो. फिर तुम्हें ताप न चढ़ आवे तो बात है। वह मूर्छामें बेसुध पड़ी है, इतनी खैर है, होशमें आकर उसके मुंहसे कहीं कोई आह निकल गयी तो, तालाब और नदियोंके सूखने कुछभी तो देर न लगेगी!

× × ×

प्रलयकारी आह

कवित्त—"शंकर" नदी नद नदीसनके नीरनकी
भाप बन अम्बर तें ऊची चढ़ जायगी,
दोनों ध्रुव छोरन लौं पलमें पिघल कर
घूम घूम धरनी धुरी सी वढ़ जायगी।
झारेंगे अंगारे ये तरनि तारे तारापति
जारेंगे खमण्डल में आग मढ़ जायगी,
काहू विधि विधिकी बनावट बचेगी नाहि
जो पै वा वियोगिनी की आह कढ़ जायगी ॥

(पं० नाथूरामशंकरशर्मा "शंकर")

❀ ❀ ❀

अत्युक्तिकी पराकाष्ठा है—मुवालग़ा हदसे परे पहुच गया है। "शंकरजी" ने इस 'आह' के असरको "शंकर" के उस प्रलयकारी नेत्रकी अग्निके प्रभावसे भी ऊपर पहुंचा दिया। वह इच्छापूर्वक प्रयत्नसे तीसरी आंख खोलकर संसारको भस्म करते हैं, अहां अचानक, अनायास ही ऐसा हुआ चाहता है!

"जो पै वा वियोगिनी की आह कढ़ि जायगी"—
तो क्या होगा? होगो क्या, महाप्रलय हो जायगी—
"काहू विधि विधिकी बनावट बचैगी नाहिं"—

ब्रह्माकी सृष्टि किसी तरह नही बचेगी, आहकी आंचसे नदी, नद और समुद्रोंके पानीकी भाप बनकर आसमानसे ऊपर चढ़ जायगी। पृथ्वी पलभरमें दोनो ध्रुवोंके किनारों तक पिघल कर और घूम घूमकर धुरीको तरह वढ़ जायगी!

सूर्यसे, तारोंसे और चन्द्रमासे अँगारे झड़ने लगेंगे, तमाम आकाशमण्डलमें आगही आग छा जायगी !

× × ×

आहका भाड़

शेर—जो दाने-हाय अन्जुमे-गर्दूको डाले भून।
उस आह शोलाख़ेज़को "इन्शा" तू भाड़ बाँध॥
(इन्शा)

* * *

'इन्शा' कहते हैं कि जो आह, आसमानके तारोंको अनाजके दानोंकी तरह भून डाले, उसे तू भाड़ बांध—भाड़से उपमा दे।❀

× × ×

आहसे आसमानमें सूराख़

शेर—तारे तो ये नहीं मेरी आहोंसे रातकी,
सूराख़ पड़ गये हैं तमाम आसमानमें।❀
(मीर तक़ी)

* * *

मीरसाहब फ़र्माते हैं, कि जिन्हें तुम तारे समझते हो, ये तारे नहीं हैं, मेरी रातकी आहोंसे आसमानमें सूराख़ (छिद्र) पड़ गये हैं, वही पड़े चमक रहे हैं !

× × ×

शेर—करूँ जो आह ज़मीं वो ज़मां जल जाय।
सपहरे-नीलीका यह सायबां जल जाय॥ (मीर तक़ी)

❀ ❀ ❀

---

१ बन्द हो जाते हैं सय्यारों की चालें खौफ से
फेंकता हूँ जब मैं दिल से आह आतिश-बार को। (नासिख)

मैं आह करूँ तो ज़मीन और उसपरके जीव जन्तु सब जल जायँ, यही नहीं, नोले आकाशका जो ऊपर यह 'सायबान' तना है, यह भी जलकर खाक हो जाय।

× × ×

"हम नहीं ऐ आह! तो सारा ज़माना हेच है,
फूक दे सबको ज़मीं हो आसमां हो कोई हो"

❀ ❀ ❀

माफ़ कीजिये, खुदारा इस आहको रोकिये। बेगुनाह खल्के-खुदा को तबाह न कीजिये। आप भी रहिये और ज़माने को भी रहने दीजिये।

× × ×

"विरहकी ज्वालन सो बीजुरी जराय डारौं,
स्वासनि उड़ाऊँ बैरी बेदरद बादरनि"

विरहिणीके इस विचार पर किसीको आपत्ति नहीं हो सकती। ज़रूर, विरहकी ज्वालासे, जलावा बिजलीको जला देना चाहिए और दीर्घोच्छ्वासकी आँधीसे, बेदरद बैरी बादलोंको उड़ा देना चाहिए।

× × ×

शेर—"उड़ाके आहका शोला कभी बनायँगे हम,
शबे-फ़िराक़मे खुरशीद आसमांके लिये।" (ज़ौक़)

❀ ❀ ❀

कहते हैं कि हम आहका शोला उड़ा कर कभी वियोगकी रात्रिमे आसमानके लिये सूर्य बनायँगे!

× × ×

शेर—न करता ज़ब्त मैं नाला तो फिर ऐसा धुआँ होता,
कि नीचे आसमांके एक नया और आसमां होता" (ज़ौक़)

मैं अपने नालेको (दुःख-चीत्कारको) न रोक लेता तो फिर उससे ऐसा धुआँ होता कि इस आसमानके नीचे एक और नया आसमान बन जाता।

आपने बड़ी कृपा की, जो नाला ज़ब्त कर लिया, यह एक ही आसमान चैन नहीं लेने देता। दो हो जाते तो न जाने क्या होता!

× × ×

"नाला एक दममें उड़ा देवे धुएँ,
चर्ख़ क्या और चर्ख़की बुनियाद क्या?" (मोमिन)

* * *

बेशक, आपका नाला ऐसा ही बाअसर है।

× × ×

तनतापसे पानीमें भाप

दोहा— सीतकाल जल माँझते, निकसत भाप सुभाय।
मानो कोऊ विरहिनी, अब ही गयी अन्हाय॥ ❀

❀ ❀ ❀

जाड़ोंके दिनोंमें जो नदी या तालाबके पानीसे भाप उठती है, इसपर क्या अच्छी "उत्प्रेक्षा" है। मानो कोई विरहिणी अभी इसमें नहाकर गयी है, उसके तनतापसे जल इतना गरम हो गया है कि उससे भाप निकल रहा है!

× × ×

❀ "धूम तरगनि तें उठत यह अचरज मन माहि,
अनल रूप कोउ कामिनी मज्जन करगई माहि॥
(शेख़ शाह मुहम्मद 'शाह'
बिलग्रामी, र दन्या)

दरयामें आवले

शेर—आवले पड़ गये दरयामें नहीं है यह हुवाब,
आशना जलके मगर आपका डूबा कोई।

* * *

यह नदीमें बुलबुले नहीं हैं, किन्तु आवले पड़ गये हैं, कोई वियोगाग्निमें जला प्रेमी इसमें डूब मरा है, उसीकी आँचसे यह पानीके जिस्मपर आवले (छाले) पड़ गये हैं!

× × ×

शेर—अपने सोज़े-दिलसे ऐसा तावए-गर्दू है गर्म,
सुवहके होतेही हर अख़्तर तवेकी बूंद है। (निकहत)

❀ ❀ ❀

कहते हैं कि हमारे दिलकी आँचसे आसमानका तवा ऐसा गरम है कि सुवह होते ही (उसपर छिटके) सब तारे 'तवेकी बूंद' (दृष्टनष्ट) हो जाते हैं—छन छनाकर छिप जाते हैं।

× × ×

जिगरका धुआँ

शेर—"नीला नहीं सपहर तुझे इश्तवाह है,
दूदे-जिगरसे मेरे यह छत सब सियाह है।"
(मीर तक़ी)

❀ ❀ ❀

यह तुम्हें भ्रान्ति है कि आसमानका रंग नीला है, फिर यह काला क्यों दीखता है? इसलिये कि मेरे जिगरके धुंएँसे यह आसमानकी छत काली पड़ गयी है।

\+ \+ \+

शेर—मेरे दूदे-आहसे याँ तक ज़माना है सियाह।
आफ़ताबे-आसमां ज़ंगीके मुंहका ख़ाल है॥
(ज़ौक़)

मेरी आहके धुएंसे ज़माना यहाँ तक स्याह है कि सूर्य हबशीके मुंहका तिल मालूम देता है।

\+ + +

दिलकी जलन

शेर—"यही सोज़े-दिल है तो महशरमें जलकर,
जहन्नुम उगल देगा मुझको निगल कर"
(अमीर मीनाई)

* * *

यही दिलकी जलन है तो क़यामतमें जहन्नुम (नरक) भी मुझे अपने अन्दर रख न सकेगा, वह भी निगल कर, गरमीके मारे बाहर उगल देगा!

× × ×

शेर—वाइज़ा! सोज़े-जहन्नुमसे डराता है किसे?
दाबे फिरते हैं बग़लमें दिलसा आतिशख़ाना हम।
(सौदा)

* * *

अजी वाइज़ साहब! (उपदेशकजी) यह आप दोज़ख़की आगसे डराते किसे हैं? हमतो बग़लमें दिलसा आतिश-ख़ाना—(हृदय जैसी दहकती भट्टी)—दाबे फिरते हैं। फिर तुम्हारे जहन्नुमकी आंच इसके सामने क्या चीज़ है। उसमें तो इससे हज़ारवां हिस्सा भी कहीं गरमी नहीं!

× × ×

दरयामें आवले

शेर—आवले पड़ गये दरयामें नहीं हैं यह हुबाव,
आशना जलके मगर आपका डूवा कोई।

* * *

यह नदीमें बुलबुले नहीं हैं, किन्तु आवले पड़ गये हैं, कोई वियोगाग्निमें जला प्रेमी इसमे डूब मरा है, उसीकी आँचसे यह पानीके जिस्मपर आवले (छाले) पड़ गये हैं!

× × ×

शेर—अपने सोज़े-दिलसे ऐसा तावए-गर्दूं है गर्म,
सुवहके होतेही हर अख़्तर तवेकी वूंद है। (निकहत)

❃ ❃ ❃

कहते हैं कि हमारे दिलकी आँचसे आसमानका तवा ऐसा गरम है कि सुवह होते ही (उसपर छिटके) सब तारे 'तवेकी वूंद' (दृष्टनष्ट) हो जाते हैं—छन छनाकर छिप जाते हैं।

× × ×

जिगरका धुआँ

शेर—"नीला नहीं सपहर तुझे इश्तबाह है,
दूदे-जिगरसे मेरे यह छत सब सियाह है।"
(मीर तक़ी)

❃ ❃ ❃

यह तुम्हें भ्रान्ति है कि आसमानका रंग नीला है, फिर यह काला क्यों दीखता है? इसलिये कि मेरे जिगरके धुंएँसे यह आसमानकी छत काली पड़ गयी है।

\+ \+ \+

शेर—मेरे दूदे-आहसे याँ तक ज़माना है सियाह।
आफ़ताबे-आसमां ज़ंगीके मुंहका ख़ाल है॥
(ज़ौक़)

मेरी आहके धुएंसे ज़माना यहाँ तक स्याह है कि सूर्य हवशीके मुंहका तिल मालूम देता है।

+ + +

दिलकी जलन

शेर—"यही सोज़े-दिल है तो महशरमें जलकर,
जहन्नुम उगल देगा मुझको निगल कर"
(अमीर मीनाई)

* * *

यही दिलकी जलन है तो क़यामतमें जहन्नुम (नरक) भी मुझे अपने अन्दर रख न सकेगा, वह भी निगल कर, गरमीके मारे वाहर उगल देगा!

× × ×

शेर—वाइज़ा! सोज़े-जहन्नुमसे डराता है किसे?
दाबे फिरते हैं वग़लमें दिलसा आतिशख़ाना हम।
(सौदा)

* * *

अजी वाइज़ साहव! (उपदेशकजी) यह आप दोज़ख़की आगसे डराते क़िसे हैं? हमतो वग़लमें दिलसा आतिशख़ाना—(हृदय जैसी दहकती भट्टी)—दाबे फिरते हैं। फिर तुम्हारे जहन्नुमकी आंच इसके सामने क्या चीज़ है। उसमे तो इससे हज़ारवां हिस्सा भी कहीं गरमी नही!

× × ×

हालीने भी "मुनाजाते-बेवा" में वैधव्यविरहयन्त्रणाके सामने नरकके दुःखको कैसा तुच्छ ठहराया है—

"जिसने रँडापा झेल लिया है,
डर उसे दोज़खका फिर क्या है !

* * *

विरहाग्निकी असह्यता

श्रीहर्षने विरहाग्निकी असह्यता, कितने अच्छे ढंगसे प्रमाणित की है—

"दहनजा न पृथुर्दवथुर्व्यथा
विरहजैव पृथुर्यदि नेदृशम् ।
दहनमाशु विशन्ति कथं स्त्रियः
प्रियमपासुमुपासितुमुद्धुराः ।"
(नैषध)

* * *

साधारण आगमें जलनेकी व्यथा, कुछ बड़ी संतापव्यथा नहीं है, विरहाग्निकी व्यथा ही असह्य व्यथा है, अन्यथा विरहिणी स्त्रियां परलोकप्रवासी पतिसे मिलनेको दहकती हुई चितामे झटपट बेधड़क क्यों कूद पड़ती हैं !

—*—

चन्द्रोपालम्भ

रात्रिराज ! सुकुमारशरीरः
कः सहेत तव नाम मयूखान् ।
स्पर्शमाप्य सहसैव यदीयं
चन्द्रकान्तदृषदोऽपि गलन्ति ॥
(मङ्खक, श्रीकण्ठचरित)

* * *

हे रात्रिराज चन्द्र! तुम्हारी इन किरणोंको भला कौन सुकुमारशरीर—(नाजुक-वदन) सह कहता हूँ। इन्हे—जिनका स्पर्श पाते ही—ज़रा छूते ही—चन्द्रकान्त पत्थर भी पिघलकर वह पड़ते हैं!

जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंके स्पर्शसे सूर्यकान्तमणिसे आग निकलने लगती है, इसी प्रकार चन्द्रमाकी किरणोंका स्पर्श पाकर चन्द्रमणिसे पानी टपकने लगता है। बड़ी सुन्दर सूक्ति है।

× × ×

येन स्वेन करेण शोकदहने संदीप्य काष्ठावलीं
निःक्षिप्तौ द्विजदम्पती प्रतिदिनं यो वारुणीं सेवते।
पद्मिन्याश्च सुवर्णहारमकरोद्दारा गुरोराहृताः
संसर्गश्च कपालिना सखि न किं दोषाकरे दूषणम्॥

❋ ❋ ❋

बड़ा बढ़िया "श्लेष" है। पांचों महापातक ऐसी खूबीसे चन्द्रमाके सिर थोपे गये हैं कि जिनका जवाब नहीं हो सकता।

कोई सखी विरहिणीसे कहती है कि इस 'दोषाकरमें' (चन्द्रमामें) वह कौनसा दोष (ऐब) है जो नहीं है? सुन, इसने अपने हाथसे काठकी ढेरीमे शोकाग्निसे आग लगा कर उसमे द्विजदम्पतीको झोंक दिया है। प्रतिदिन वारुणी (मद्य) का सेवन करता है। पद्मिनीके सुवर्णको इसने चुराया है, गुरुकी स्त्री (वृहस्पतिकी पत्नी तारा) का अपहरण किया है और कपालीके साथ रहता है। इस तरह पांचों 'ऐबशरयी' इसमें हैं।

धर्मशास्त्रमें पांच महापातक गिनाये हैं—

"ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः।
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह।"

❀ ❀ ❀

अर्थात् १ ब्रह्महत्या, २ सुरापान, ३ चोरी, ४ गुरुपत्नी-समागम और ५, महापातकियोंका संसर्ग।

श्लोकमे, कर, काष्ठावली, द्विजदम्पती, वारुणी, पद्मिनी, सुवर्ण, कपाली और दोषाकर, ये सब शब्द श्लिष्ट हैं।

'कर'—हाथ और किरण। 'काष्ठावली'—काष्ठका समूह और दिशाओंका समूह। 'द्विजदम्पती'—ब्राह्मण ब्राह्मणी और चकवा चकवी। 'पद्मिनी'—स्त्री और कमलिनी। सुवर्ण-स्वर्ण और सुन्दरवर्ण। 'कपाली'—वाममार्गी और शिव। 'दोषाकर'—चन्द्रमा और दोषोंकी खान।

× × ×

कवित्त—एरे मतिमन्द चन्द धिग है अनन्द तेरो
जो पै विरहिन जरि जात तेरे तापते,
तू तो दोषाकर दूजे धरे है कलङ्क उर
तीसरे कपालि संग देखौ सिर छापतें,
कहै "मतिराम" हाल जाहिर जहान तेरो
वारुणीके वासी भासी रविके प्रतापतें,
बाँध्यो गयौ मथ्यो गयौ पियो गयौ खारो भयौ
बापुरो समुद्र तो कपूत ही के पापतें॥

(मतिराम)

❀ ❀ ❀

मतिराम का यह चन्द्रोपालम्भ भी बहुत अच्छा है, ख़ास-कर इसका चौथा चरण बहुत उत्तम है। कुपुत्र (चन्द्रमा) के पापसे ही बेचारे बाप (समुद्र) को यह सारी दुर्दशा

हुई कि कभी वह मथा गया (देवताओं द्वारा) कभी बांधा गया (श्रीरामचन्द्र द्वारा) और कभी पीकर खारी बनाया गया (अगस्त्य मुनि द्वारा) ।

× × ×

सायं नायमुदेति वासरमणिश्चन्द्रो न चण्डद्युति-
र्दावाग्निः कथमम्बरे किमशनिः स्वच्छान्तरिक्षे कथम् ।
हन्तेदं निरणायि पान्थरमणी-प्राणानिलस्याशया
धावद्घोरविभावरी-विषधरीभोगस्थ-भीमो मणिः ॥

* * *

इस समय सायंकाल है, इसलिये यह सूर्य तो निकल नहीं रहा, और चन्द्रमा शीतरश्मि है, उसमें यह उष्णता—दाहक ताप—कैसा ? अतः यह सूर्य भी नहीं, चांद भी नहीं । तब क्या यह दावानल (दौं) है ? पर उसका आश्रय तो वन है, वह ऊपर आकाश में कहां ? फिर क्या यह अशनि—बिजलीकी आग—है ? नहीं, वह तो मेघमें होती है, इस समय तो आकाश स्वच्छ—मेघरहित—है, इस कारण यह अशनि भी नहीं ।

ओः ! मालूम होगया, प्रोषितपतिका विरहिणीके प्राण-वायुके पान करनेकी इच्छासे दौड़ी आती हुई घोर रात्रिरूप साँपनके फनकी यह भयानक मणि है, और कुछ नहीं ।

यह एक लौकिक प्रवाद है कि रातमे एक ख़ास किस्म-का सांप, अपने फनकी मनके चाँदने में ओस चाटने और हवा खाने निकला करता है । इस श्लोकके चौथे चरणमें ऐसी ही सांपनसे मतलब है । सांपका आहार वायु है—सांप हवा खाकर रहता है—यह भी एक मानी हुई बात है ।

रात—सांपन है, चांद—उसके फनकी मन, वियोगिनी-का प्राण-वायु—उसका आहार है । यही इसका सार है ।

इसी श्लोकसे मिलते जुलते भाववाला एक फ़ारसी शेर मिर्ज़ा ग़ालिबने भी कहा है—

"दर हिज्र तरब् वेश कुनद् तावो तबमूरा,
महताब कफ़े-मारे-सियाहस्त शबमूरा ॥

* * *

अर्थात् वियोगमें सुखकी सामग्री उद्दीपक होकर व्याकुलता और सन्तापको और बढ़ाती है। वियोगरात्रिकी चांदनी मेरे लिये काले सांपका फन है। वियोगमें चांदनी रात—काले सांपके फनकी तरह डरावनी (और काली) मालूम होती है।

× × ×

ज़ौक़ने भी खूब कहा है, चांदनीका क्या अच्छा कफ़न बनाकर "अफ़सुर्दादिल"—दुःखितचित्त-वियुक्तको उसमें लपेट कर लिटाया है—

अफ़सुर्दा-दिलके वास्ते क्या चांदनीका लुत्फ़
लिपटा पड़ा है मुर्दा सा गोया कफ़नके साथ।"

* * *

सवैया

सेत सरीर हिये विष स्याम कला फनरी मन जान जुन्हाई
जीभ मरीचि दसो दिसि फैलति काटत जाहि वियोगिनि ताई।
सीसते पूंछलौं गात गरयौ पै डसे बिन नाहि परै न रहाई
सेसके गोतके ऐसे हि होत हैं चन्द नहीं या फनिन्द है माई॥
(गंग)

* * *

गंगने चन्द्रमाको शेषनागके गोत्रका श्वेतसर्प बनाकर उससे वियोगिनियोंको डसवाया है। कोई वियोगिनी कहती है कि यह चन्द्र नहीं, जिसका शरीर श्वेत है ऐसा फणीन्द्र—नागराज—है, कालिमा-विष है। कला—फन है। ज्योत्स्ना—

मणि है। दसो दिशाओमे फैली हुई—किरणें—लपलपाती जीभे है, जिसे वियोगिनी देखता है, उसेही काटता है, सिरसे पांव तक इसका शरीर गलगया है, पर तो भी काटे बिना इससे नही रहा जाता।

प्रसिद्ध है कि जब सांप मनुष्य को काटता है तो उसकी पूंछ की एक गांठ गल कर गिरजाती है, इसने इतनी वियोगिनियो को वार वार काटा है कि एक एक करके इसके शरीर की सारी गांठे गलकर झड़पडी है,केवल फन ही फन रहगया है। सांपके गोल और चौड़े फनमे चन्द्रमण्डलकी भ्रान्ति हो रही है!

× × ×

सवैया

प्रीतम गौनु किधौ जियगौनु कि भौनु कि भारु [ड़] भयानक भारो
पावस पावक फूल कि सूल पुरन्दरचाप कि 'सुन्दर' आरो।
सीरी बयारि किधौ तरवारि है वारिदवारि कि वान विषारो
चातक बोल कि चोट चुभै चित, इन्द्रवधू कि चकोरको चारो॥

(सुन्दर)

× × ×

प्रियतमके गमनपर प्रोषितपतिका कहती है कि यह प्रीतम का गमन है कि जीका जाना है। यह भवन (मकान) है कि भयानक भाड़ है। यह पावस (वर्षा) है कि पावक (अग्नि) है। ये फूल है कि सूल। यह पुरन्दरचाप (इन्द्रधनुष) है कि बढ़ईका आरा। यह शीतल वायु है कि तलवार। यह मेंहकी बूंदे है कि विषमे बुझे बाण। यह चातकका बोल है कि चितमे चुभने वाली चोट। इन्द्रवधू (बीरबहूटी) है कि चकोरका चारा (आग) है।

× × ×

सवैया

भोर भये मथुराको चलेंगे यों बात चली हरिनन्दलला की
बोल सकी न सकोचनितें सुनि पीरी भई मुखजोति तियाकी।
हाथ टिकाइ ललाट सों बैठी इहै, उपमा कवि 'सुन्दर' ता की,
देखै मनो तिय आयुके आखर और कहूँ हैं रहे वच वाकी ॥
(सुन्दर)

* * *

प्रातःकाल 'नन्दलला' मथुरा जायँगे, यह सुन कर संकोचके मारे कुछ कह न सकी, मुंह पीला पड़गया, हाथसे माथा पकड़े सोचमें बैठी है, मानो हाथमें आयुकी रेखा देख रही है कि आयुकी रेखा समाप्त होगयी कि अभी कुछ बाक़ी है।

× × ×

प्राणदान

जिहि ब्राह्मन पिय गमनको सगुन दियौ ठहराइ ।
सजनी ताहि बुलाइ दै प्रानदान लैजाइ ॥८२५॥
(रसनिधि)

* * *

प्रियके गमनका मुहूर्त्त वतलानेवाले ब्राह्मणको क्या अच्छा दान देनेका संकल्प किया है, "सजनी ताहि बुलाइदै प्रानदान लै जाइ"। "तुरत दान महाकल्यान"!

× × ×

'पौमें हियमें होड़'

आजु सखी हौं सुनति हौं पौ फाटत पिय गौन।
पौ मे हियमे होड़ हे पहिलै फाटत कौन।

* * *

क्या अच्छी होड़ लगी है। देखें पहले कौन फटता है। पौ फटती है कि हृदय! पौ फटना—सूर्योदयके पूर्व, पूर्वदिशाकी "नभलाली" को कहते हैं।

कृशताका कारण

"यावद् यावद्भवति कलया पूर्णकायः शशाङ्क-
स्तावत्तावद्द्युतिमयवपुः क्षीयते सा मृगाक्षी।
मन्ये धाता घटयति विधुं सारमादाय तस्या-
स्तस्माद्यावन्न भवति सखे! पूर्णिमा तावदेहि॥"

❀ ❀ ❀

ज्यों ज्यों चन्द्रमा कलाओंसे पूर्णमण्डल होता जाता है, त्यों त्यों वह कान्तिमय अङ्गोंवाली मृगाक्षी क्षीण होती जाती है। इससे अनुमान होता है कि ब्रह्मा उसके शरीरका सार लेकर चन्द्रमाको बनाता है। इसलिये जबतक पूर्णिमा नहीं आती तबतक पहुंचो, जल्दी करो। नहीं तो इस हिसाबसे पूर्णिमातक उसकी समाप्ति ही हो जायगी!

प्राण क्यों नहीं निकलते!

तव विरहमसहमाना सा तु प्राणान् विमुक्तवती।
किन्तु तथाविधमङ्गं न सुलभमिति ते न मुञ्चन्ति॥

❀ ❀ ❀

तुम्हारे विरहको न सहकर उसने (वियोगिनीने) तो कभीके प्राण छोड़ दिये हैं, अपनी ओरसे उन्हें विदा कर दिया है, पर प्राण उसका पिण्ड नहीं छोड़ते, इस लालचमें अटके पड़े हैं कि ऐसा सुन्दर शरीर हमें और कहाँ मिलेगा? *

---

* जानि महागुन रूपकी रासि, न प्रान तज्यों चहै वाके सरीरहिं।
(भा० हरिश्चन्द्र)

जम! जनि बौरा होइ तू कत घेरत मोहि आन।
हौं तौ तबही दे चुकी प्राननाथ को प्रान॥
(सय्यद बरकतुल्ला 'पमी' बिलग्रामी)

कृशताकी पराकाष्ठा !

उड्डयेन नन्त्रः पक्ष्मनिपातोद्भवैः पवनैः।

इति निर्निमेषमस्या विरहवयस्या विलोकते वदनम् ॥

❀ ❀ ❀

कृशांगी विरहिणीको उसकी सखी, टकटकी बाँधे देख रही है, पलक नहीं झपकाती, इस डरसे कि पलक मारनेसे पैदा हुई हवासे कहीं यह कृशांगी उड न जाय !

× × ×

"वरुनी बयार लागै जनि उड़ि जाय शेष,
सखीको समाज अनिमेष रहियनु है"
(कृष्णकवि)

विहारीका कवित्व और व्यापक पाण्डित्य

कविके विषयमे किसी विद्वान्का कथन है कि "कवि प्रकृतिका पुरोहित होता है"—जिस प्रकार पुरोहितके लिये यजमानके समस्त कुलाचारो और रीति रिवाजोका अन्तरङ्ग ज्ञान आवश्यक है, इसी प्रकार कविको भी प्रकृतिके रहस्योका मर्मज्ञ होना उचित है। इसके विना कवि, कवि नही हो सकता। कवि ही प्रकृतिके सूक्ष्म निरीक्षणद्वारा ऐसी बातें चुन सकता है जिनपर दूसरे मनुष्यकी दृष्टि नहीं जाती, जाती भी है तो तत्त्व तक नही पहुंचती, तहतक पहुंचकर कोई ऐसी बात नहीं निकाल सकती, जो साधारण प्रतीत होनेपर भी असाधारण शिक्षाप्रद हो, लौकिक होनेपर भी अलौकिक आनन्दोत्पादक हो और सैकड़ों बारकी देखी भाली होनेपर भी नवीन

चमत्कार दिखानेवाली हो। प्रकृतिके छिपे और खुले भेदोंको सर्वसाधारणके सामने मनोहर रूप में प्रकट करना ही कविका काम है। "अज्ञेयमीमांसा" करने वैठना, आकाशके तारे तोड़ने दौड़ना, कविका काम नहीं है। कभी कभी कविको ऐसा भी करना पड़ताहै सही, पर वह मुख्य दार्शनिकोंका कामहै। कविका काम इससे भी वडा गहन है। केवल व्याकरण और छन्द शास्त्रके नियमोसे अभिज्ञ होकर, वर्ण मात्राके कांटेमे नपी तुली पद्यरचना का नाम कवित्व नही है, जैसा कि आज कल प्राय: समझा जाने लगा है। ❀

× × ×

सूक्ष्मदृष्टिसे प्रकृतिके पर्यवेक्षणकी असाधारण शक्ति रखनेके अतिरिक्त विविध कलाओ, अनेक शास्त्रोंका ज्ञान भी कविके लिये आवश्यक है, जैसा कि कवितामर्मज्ञो ने कहा है—

" न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवे:॥"

❀ इसपर नीलकण्ठ दीक्षित क्या अच्छा कह गये हैं—

"मत्वा पदग्रन्थनमेव काव्य
मन्दा: स्वय तावति चेष्टमाना:।
मज्जन्ति वाला इव पाणिपाद-
प्रस्पन्दमात्रं प्लवनं विदन्त:॥"

❀ ❀ ❀

अर्थात् कविता के तत्त्वसे अनभिज्ञ—कोरे तुकबन्द लोग— केवल पद-योजना (तुकबन्दी) को ही काव्य मानकर काव्य-निर्माण की चेष्टा करते हुए उन वालकोंकी तरह डूबते हैं, जो हाथ पैर पटकनेको ही तैरना समझकर अथाह पानी में कूद पड़ते हैं!

अर्थात्—न ऐसा कोई शब्द है, न ऐसा अर्थ है, न ऐसा कोई न्याय है और न ऐसी कोई कला है, जो काव्यका अङ्ग न हो, इसलिये कविपर कितना भारी भार है, कुछ ठिकाना है! इस सब भारको अपनी लेखनीकी नोकपर उठानेकी जो शक्ति रखताहै, वही महाकवि है।

" सकलविद्यास्थानैकायतनं पञ्चदशं काव्यं विद्यास्थानम् "

(राजशेखर)*

यह सब बातें (जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है) विहारीकी कविता मे प्रचुर परिमाणमें पायी जाती हैं, सतसई पढने से प्रतीत होता है कि विहारीका प्रकृति-पर्य्यवेक्षण बहुत ही बढ़ा चढ़ा था। मानव-प्रकृतिका उन्हें असाधारण ज्ञान था। इसके वह सचमुच पूरे पुरोहित थे। उनका संस्कृत-साहित्यका पाण्डित्य इससे ही सिद्ध है कि संस्कृतके महारथि कवियोंके मुक़ाबले में उन्होंने अद्भुत पराक्रम दिखलाया है—संस्कृतपद्यों की छायापर रचना करके, नवीन चमत्कार लाकर कहीं कहीं उन आदर्श पद्योंको विच्छाय बना दिया है—जैसा कि छाया-पद्यों के उदाहरणोंसे विदित हो चुका है। गणित, ज्योतिष, वैद्यक, इतिहास, पुराण, नीतिशास्त्र और दर्शनों मे भी उनका अच्छा प्रगाढ़ परिचय था। जैसा कि आगेके अवतरणोसे सिद्ध है।

विहारीकी प्रतिभाका विहारस्थल बहुत विस्तृत था, सर्वत्र समान रूपसे उसकी गति अप्रतिहत थी। भास्करकी प्रभाकी तरह वह प्रत्येक पदार्थपर पड़ती थी। यही नही जहां सूर्यकी

* प्राचीन आचार्योंने चौदह १४ विद्या गिनाई है-" विद्या ह्येताश्चतुर्दश" १४ विद्याएं प्रसिद्ध हैं। काव्यमीमांसामें राजशेखर कहते हैं—कि जहां इन चौदह विद्यास्थानोंका एक जगह सङ्गम होता है, वह 'काव्य' पन्द्रहवां 'विद्या-स्थान' है।

किरणें भी नही पहुंचती, वहाँ भी वह पहुंचती थी। 'जहाँ न जाय रवि वहाँ जाय कवि' इस कथनकी पुष्टि विहारीकी कवितासे अच्छी तरह होती है। सूर्यकी किरणें आलोकग्राही पदार्थपर पड़कर ही अपने असली रूपमे प्रतिफलित होती हैं, दूसरी जगह नही, परन्तु विहारीकी अद्भुत प्रतिभाका प्रकाश जिस पदार्थपर भी पड़ा, उसे ही अपने रूपमे चमकाकर दिखा दिया। गणित, ज्योतिष, इतिहास, नीति और दार्शनिक तत्त्वोंसे लेकर बच्चोंके खिलौने, नटोंके खेल, ठगोंके हथकण्डे, अहेरीका शिकार, पौराणिककी धार्मिकता, पुजारी का प्रसाद, वैद्यकी परप्रतारणा, ज्योतिषीका ग्रहयोग, सूमकी कजूसी, जिसे देखिये वही कविताके रगमें रँगा चमक रहा है।

इस जगह सबके उदाहरण देना कठिन है, वात बहुत वढ़ जायगी, इसलिये इस प्रकारके कुछ नमूनोसे ही सन्तोष करना होगा। किसी काव्यपर कुछ लिखते हुए प्रारम्भमे उस काव्य-से सुन्दर सूक्तियोंके नमूने देनेकी रीति है, हम भी चाहते थे कि ऐसा करें — इस प्रकरणमें बानगीके तौरपर कुछ सूक्ति-योंके नमूने सतसईसे उद्धृत करें— पर इस इच्छासे विवशतावश विरत होना पड़ा। इसके दो कारण हैं, एकतो अनेक सूक्तियां तुलनात्मक समालोचनामें और विरह-वर्णन मे आगयीं हैं, कुछ इस प्रसङ्गमें आजायँगी, कुछ सतसईसहारमे मिलेंगी। इसलिये पृथक् देनेकी कुछ आवश्यकता न रही। दूसरे सतसईमे किसे कहें कि यह सूक्ति है और यह साधारण उक्ति है! इस खांडकी रोटीको जिधरसे तोड़िए उधरसे ही मीठी है, इस जौहरीकी दूकानमें सब ही अपूर्व रत्न हैं। वानगीमे किसे पेश करें! एकको ख़ास तौरपर आगे करना

दूसरेका अपमान करना है, जो सहृदयता की दृष्टिमे हम समझते हैं अपराध है।

रुचिभेदसे किसीको कोई सूक्ति अच्छी जँचे, कोई वैसी न जँचे, यह और बात है। किसीको शब्दालंकार पसन्द है,किसी को अर्थालङ्कार, कोई वर्णनवैचित्रीपर रीझता है तो कोई सादगी-पर फ़िदा है, कोई रसपर मरता है तो कोई बन्धसौष्ठवपर जान देता है। कोई पदार्थका उपासक है तो कोई पदावलिके पाँव पूजताहै—

"रस रसज्ञाः कलयन्ति वाचि

परे पदार्थानपरे पदानि।

वस्त्र कुविन्दा वणिजो विभूषा

रूप युवानश्च यथा युवत्याम्"॥†

* * *

सतसईके विषयमें स्वर्गीय राधाकृष्णदासजीकी यह सम्मति सोलह आना सत्य है—

"यह सतसई भाषाकी कविताकी टकसाल है"

और विहारीलालके सम्बन्धमे गोस्वामी श्रीराधाचरणजीकी इस उक्तिमे कुछ भी अत्युक्ति नही है कि—

"यदि सूर सूर, तुलसी शशी, उडुगन केशवदास हैं तो विहारी पीयूषवर्षी मेघ है, जिसके उदय होते ही सबका प्रकाश आच्छन्न हो जाता है, फिर जिसकी वृष्टिसे कवि-कोकिल कुहकने,

---

† रसज्ञ रसिक कवितामे रस ढूँढते हैं, दूसरे पदार्थ (विषय) को देखते हैं, तीसरे पदलालित्यपर दृष्टि देते हैं। जिस प्रकार किसी युवतिको देखकर युवा, उसके रूपको सराहते हैं, जुलाहे—वस्त्रके व्यापारी— वस्त्रकी तारीफ करते हैं, और सराफ, उसके आभूषणोपर परखकी नजर डालते हैं।

मनोमयूर नृत्य करने और चतुर-चातक चुहकने लगते हैं। फिर बीच बीचमें जो लोकोत्तर भावोंकी विद्युत् चमकती है, वह हृदयच्छेद कर जाती है।"

भाषापर बिहारीका असाधारण अधिकार था। सतसई-की भाषा ऐसी विशुद्ध और शब्दरचना इतनी मधुर है कि सूरदासको छोड़ कर दूसरी जगह उसकी समता मिलनी दुर्घट है। सतसईके सम्बन्धमे व्रजभाषाके किसी पुराने पारखीकी यह सम्मति सर्वथा सत्य है—

"व्रजभाषा बरनी सबै कविवर बुद्धि-बिसाल।
सबकी भूषन सतसई रची बिहारीलाल॥"

व्रजभाषाके मर्मज्ञोंका विदग्ध हृदय इस कथनकी सत्य-ताका साक्षी है। व्रजभाषाको सिर्फ़ सूंघकर परखने वाले कुछ महापुरुषोंकी दिव्य दृष्टिमें "इसकी भाषा वैसी बढ़िया" चाहे न हो, पर भाषाके जौहरी भावसे भी अधिक इसकी परिष्कृत भाषा-पर लट्टू है। इस समय जब कि खड़ी बोलीके जोशीले नौजवानों-की ब्रिगेडने व्रजभाषाके 'विजन' का बिगुल बजाकर क़तलेआम मचा रखा है, खड़ीबोलीकी किरातपुरीके तोते तक जब इसे देखकर 'दारय' 'मारय' 'ग्रस' 'पिब', कहकर चिल्ला रहे हैं,† तब व्रजभाषाके सौष्ठवकी दुहाई देना, नक्कारख़ानेमे तूतीकी आवाज़ पहुंचानेके बराबर है। व्रजभाषाके मर्मज्ञ स्वयं जानते हैं कि

---

† किसी संस्कृत कविका प्राचीन पद्य है—

"अयि कुरंगि! तपोवन-विभ्रमादुपगतासि किरातपुरीमिमाम्।
इह न पश्यसि दारय मारय ग्रस पिबेति शुकानपि जल्पतः॥"

अरी भोली हिरनी! तपोवनके धोखेमे तू यहाँ किरातपुरीमें कहाँ आफँसी! देखती नहीं, यहांके तोते भी शिकारी अहेरियों के स्वरमें स्वर मिलाकर, **"काटो, मारो, निगलजाओ, पीजाओ" पड़े पुकार रहे हैं!**

सतसईकी भाषा कैसी कुछ है, और जो नहीं जानते वे किसीके समझानेसे भी क्या समझेंगे ?

× × ×

गणितका ज्ञान

कहत सबै बेंदी दिये आंक दसगुनो होत ।
तिय लिलार बेंदी दिये अगनित बढ़त उदोत ॥

* * *

कुटिल अलक छुटि परत मुख बढ़िगौ इतौ उदोत ।
बंक बिकारी देत ज्यौं दाम रुपैया होत ॥

* * *

गणितके मूल सिद्धान्तका कविताके रूपमे कितना मनोहर निदर्शन है। गणितके सिद्धान्तसे अपने मतलबकी बात कितने अच्छे ढंगसे सिद्ध की है! बिन्दु (शून्य) देनेसे अंक दसगुना हो जाता है। और तिरछी बिकारी लगानेसे दामके रुपये बन जाते हैं। यह सब गणितज्ञ जानते हैं। पर इस तरह कहना कवि ही जानता है। गणित-शास्त्रमें दशगुणोत्तरा संख्या रखनेकी चाल है। इकाईको दससे गुनकर दहाई और उसे दससे गुनकर सैकड़ा (शत) इत्यादि दशगुणोत्तर संख्या बनाते हैं। पर यहाँ बिहारीजीके गणितमे कुछ दूसरा ही चमत्कार है— यहाँ दशगुणित नहीं असख्य-संख्यागुणित अङ्क (उद्योत) पैदा होजाते हैं! यह कविकी प्रतिभाका ही काम है।

× × ×

ज्योतिषका चमत्कार

सोरठा—मङ्गल बिन्दु सुरंग, ससि मुख केसर आड़ गुरु ।
इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन जगत ॥ ४५१ ॥

* * *

इस सोरठेमे विहारीने अपने ज्योतिषज्ञानका परिचय बड़े मनोहर रूपमे दिया है। ज्योतिषका सिद्धान्त है कि जब बृहस्पति और मङ्गलके साथ, चन्द्रमा एक राशि पर आता है तो देशव्यापक वृष्टि होती है—

"गुरु-भौम-समायोगे करोत्येकार्णवां महीम्"

(अर्घप्रकाश)

❀ ✳ ❀

ज्योतिषके इस तत्त्वको कविने कितना कमनीय रूप दिया है। लौकिक पुरुषोंको जितना आनन्द इस भौतिक वृष्टि से होता है उससे कही अधिक विदग्ध सहृदयोको इस कवितामृत-वर्षा से होता है।

आज कल वर्षाकी अत्यन्त आवश्यकता है।[1] लोग मुंह उठाये चातक बने वर्षाकी बाट जोह रहे हैं। यदि कोई ज्योतिषी एक राशिमें इन ग्रहोंकी स्थिति दिखलाकर आसन्न-भाविनी वृष्टिके सुयोगका सुसमाचार सुनावे तो भी कविताके भूखे भावुक भक्तोंको इतना हर्ष न हो, जितना कविताके इस योग-से हो सकता है!

माथेपर लगी लाल बेंदी, मगल है। मुख, चन्द्रमा है। उसपर केसरका (पीला) तिलक बृहस्पति है। इन सबने एक नारी [नाड़ी]—स्त्रीराशि— में इकट्ठे होकर संसारके नेत्रोको रसमय (अनुरागमय, जलमय) कर दिया—

मङ्गलका रंग लाल होता है इसीलिये उसका 'अङ्गारक' और 'लोहिताङ्ग' नाम है। सो यहां बेंदी है। बृहस्पतिका वर्ण पीला है वह यहां केसरका तिलक है। मुखकी चन्द्रता प्रसिद्ध ही है।

[1] जिन दिनों यह निबन्ध लिखा गया था, उस समय अवर्षणके मारे प्रजा व्याकुल थी।

'नारी' और 'रस' शब्द श्लिष्ट हैं (रस–जल और शृङ्गार, " रसो जल रसो हर्षो रसः शृङ्गार उच्यते) ॥ "

यह सोरठा, श्लेपानुप्राणित समस्त-वस्तु-विषय-सावयव रूपकका और कविके ज्योतिष-ज्ञानका उत्कृष्ट उदाहरण है।

महाकवि ग़ालिबने भी (नीचेके शेरमें) ज्योतिषके फला-देशकी परीक्षा आशिक़ोंकी क़िस्मतपर करनी चाही है, और मौलाना हालीने इसे कविकी प्रतिभाका उत्तम उदाहरण बतलाकर कहा है कि आशिक़ अपनी धुनमें इतना मस्त (तल्लीन) है कि उसे हर जगह अपने ही मतलबकी सूझती है, ज्योतिषीने जो साल (वर्ष) को अच्छा बतलाया है, उसका असर संसारकी अन्य घटनाओंपर क्या होगा, इससे उसे कुछ मतलब ही नहीं, वह देखना चाहताहै कि देखें आशिक़ इस साल बुतोंसे क्या फ़ैज़ (लाभ) पाते हैं!

शेर—देखिये पाते हैं उश्शाक़ बुतों से क्या फ़ैज़,
इक बिरहमनने कहा है कि यह साल अच्छा है।
(ग़ालिब)

\+ + +

सनि कज्जल चख झख लगनि उपज्यो सुदिन सनेह।
क्यों न नृपति ह्वै भोगवै लहि सुदेस सब देह ॥ ३२८ ॥

\+ + +

ज्योतिषका सिद्धान्त है कि जन्म-समय मे यदि शनि, गुरु की राशि—अर्थात् धन या मीनमे, और स्वराशि— मकर या कुम्भमें, तथा उच्चराशि—तुलामें, हो तो इस सुलग्नमे जन्म लेनेवाला मनुष्य 'नरपति' होता है। जैसा कि लिखा है—

"गुरुस्वर्क्षोच्चस्थे नरपति: ।"
(वराहमिहिर, बृहज्जातक)

कविके स्नेह-वालककी जन्म-कुण्डलीमें देखिए यह योग कैसा अच्छा पड़ा है—

आंखका काजल–शनि है। चख–चक्षु–मीन है,—(शनिका रँग नीला है, और मीन, नेत्रका उपमान है, यथा मीनाक्षी)—ऐसे सुयोगमें जिसका जन्म हुआ है वह स्नेह-वालक, सव देहरूप देशपर अधिकार जमाकर—राजा बनकर—क्यो भोग न करेगा? अवश्य करेगा। ज्योतिषकी वात कभी झूठ हो सकती है! ज्योतिषके फलादेशमें 'किसीको सन्देह भी हो सकता है, पर 'विहारीके इस ज्योतिषमें सन्देहका अवसर नहीं है।

× × ×

तिय-तिथि तरनि-किसोर वय पुन्न (पुण्य) काल सम दोन।
काहू पुन्यन पाइयत वैस-सन्धि-संक्रोन ॥ १८ ॥

* * *

इस दोहेमें संक्रान्तिके पुण्यप्राप्य पर्वका कितना अच्छा रूपक है। इस रूपकके 'ब्रह्मकुण्ड' में रसिक भक्तोंके मन अनगिनत गोते लगा रहे हैं।

× × ×

पत्रा ही तिथि पाइयतु वा वर के चहु पास।
नित प्रति पून्योई रहै आनन-ओप उजास ॥ ४६ ॥

* * *

गनती गनवे तें रहे छत हू अछत समान।
अलि अव ये तिथि ओम लौं परे रहौ तन प्रान ॥ ४३१ ॥

* * *

इन दोहोंमें "तिथिपत्र" पर कविताकी दृष्टि डाली गयी है। तिथिपत्रके भाग्य खुल गये हैं!

× × ×

वैद्यक-विज्ञान

सोरठा–" मैं लखि नारी ज्ञान, करि राख्यो निरधार यह।
वह ई रोग निदान, वहै बैद औषध वहै ॥ ३९५ ॥"

* * *

कविताके नलकेमें वैद्यक विज्ञानका 'आसव' खींचकर इस सोरठेकी शीशीमें भर दिया है ! वैद्यकमे और है क्या ! नाड़ी-ज्ञान, रोगनिदान, औषध और वैद्य ! मूल बातें यह तीन चार हैं, बाक़ी इसकी व्याख्या है ।

नारी—(नाड़ी)–ज्ञानसे क्या अच्छा रोगका निदान किया है !

"वहई रोग निदान, वहै वैद्य औषध वहै"

वही रोगका निदान(आदि कारण)वही वैद्य—चिकित्सक और वही औषध है !

× × ×

" यह तर्ज़ अहसान करनेका तुम्हींको ज़ेब देता है,
मरज़मे मुब्तला करके मरीज़ोंको दवा देना ।"

(अकबर)

* * *

" मुहब्बत मे नहीं है फ़र्क़ जीने और मरने का।
उसीको देखकर जीते हैं जिस काफ़िर पै दम निकले ॥ "

(ग़ालिब)

\+ + +

"यह विनसत नग राखि कै जगत बड़ौ जस लेहु ।
जरी विषम-जुर ज्याइये आय सुदर्शन देहु" ॥ ३०० ॥

* * *

इस नष्ट होतेहुए नग(रत्न–कामिनीरत्न)को बचाकर जगतमे बड़ा यश प्राप्त करो,विषम ज्वरमे जलती हुईको 'सुदर्शन' देकर जिलाओ।

वियोग-व्याधिने विषमज्वरका रूप धारण किया है, उसकी निवृत्तिके लिये सुदर्शन (सुन्दर दर्शन) अपेक्षित है।

'विषमज्वर' और 'सुदर्शन' पद श्लिष्ट हैं।

वैद्यकमे विषमज्वरपर "सुदर्शन" चूर्ण एक प्रसिद्ध योग है। यथा—

" एतत्सुदर्शन नाम चूर्णं दोषत्रयापहम्।
ज्वरांश्च निखिलान् हन्यान्नात्र कार्या विचारणा॥
पृथग्द्वन्द्वागन्तुजांश्च धातुस्थान् विषमज्वरान्।
सन्निपातोद्भवांश्चापि मानसानपि नाशयेत्॥"

(शार्ङ्गधरसंहिता)

× × ×

इतिहास-पुराण-परिचय

ये दोहे कविके इतिहास-परिचयमें पुष्ट प्रमाण हैं—

विरह-विथा-जल-परस विन वसियत मो हिय-ताल।
कछु जानत जलथंभ विधि दुरजोधन लौं लाल॥ ३९८॥

❀ ❀ ❀

दुर्योधनको 'जलस्तम्भनविद्या' सिद्ध थी। उसीके प्रताप-से वह युद्धके अन्तमें कई दिनतक तालावमे छिपे वैठे रहे थे।

यह ऐतिहासिक उपमा कवितामें आकर कितनी चमत्कृत हो गया है। कोई विरहिणी कहती है—

हे लाल! दुर्योधनके समान तुम भी कुछ जलस्तम्भविधि जानते हो, तभी तो, विरह-व्यथा-जलके स्पर्शसे बचे रहकर मेरे हृदय-सरोवर में (आरामसे) वैठे हो? हृदयमें रहते हो पर

उसमें भरे विरह-व्यथाके जलका—विरह-व्यथा-का—तुम्हें स्पर्श भी नहीं होता ! बडे बेपीर हो। (चिकने घड़े हो !) †

× × ×

पिय-बिछुरन को दुसह दुख हरखि जात प्यौसाल।
दुरयोधन लौं देखियत तजत प्रान इहि बाल ॥ ३५ ॥ *

❀ ❀ ❀

रह्यो ऐंचि अन्त न लह्यो अवधि-दुसासन बीर।
आली बाढ़त बिरह ज्यों पांचाली को चीर॥ १२५॥ *

❀ ❀ ❀

बसि सकोच-दस वदन बस साँच दिखावति बाल।
सिय लौं सोधति तिय तनहि लगनि-अगनिकी ज्वाल ॥२९२॥

❀ ❀ ❀

रामायणकी प्रसिद्ध घटना 'अग्निपरीक्षाका' उल्लेख इस दोहेमे कितनी उत्तमतासे किया है !

---

† इसी भावकी एक संस्कृत कविकी यह सूक्ति है—

"अनलस्तम्भनविद्यां, सुभग ! भवान्नियतमेव जानाति।
मन्मथशराग्नितप्ते, हृदि मे कथमन्यथा वसति ॥"

† अर्थात् हे सुभग ! तुम अवश्य ही "अग्निस्तम्भन-विद्या" जानते हो, अन्यथा कामबाणाग्निसे तप्त मेरे हृदयमें कैसे रहते हो !

बहुत कुछ भावसाम्य होनेपर भी बिहारीकी उक्ति इससे कहीं चमत्कृत है। दुर्योधनकी उपमा, हिय-ताल का रूपक, बहुतही अनुरूप, और सुन्दर है। 'बिरह-बिथा-जल-परस बिन" वाक्यने भावमे जान डाल दी है। यदि तुम्हे मेरे हृदयमें भरे व्यथा-जलका कुछ भी स्पर्श होता तो इस प्रकार कभी उपेक्षा न करते ! श्लोकमें यह बात नहीं है। विदग्धहृदयमेवात्र प्रमाणम् !

* इन दोनों दोहोंकी व्याख्या पहले आचुकी है।

विवश होकर सीताजीको रावणके यहां रहना पड़ा था। वहाँसे छुटकारा पानेपर उन्होने अपने सत्यकी परीक्षा अग्निमे प्रवेश करके दी थी। यहां संकोच (लज्जा-संचारी) प्रियदर्शनमे वाधक होनेसे रावण है, लगन—दृढ़ प्रेम, अग्नि है। सोधना—उत्कण्ठापूर्वक स्मरण करना—(सोधति पद श्लिष्ट है—देह शुद्ध करना और स्मरण करना)— तनुशोधन है।

अर्थात् उसे संकोचने ही अवतक तुमसे नहीं मिलने दिया, संकोच ही मिलनेमे वाधक था, प्रेमका अभाव नहीं, उसका तुममे अविचल सच्चा प्रेम है। इसकी परीक्षा वह लगनकी अग्निमे वैठ कर दे रही है। तुम्हारा स्मरण कर रही है, सन्देह छोड़ कर उसे अङ्गीकार करो।

× × ×

नीतिनिपुणता

दुसह दुराज प्रजानिकौं क्यौं न वढ़े दुख दंद।
अधिक अँधेरौ जग करत मिलि मावस रवि चंद ॥ ६०५॥

❀ ❀ ❀

जव 'दुअमलो' होतो है—प्रजापर दुहरे शासकोंका शासन होता है—तो प्रजाके दु:ख वेतरह वढ़ जाते हैं, संसारके इतिहासमें इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। दो फ़क़ीर एक गुदड़ीमें गुज़ारा कर लेते हैं, पर दो राजा एक 'रजाई' मे नही रह सकते, यह एक प्रसिद्ध कहावत है। जव कभी कहीं दुर्भाग्यवश ऐसा हुआ है, प्रजापर विपत्तिके वादल छा गये हैं। प्रजापीड़न पराकाष्ठाको पहुंच गया है।

विहारीने यह वात एक ऐसे दृष्टान्तसे समझायी है जिसे सव कोई सदा देखते हैं पर नही समझते कि क्या बात है। अमावसके दिन अन्धकारके आधिक्यका क्या कारण है ? यही दुअमली। उस दिन आकाशके दो शासक—सूर्य

और चन्द्र—एक राशिमें इकट्ठे होते हैं। जिससे संसारमें आदर्श अन्धकार छा जाता है!

सवैया

एक रजाई समै प्रभु ह्वै सु तमोगुनको बहु भाँति बढ़ावत
होत महादुखवृंद प्रजानको और सबै सुभ काज थकावत।
"कृष्ण"कहै दिननाथ निसाकर एकही मंडलमें जब आवत,
देखौ प्रतच्छ अमावसको अँधियारो कितौ जगमें सरसावत॥

(कृष्णकवि)

\+ \+ \+

कहै इहै श्रुति सुमृति सो यहै सयाने लोग।
तीन दबावत निसक हि राजा पातक रोग॥ ६०८॥

❀ ❀ ❀

श्रुति स्मृति और सयाने—नीतिनिपुण—लोगोंकी नीति, सब इसमें एक स्वरसे सहमत हैं कि राजा, पातक और रोग, ये तीन 'निसक'—निःशक्त—निर्बलको ही दबाते हैं।

'ज्ञानी' लोग सब कुछ करते हुए भी "पद्मपत्रमिवाम्भसा" निर्लिप्त रहते हैं! ज्ञानाग्निकी प्रचण्ड ज्वाला, उनके पातकपुञ्जको तृणसमूहकी तरह भस्म कर डालती है। जिन पातकोंका ज्ञानहीन मनुष्यके लिये प्राणान्त प्रायश्चित्त बतलाया है, प्रचण्ड ज्ञानी, (प्रबल शासक जातिके समान) उससे एकदम बरी समझे गये हैं। मतलब यह कि ज्ञानबलहीनको पातक दबाते हैं, देहबलहीनको रोग दबाते हैं, और पराक्रमहीन—शासनबल-रहित—जातिको राजा दबाते हैं। संसारका इतिहास इसमें साक्षी है।

"सर्वो बलवतां धर्मः, सर्वं बलवतां स्वकम्।
सर्वं बलवतां पथ्यं, सर्वं बलवतां शुचि॥" (महाभारत)

× × ×

बसै बुराई जासु तन ताही कौ सनमान ।
भलौ भलौ कहि छाड़िये खोटे ग्रह जप दान ॥६०७॥

❀ ❀ ❀

संसारमे सीधे सच्चे और भले आदमीका गुज़ारा नहीं, उसे कोई पूछता ही नहीं। छली, कपटी और प्रपञ्चीकी सब जगह पूजा होती है, परपीड़नमे जो जितना ही प्रवीण है, उतना ही उसका आदर होता है, जिसने छलबलसे दूसरोंको दबाकर अपनी धाक बिठाली, सिक्का जमा लिया, उसीका लोहा सब मानते हैं। सीधे बेचारे, एक कोनेमे पड़े सड़ते रहते हैं, उनकी ओर कोई आँख उठाकर भी नहीं देखता। जो खोटे ग्रह हैं—(शनैश्चरादि) जिनसे किसीको हानि पहुच सकती है—उन्हींके नामपर जप और दान किया जाता है। भलेको भला कहकर ही छोड़ देते हैं। अजी यह तो स्वभावसे ही साधु हैं, माधोके लेनेमें न उधोके देनेमे !

दार्शनिक तत्त्व

सोरठा—

"मैं समुझ्यौ निरधार, यह जग काँचौ काँच सो ।
एकै रूप अपार प्रतिबिम्बित लखियत जहां ॥"

'अध्यासवाद' और 'विवर्त्तवाद'के समान "प्रतिबिम्बवाद" वेदान्तशास्त्रका एक प्रसिद्ध वाद है। इस सोरठेमें कविने वेदान्तके "प्रतिबिम्बवाद" को कविताके सांचेमे ढालकर कितना कमनीय रूप देदिया है। संसारकी असारता दिखानेके लिये काँचका दृष्टान्त यहां कैसा चमक रहा है, इसमें संसारकी असारता किस प्रकार पडी झलक रही है !

इस दृश्य प्रपञ्चके वेदान्तमतानुसार ये पांच अंश हैं—

"अस्ति भाति प्रियं रूप नाम चेत्यंशपञ्चकम् ।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् ।"
(पञ्चदशी)

❀ ❀ ❀

अर्थात् अस्ति, भाति, प्रिय, रूप और नाम, ये पांच अंश हैं। इनमें पहले तीन—अस्ति, भाति और प्रिय—अंश, ब्रह्मका रूप है। और पिछले दो—नाम और रूप, जगत्का स्वरूप है। प्रत्येक पदार्थमे सत्ता, प्रकाश और प्रेमास्पदता, ब्रह्मका रूप है, जो सत्य है। घट पटादि नाम और आकार, संसारका रूप है और यही मिथ्या है ।

यह जगत् कॉचके शीशेकी तरह कच्चा—क्षणभंगुर है। ज्ञानकी ज़रा ठेस लगते ही चकनाचूर हो जाता है। प्रतिबिम्बग्राही होनेसे इसमें वही एक ब्रह्म प्रतिबिम्बित हुआ दीख रहा है, यह सब उसीका विराट् रूप है, जो देख रहे हो। नाना-भावकी पार्थक्यप्रतीतिका कारण नाम, रूप, मिथ्या है।

"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" "नेह नानास्ति किञ्चन" "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते"।

"अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा, रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च"।

इत्यादि, शतशः श्रुतियां इस तत्त्वका प्रतिपादन डंकेकी चोट कर रही हैं।

\+ + +

अज्यौं तरयोना ही रह्यौ श्रुति सेवत इक अंग।
नाकबास बेसर लह्यौ बसि मुक्तनके संग॥ ६४० ॥

❀ ❀ ❀

संसार-सागरसे पार होनेके लिये जीवन्मुक्त पुरुषोंकी संगति भी एक मुख्य उपाय है। यही बात इस दोहेमे एक

मनोहर श्लेषमे लपेटकर निराले ढंगसे कही गयी है। 'तरौना' कानके एक आभूषणका नाम है, जिसे तरकी या ढेढ़ी भी कहते हैं। 'वेसर' नाकका प्रसिद्ध भूषण (नथ) है। इस दोहेमे कविने श्लेषके बलसे बड़ा अद्भुत चमत्कार दिखलाया है। कहते है कि श्रुति (कान) रूप एक अंगका सेवन करनेवाला तरौना, अवतक "तरयौना" ही है" और 'मुक्तनिके संग बसि' मोतियोके साथ रहकर 'वेसर' ने 'नाकवास' प्राप्त कर लिया—नाकमे स्थान पा लिया। इसका दूसरा 'प्रतीयमान' अर्थ है—कोई किसी मुमुक्षुसे कह रहा है कि मुक्ति चाहते हो तो जीवन्मुक्त महात्माओको संगति करो, श्रुतिसेवा भी एक संसार-तरणोपाय है सही, किन्तु इससे शीघ्र नही तरोगे। देखो यह कानका तरौना श्रुति रूप एक अंगका कबसे सेवन कर रहा है, पर अब तक 'तरयौ नाही रह्यो'—तरा नहीं, तरौना ही बना है। और वेसरने "मुक्तनिके सग बसि"—मुक्तोंकी संगति पाकर 'नाक-वास लह्यौ'—वैकुण्ठ—सालोक्य-मुक्ति—प्राप्त कर ली।

अथवा कोई किसी केवल-श्रुति-सेवी मुमुक्षुसे कह रहा है कि एक अङ्ग श्रुतिका सेवन करते हुए तुम अव तक नही तरे—विचार-तरगोमे गोते खा रहे हो, और वह देखो अमुक व्यक्तिने मुक्तोकी सत्संगतिसे 'वेसर' अनुपम—नाकवास वैकुण्ठप्राप्ति—सायुज्यमुक्ति—प्राप्त कर ली।

दोहेके 'तरयौना' 'श्रुति' 'अंग' 'नाक' 'वेसर' 'मुक्तनि' ये सव पद श्लिष्ट हैं।

संगतिकी महिमासे ग्रन्थ भरे पड़े हैं। गोस्वामी तुलसी-दासजीने भी भगवद्भक्तोंको सत्संगतिकी महिमा वड़े समारोहसे समझायी है। पर इस चमत्कारजनक प्रकारसे किसीने कहा

हो, सो हमने नहीं सुना। विहारी अपने कवितापेमियोंकी नब्ज़ पहचानते है, वह जानते हैं कि "अपने बावले"को कैसे समझाया जाता है— रसलोलुप कवितापेमी सत्संगतिकी महिमा किस रूपमें सुनना पसन्द करेंगे। रातदिन जो चीज़ें प्रेमियोंकी नज़रमें समायी रहती हैं उनकी ओर इशारा करके ही उन्हें यह तत्त्व समझाना चाहिए। कविके लिये यही उचित है। नीरस उपदेश-पर रसिक-रोगी कब कान देता है— सुनता भी नहीं, आचरण करना तो दूर रहा।

कवि जब विषयासक्त प्रेमीको विषयासक्तिका दुष्परिणाम समझाना चाहता है तो इसके लिये किसी पतित भक्त या योगभ्रष्ट ज्ञानीका दृष्टान्त देनेको वह इतिहासके पन्ने पलटने नहीं बैठता, वह उस विषयीकी दृष्टिमे बसी हुई चीज़-को सामने दिखाकर झट पट बोल उठता है कि देखो, विषया-सक्तिकी दुरन्तता!

"स्नेहं परित्यज्य निपीय धूमं
कान्ताकचा मोक्षपथं प्रपन्नाः।
नितम्बसङ्गात्पुनरेव बद्धा
अहो दुरन्ता विषयेषु सक्तिः॥" *

× × ×

जोगजुक्ति सिखई सबै मनो महामुनि मैन।
चाहत पिय अद्वैतता कानन सेवत नैन॥ ४५७॥

❁ ❁ ❁

* स्नेह (तेल और ममता) दूर करके और 'धूम'— (केशसुगन्धित करनेकी धूप—और धूमपा मुनियों का धूम) पान करके, कामिनीके केशोंने मुक्ति पायी थी—(सुखाने को खोले गये थे—और मुक्तिमार्गमे प्रवृत्त हुए थे) कि नितम्बके सङ्गसे—नितम्ब तक पहुंच कर और विषयासक्त हो कर—फिर बन्धनमें आ गये—बंध गये, और जन्ममरणके बन्धनमे पड़ गये।

इस दोहेमे योगदक्ष काननसेवी ब्रह्माद्वैताभिलाषी वानप्रस्थकी समाधि (प्रतीति) है ।

जिसप्रकार किसी सद्गुरु महामुनिसे योगकी दीक्षा पाकर कोई युआन पुरुष प्रिय—परमप्रेमास्पद—ब्रह्मसे अद्वैत—अभेद—चाहता हुआ, कानन—वनका सेवन करता है, इसी प्रकार कामिनीके नयन, महामुनि मदनसे 'योगयुक्ति'—प्रियसंगमकी युक्ति—सीखकर कानो का सेवन कर रहे है ।

योग, अद्वैतता, कानन, पद श्लिष्ट है । "योग: संहननोपायध्यानसंगतियुक्तिषु" के अनुसार मुनिके पक्षमें योगका अर्थ ध्यान है। नेत्रके पक्षमे संगति ।

बुधि अनुमान प्रमान श्रुति किये नीठि ठहराइ ।
सूछम कटि पर-ब्रह्म लौं अलख लखी नहीं जाइ ॥६८०॥

* * *

इस दोहेमें कविने परम सूक्ष्म कटिको अलख परब्रह्मकी उपमा देकर कौतूहलजनक कमाल किया है। पूर्वार्धमें ब्रह्मदर्शनके उपायोका निर्देश करनेवाली एक सुप्रसिद्ध श्रुतिको किस मार्मिकतासे निराले ढंगपर व्यक्त किया है। सुनिये, वह श्रुति यह है—

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:"

* * *

यह भगवती मैत्रेयीके प्रति याज्ञवल्क्य महाराजका उपदेश है कि, पहले—"अयमात्मा ब्रह्म" "तत्त्वमसि श्वेतकेतो" "नित्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"—इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे आत्माका श्रवण करे—आत्मा कैसा है, यह सुने—फिर 'आत्मा ऐसा हो सकता है या नही' इसका अनुमानसे विचार करे। तदनन्तर उस निर्णीत स्वरूपका निरन्तर ध्यान करे। यह संक्षेपमे ब्रह्मसाक्षात्कारका प्रकार है। उक्त श्रुतिकी ही व्याख्या इस श्लोकमें की गयी है—

"श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः ।
मत्वा च सततं ध्येय इति दर्शनहेतव ॥"

* * *

श्रुतियोंके द्वारा ब्रह्मके सम्बन्धमें सुना, अनुमानके द्वारा उसके सच्चिदानन्द स्वरूपको जाना, निरन्तर ध्यानद्वारा किसी प्रकार इस तत्त्वको बुद्धिमें ठहराया। फिर भी ब्रह्म ऐसा अलक्ष्य-(अलख) है कि लखा नहीं जाता—उसका साक्षात्कार नहीं होता।

'कटि' (कामिनीकी कमर) भी कुछ ऐसी ही सूक्ष्म और अलख है। श्रुति-शब्दप्रमाण-द्वारा सुनते हैं कि कमर है,—"सनम ! सुनते हैं तेरे भी कमर है"—फिर अनुमान करते हैं कि यदि कमर नहीं है, तो यह शरीरप्रपञ्च—स्तन-शैल, मुख-चन्द्र,—आदि किसके सहारे ठहरे हुए हैं ? (ब्रह्म नहीं है तो यह विश्व-प्रपञ्च,—हिमालयादि पर्वत, चन्द्रादि ग्रहमण्डल—किसमें स्थित हैं—कल्पित हैं)—इसलिए कटि-ब्रह्म अवश्य है। इस तत्त्वको—कटि-ब्रह्मके सत्तास्वरूपको—निरन्तर ध्यानद्वारा किसी प्रकार बुद्धिमें ठहराते है। फिर भी "अलख लखा नहीं जाय"—उसका साक्षात्कार नहीं होता, नज़र नहीं आता, दिखलायी नहीं देती—"कहां है, किस तरफ़को है, किधर है"—यही कहते रह जाते हैं !

"सूछम कटि परब्रह्म सी अलख लखी नहीं जाय।"

पूर्ण दार्शनिक 'पूर्णोपमा' है ! परब्रह्म उपमान। कटि उपमेय। लखो नहीं जाय, साधारणधर्म। 'सी' या 'लौं' वाचक। देखा वाचक ! कैसी मनोहर पूर्णोपमा है !

"कोऊ 'सुकवि' कहलावनहारे, 'आचार्य' या दोहामेतें 'कटि' को काटकर 'गति' बनावतु हैं, अरु कटिवर्णन करनेहारे

वेचारे लल्लूलाल पर "इसमे लल्लू लाल कटिका वर्णन ठूंसते है" [1] कहकर कटाक्ष करतु है!"—

पर हमारी मन्दबुद्धिमे 'सुकवि'जीका यह आक्षेप नितान्त निस्सार है। 'कटि' की जगह 'गति' रखनेमे दोहेका चमत्कार शशशृङ्ग हो जाता है। कुछ भी कवित्व नही रह जाता, कोरा वेदान्तवाद रह जाता है।

× × ×

हिन्दी ससारके सुप्रसिद्ध प्रतिभाशाली वश्यवाक् वर्तमान कविराज श्रीयुत पण्डित नाथूराम शंकरजी शर्मा 'शंकर' ने भी दार्शनिक कविताके रूपमे अनोखे ढंगपर "कमरकी अकथ कहानी" कही है, कटिका चमत्कृत वर्णन इस प्रकार किया है—

घनाक्षरी—"पारके गये पै एक बूद हू न हाथ लगे
दूरसो दिखात मृगतृष्णिकासे पानी है,
शंकर" प्रमाण-सिद्ध रग को ने सग पर
जान पडे अम्बरमें नीलिमा समानी है।
भावमें अभाव है अभावमे धौ भाव भरयो
कौन कहे ठीक बात काहूने न जानी है,
जैसे इन दोउनमें दुविधा न दूर होत
तैसे तेरी कमरकी अकथ कहानी है॥"

❀ ❀ ❀

जनाब "अकबर" ने भी अपने ख़ास रंगमें कमरकी क़ायनात बयान करनेमें कमाल किया है, क्या ख़ूब फ़र्माया है—

[1] विहारी-विहारमे, इस दोहे पर "सुकवि" व्यासजी।

"कहीं देखा न हस्ती वो अदमका इश्तराक ऐसा,
जहांमे मिस्ल रखती हो नहीं उनकी 'कमर' अपना।"
"जो पूछा नेस्ती हस्ती मे क्योंकर फ़र्क ज़ाहिर हो
'कमर' ने यारकी ईमा किया मैं हद्दे-फ़ासिल हूं।"*

× × ×

पण्डितराज जगन्नाथने वेदान्तियोंके 'जगन्मिथ्यात्ववाद' और माध्यमिकोंके 'शून्यवाद'को लक्ष्यमे रखकर कटिवर्णनमे अद्भुत दार्शनिक चमत्कार दिखलाया है—

१—"जगन्मिथ्याभूतं मम निगदतां वेदवचसा-
मभिप्रायो नाद्यावधि हृदयमध्याविशदयम्।
इदानीं विश्वेषां जनकमुदरं ते विमृशतो
विसन्देहं चेतोऽजनि गरुडकेतोः प्रियतमे!"

× × ×

२—"अनल्पैर्वादीन्द्रैरगणित-महायुक्ति-निवहै-
र्निरस्ता विस्तारं क्वचिदकलयन्ती तनुमपि।

---

*हस्ती=सत्ता-भाव। अदम=नेस्ती=असत्ता-अभाव। इश्तराक=मेल।
ईमा=इशारा। हद्दे-फासिल=सीमा-निर्णायक चिह्न।
"दीदे-कमरे-यार की मुश्ताक हैं आंखे
हस्ती मे तमाशाए-अदम मद्दे-नजर है।"
(आतिश)

असत्ख्याति-व्याख्याधिकचतुरिमाख्यातमहिमा-
ऽवलग्ने लग्नेयं सुगतमतसिद्धान्त-सरणिः ॥" *

इसी प्रकार श्रीहर्षने भी दमयन्तीके विषयमे खूब कहा है—

"सदसत्संशयगोचरोदरी"

× × ×

"ईशाणिमैश्वर्य-विवर्तमध्ये !" (नैषध)

---

*पण्डितराज 'लक्ष्मीलहरी' मे लक्ष्मीजीके 'उदर' और अवलग्न-(कमर) के वर्णनमे कहते है कि—

१-ससार को 'असत्' बतलाने वाले—जगत्को मिथ्या कहनेवाले—वेदान्त-वाक्योंका यथार्थ अभिप्राय मेरे हृदयमे अबतक न समाया था—ठीक समझमे न आया था—कि यह प्रत्यक्ष प्रतीत होनेवाला जगत् किस कारण मिथ्या है? पर अब तुम्हारे (लक्ष्मीजीके) उदरका ध्यान करके यह विचार करके—कि यह सब विश्वप्रपञ्च लक्ष्मीजी के उस 'असत्' उदर से उत्पन्न हुआ है, सब सन्देह दूर होगया। वास्तवमे 'जगत् मिथ्या है' वेदान्तवाक्योंका यह तत्त्व अच्छी तरह हृदयङ्गम होगया। जगत् असत् (मिथ्या) है क्योंकि यह लक्ष्मी-(जगज्जननी) के 'असत्' उदरसे उत्पन्न हुआ है, जिसका 'कारण' मिथ्या है वह स्वय भी मिथ्या है। लक्ष्मीजीका उदर 'असत्' है—और इसलिये उससे उत्पन्न ससार भी असत् (मिथ्या) है। (कविसमयानुसार उदरकी सत्ता काल्पनिक है)।

कमरके वर्णनमे कहते है कि—

२-माध्यमिकों (बौद्ध विशेषो) के 'शून्यवाद'को बड़े बड़े—शकराचार्य, वाचस्पति मिश्र, श्रीहर्ष और उदयनाचार्य जैसे—अनेक वावदूक विद्वानोंके मारे ससार मे जब कही जरा भी ठहरनेको ठौर न मिली—तो वह (शून्यवाद) सब ओर-से सिमटकर तुम्हारी कमरमे आकर छिप गया। असत्ख्याति अपनी जान बचानेको लक्ष्मीजीकी कमरमे आ छिपी—अब उसे कोई पा नही सकता, जब "आश्रय" ही का कहीं पता नहीं नजरसे गायब है तो 'आश्रित'का खोज कैसे मिले-'आधार ही गायब है तो उसके 'आधेय' का पता कैसे चले !

शून्यमे शून्य मिल गया, असत्मे असत् समा गया। माध्यमिकोंकी 'असत्ख्याति' (शून्यवाद) और लक्ष्मीजीकी 'कमर', दोनों ही—असत्' हैं !

कटि-वर्णनमे 'शंभु' कविका यह सवैया भी बहुत साफ और अपने ढंगमे निराला है, इसका चौथा चरण तो अत्यन्त चमत्कृत है:—

"सिंह भ्रमैं वन भावरी देत औ सावरी भृंगी भई करि खेदै,
'सम्भु' भने चसमा चख दैके बिरंचि रची बिसराइकै बेदै।
राधिका-लंककी संक करौ जनि शंकर हू नहि जानत भेदै,
जो मन है परमानु समान निगोडी तऊ तिहि मे करै छेदै"॥

× × ×

जगत जनायो जिहिं सकल सो हरि जान्यो नाहिं।
ज्यौं आंखिन सब देखिये आंखि न देखी जाहिं॥६७०॥

❀ ❀ ❀

यह सब जगत् (जिसकी सत्तासे स्थित और) जिसके प्रकाशसे प्रतिभासित हो रहा है-अपनी मायासे रचकर जो इसे दिखा रहा है- वह स्वयं 'अज्ञेय' है, नही जाना जाता, नही दीख पड़ता। आंखसे सब कुछ देखा जाता है, सबको आंखसे देखते है, पर स्वयं आंख (अपने आपको) नही दीखती। आंखको आंखसे नहीं देख पाते।

कितनी पतेकी बात कही है, कैसा सुन्दर दृष्टान्त है। यह जितना सहज और सरल है,उतनाही निगूढ़ दार्शनिक रहस्य इसमें छिपा है! इसकी व्याख्यामे बहुत कुछ कहा जा सकता है।

भक्तिमार्ग

विहारीलाल जिस प्रकार ज्ञानमार्गगामी थे इसी प्रकार भक्ति-पन्थके भी प्रवीण पथिक थे। इसके भी दो चार दोहे सुन लीजिये, कैसे नावकके तीर हैं—

पतवारी माला पकरि और न कछू उपाव।
तरु संसार पयोधिकौं हरि नामैं करि नाव ॥६७२॥

कैसा अच्छा रूपक बांधा है, और कितनी सच्ची बात कही है। हरिनामको नाव बना और जपमालाकी पतवार पकड़, बस इस संसार-समुद्रको तर जा, और कोई उपाय पार उतरनेका नही है।

तौ लगि या मन-सदन मे हरि आवहिं किहिं बाट।
निपट विकट जब लगि जुटे खुटहिं न कपट-कपाट ॥६७६॥

कितनी मनोहर रचना है, कर्णकटु 'टकार'की बहार इस जगह कितनी श्रुतिमधुर मालूम दे रही है। कपटी 'भक्त'को क्या फटकार बतलायी है।

जबतक कपटके विकट किवाड़ जुटे हैं, तब तक इस मन-रूप मन्दिरमें हरि किस रास्तेसे आवें! ज़रा सोचो तो, लोहेके फाटकसे मकानको मज़बूतीके साथ बन्द कर रक्खा है और चाहते हो कि कोई भला आदमी उसके अन्दर पहुंचकर तुम्हें कृतार्थ करे!

"ई ख़यालस्तो महालस्तो जनूं" †

जपमाला छापा तिलक सरै न एकौ काम।
मन काँचे नाचे वृथा सांचे राँचे राम ॥ ६६६ ॥

इस दोहेके दण्ड-प्रहारसे भण्ड-भक्तिका भाँडा फोड़ दिया है!

× × ×

† यह व्यर्थ विचार है-असम्भव है और पागलपन है।

दूरि भजत प्रभु पीठ दै, गुनबिस्तारन काल।
प्रगटत निरगुन निकट हि चंग रङ्ग गोपाल॥ ६७४॥

* * *

बिलकुल नयी बात कही है। साकार या सगुणके उपासक, निराकार या निर्गुणके उपासकोंपर ताना मारा करते हैं कि निर्गुणकी उपासना हो ही नहीं सकती। बिहारी कहते हैं-कि गुण विस्तार करनेके-सगुण रूपकी उपासनाके—समय प्रभु पीठ देकर दूर भागते है। उसके गुण अनन्त हैं, कोई पार नहीं पा सकता, फिर कोई सगुणोपासक उसे क्षीरसागरमे ढूँढता है, कोई वैकुण्ठमे खोजता है, कोई कैलाशपर, और कोई कहीं। पर निर्गुणोपासनामे वह पास ही प्रकट हो जाता है, जहां ध्यान करो वही उसकी प्राप्ति सुलभ है। चङ्गकी-पतङ्गकी-डोरी को जितना बढ़ाओ उतना ही पतग ऊपर जाता है—डोरी (गुण) काट दो तो पास आ पड़ता है। 'चङ्ग रंग' चंगकी तरह।

कोई इसका अर्थ यह भी करते है,-गुण-विस्तारकालमे-सत्व-रजस्तमोलक्षण गुणावृत पुरुषोंसे वह (ईश्वर) दूर रहता है, और जो 'निर्गुण' है—गुणातीत है— उनके निकटमे ही प्रकट होजाता है। जैसा कि भगवद्गीतामे कहा है—

" गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्।
जन्म-मृत्यु-जरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥"

(गीता १४। २०)

* * *

पर इस अर्थमे चङ्ग रङ्गकी संगति बिगड़ जाती है।

× × ×

थोरेई गुन रीझते बिसराई वह बानि ।
तुमहूं कान्ह मनौ भये आज काल के दानि ॥ ६९० ॥

* * *

बड़ो 'शोखी' है। "दान" कहते हैं 'नटके ढोलिया' को। नट बढ़ियासे बढ़िया तमाशा दिखाता है—जानपर खेलकर एकसे एक कठिन कला करके दिखाता है—पर ढोलिया ढोलपर डंका मारकर बराबर यही कहता रहता हैं कि "यह कला भी नहीं बदी, यह भी नहीं बदी।"

भक्त ईश्वरसे कहता है कि पहिले तुम थोड़ेसे गुणपर रीझ जाते थे— झूठ मूठ भी किसीके मुँहसे तुम्हारा नाम निकल गया तो उसका बेड़ा पार लगा दिया। पर अब हम नाना प्रकार-को भक्तिसे—अपनेमे अनेक सद्गुण सम्पादन करके—तुम्हे रिझाना चाहते हैं, पर तुम नहीं रीझते। मालूम होता है कि तुम भी 'नटके ढोलिया' बनगये हो ! हमारी प्रत्येक प्रार्थना, उपा-सना, भक्ति और सत्कर्मपर 'यह भी नहीं बदा' कहकर उपेक्षा कर रहे हो !

अथवा आजकलके दानी जिस तरह दानपात्र (याचक) मे सौ मीन मेख निकालकर— तुममे यह बात तो अच्छी है, पर इतनी कसर है, इसलिये हमारी सहायताके तुम पात्र नहीं हो, इत्यादि बहाना करके दानपात्रको कोरा टाल देते है. ऐसा ही बरताव तुम अपने दीन भक्तोके साथ करने लगे हो।

× × ×

कबको टेरत दीन रट होत न स्याम सहाय।
तुम हूं लागी जगत-गुरु जगनायक जगवाय ॥ ६९१

❀ ❀ ❀

संसार बड़ा स्वार्थी है। यहां कोई किसी दीन दुखीके करुणक्रन्दन पर कान नही देता। इसी संसारकी हवा, मालूम होता है, हे 'जगत-गुरु' जगनायक स्याम ! तुम्हें भी लग गयी। तभी इतने वेपीर होगये हो !

"कबको टेरत दीनरट होत न स्याम सहाय"
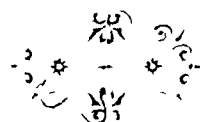
दोष-परिहार

कई विवेचक महानुभावोंने विहारीकी कवितामें कई प्रकारके दोषोंकी उद्भावना भी की है। विहारीकी कविता सर्वथा दोषरहित है, उसमें कोई भी दोष नहीं है, यह बात नही है। मनुष्यकी कोई भी रचना ऐसी नही हो सकती, जिसमें दोषोंका सर्वथा अभाव हो। कविकुलगुरु कालिदासतककी कवितामें जब ढूंढनेवालोंने दोष ढूंढ निकाले हैं, उनके अनेक पद्योंमें अनेक प्रकारके दोष व्यक्तिविवेककार और काव्यप्रकाशकार आदि आचार्योंने दिखलाये हैं, तब यदि विहारीकी कवितामें भी कुछ दोष पाये जायँ तो यह कोई आश्चर्यकी बात नही है।

सतसईके प्राचीन टीकाकारोंने (अमरचन्द्रिकाकार तथा अनवरचन्द्रिकाकारने)—कही एकाध जगह प्रायः ध्वनि-व्यञ्जनाके तारतम्यसे बहुत सूक्ष्म रीतिपर—"यहां गुणीभूत व्यङ्ग्य है, इससे यह अवर काव्य है"। या "यहां विभावकी व्यक्ति क्लिष्टतासों होतु है यातें रसदोष है" इत्यादि कहा है। पर कुछ आधुनिक टीकाकार और लेखक इससे आगे बढ़े हैं। उन्हे कई नये दोष भी विहारीकी कवितामें दीख पड़े हैं। यहाँ ऐसे ही

दोषोपर विचार करना है, जो हमारी सम्मतिमे दोष नही, 'दोषाभास' है, दोष समझनेवालोंकी समझका दोष है।

उनमे पहिला दोष विहारीकी भाषाके सम्बन्धमे है। कुछ लेखकोको राय है कि " विहारी बुन्देलखण्डमें पैदा हुए थे, या वहाँ कुछ दिनो रहे थे, इसलिये उनकी भाषामे बुन्देलखंडी शब्द पाये जाते है।" विहारी बुन्देलखण्डी थे, या ब्रजवासी, यह विषय उनकी जीवनीसे सम्बन्ध रखता है, इसलिये इसपर जीवनी लिखते समय विचार किया जायगा। यहाँ केवल उन्ही शब्दोंपर विचार करना है कि जिनके आधारपर उन्हे बुन्देलखण्डनिवासी या बुन्देलखण्डप्रवासी बतलाया जाता है, जिसके कारण विहारीकी भाषाके शुद्ध ब्रजभाषा होनेमें सन्देह किया जाता है। यह मान लेनेपर भी कि विहारी कुछ दिन बुन्देलखण्ड-मे रहे थे, उनकी भाषा शुद्ध ब्रजभाषा हो सकती है। उर्दूके सुप्रसिद्ध कवि " अनीस " का ख़ानदान कई पुश्त पहिलेसे देहली छोड़कर लखनऊ आ रहा था। अनीस देहलीसे बाहर पैदा हुए, वहीं तालीम पायी, फिर भी उनकी ज़बान ठेठ देहलवी ज़बान मानी जाती है। तमाम उम्र लखनऊमे रहते हुए भी उनकी ज़बानपर लखनवी रँग नही चढ़ा। जिन शब्दो और मुहावरोंमे देहली और लखनऊकी भाषामें भेद है, उनका प्रयोग वह देहलवी तर्ज़पर ही करते थे। किसी शब्दपर यदि कोई लखनवी कुछ कहता तो उसके जवाबमें 'अनीस' कह देते थे कि "यह मेरे घरकी ज़बान है। हज़रात लखनऊ इस तरह नही फ़रमाते।" इससे सिद्ध है कि ज़बानके जौहरी जानसे ज्यादह ज़बानकी आनपर जान देते है। कहीभी रहें, वह भाषाको सांकर्य दोषसे बराबर बचाते हैं।

विहारीकी भाषाको 'बुन्देलखण्डी' भाषा, प्रमाणित करनेके लिये दो शब्द है, जिन्हे "शृगाल-रोदन न्याय" से प्रायः

सबने दोहराया है ॐ एक है—*लखवी, जानवी*। दूसरा—*'भौंसाल'*।

'लखवी' शब्दके प्रयोगपर व्रजभाषाके प्रवीण पारखी कई महापुरुषोंने आपत्ति की है। किसीने कहा है 'यह शुद्ध व्रजभाषा नहीं है, फिर कहा है "यह व्रजभाषा ही नहीं है," किसीने इसमें बुंदेलखंडी भाषाकी वू बतलाकर विहारीको व्रजभाषासे ही नहीं व्रज-भूमिसे भी 'जलावतन' करनेकी चेष्टा की है। मैं यहां अभी विहारीके देश-कालपर निबन्ध लिखने नहीं बैठा, पर इतना अवश्य कहूंगा कि यदि 'लखवी, जानवी, मानवी' शब्दोंके प्रयोगके कारण विहारी की भाषा, शुद्ध व्रजभाषा नहीं, तो फिर व्रजभाषाके बाबाआदम सूरदासजीकी भाषा भी शुद्ध व्रजभाषा नहीं। उन्होंने भी यह "अपराध" किया है—

रागनट—"मोहि तोहि *जानिवी* नदनन्दन जब वृन्दावनतें गोकुल जैवो" (सूरसागर, दानलीला)

और यदि इन शब्दोंके प्रयोगके कारण ही विहारी बुंदेलखंडी थे, तो श्रीतुलसीदासजी और भिखारीदासकी जन्मभूमिके लिये भी बुंदेलखंडका कोई गांव ढूंढ लेना चाहिए—

श्री तुलसीदासजीने भी ऐसा प्रयोग किया है—

ॐ बा० राधाकृष्णदास 'कविवर विहारीलाल'में प० अम्बिकादत्तजी व्यास, (विहारी विहारमें मेसर्स मिश्रवन्धु अपने 'विनोद'में) बराबर इस बारेमें एक दूसरेकी ताईद करते चले गये हैं। पर——

"दिलमें कुछ इन्साफ करता ही नहीं कोई बुजुर्ग।
होके अब मजबूर मैं इस राज़ को करता हूं फाश॥"

"परिवार पुरजन मोहि राजहि प्राणप्रिय सिय *जानबी*,
तुलसी सुसील सनेह लखि निज किंकरी करि *मानबी*।"
(रामायण—बालकांड)

कविवर भिखारीदास (जो प्रतापगढ़ अवधके निवासी थे) जिनकी भाषाके सम्बन्धमे मिश्रबन्धुओंकी राय है कि—

"दासकी भाषा शुद्ध व्रजभाषा है"(मि० ब० वि० ६६५)"
"इनका बोलचाल (?) भी बहुत श्लाघ्य है" (६६५)"

इन्होंने भी इन ''ठेठ बुंदेलखडी'' शब्दोंका प्रयोग किया है—

''जाती हैं तूँ गोकुल गोपाल हूं पै "जैबी" नेकु
आपनी जो चेरी मोहि जानती तू सही है,
पाय परि आपुही सों "पूछबी" कुसल छेम
मोपै निज ओरतें न जात कछु कही है।
"दास" मधुमासहूके आगम न आये तबै
तिनसो सदेसनिको बातै कहा रही है,
एतो सखी ''कीबी" यह अंब-बोर "दीबी" अरु
"कहिबी" वा अमरैया राम राम कही है।"
(काव्यनिर्णय)

❀ ❀ ❀

शृंगार-सतसईकार रामसहायदासने भी (जो "बासी कासी खास" थे) इन शब्दोंको बरता है—

"छन बिछुरन चित चैन नहिं चलन चहत नँदलाल।
अब 'लखिबी'री होति है याको कौन हवाल ॥ ६७ ॥"
"लखत कलाधर 'देखबी' कामिनिमान सयान ॥ २६७ ॥"
(शृंगारसतसई)

❀ ❀ ❀

इसी प्रकार 'बोधा' कवि भी कहते हैं —

सवैया

" खरी सासु घरी न छमा करि है, निसिवासर त्रासन हीं मरबी,
सदा भौंहें चढ़ाये रहे ननदी यों जिठानी की तीखी सुने जरबी।
कवि बोधा न संग तिहारो चहै यह नाहक नेह फँदा परबी,
बड़ी आंखें तिहारी लगे ये लला लगि जायँ कहूं तो कहा करबी॥"

\+ \+ \+

कई "भाषाशास्त्रियों"का यह भी अखण्ड सिद्धान्त सुना गया है कि *खोसाल* शब्दकी जन्मभूमि भी ख़ालिस बुंदेलखण्ड है। इसीके बलपर वह बिहारी बेचारेको बुंदेलखण्डमें धकेल रहे हैं! पर यह सरासर ज़बरदस्ती है। हम देखते हैं, यह शब्द अबतक इधर रुहेलखंडके कई ज़िलोमे—बिजनौर, मुरादाबाद आदिमे—और व्रजके आस पास ही नहीं, ख़ास व्रजमे भी बराबर इसी रूपमे और इसी अर्थमे बोला जाता है और ऐसे लोगोकी ज़बानसे सुना जाता है, जिन्होने बुंदेलखण्ड कभी 'नक्शे' मे भी नही देखा, जो स्वप्नमे भी बुंदेलखंड नहीं गये। उनमेसे बहुतोने तो बुंदेलखंडका शायद नामतक भी न सुना हो!

"कुछ ग्राम्य दोष"

साहित्याचार्य पं० अम्बिकादत्त व्यासजीने एक जगह एक नये प्रकारके "ग्राम्यदोष" की विहारीके काव्यमे कल्पना की है—

"ज्यौं कर त्यौं चुँहटी चलै ज्यौं चुँहटी त्यौं नारि।
छवि सों गतिसी लै चलति चातुर कातनिहारि॥५४१॥"

* * *

इस दोहेपर व्यासजीने यह टिप्पनी जड़कर 'दादे-सुख़नवरी" दी है—"चरखे कातनेका वर्णन कुछ 'ग्राम्य दोष' है"

वार वार सोचनेपर भी व्यासजीकी इस आशाका अर्थ हमारी समझमे कुछ नहीं समाया ! चरखा कातनेका वर्णन होनेसे ही यह "ग्राम्यदोष" कैसे हो गया ? प्राचीन आचार्योंने तो 'चरखा कातने'की गणना कहीं ग्राम्यदोषमें नहीं। भौंडे ढंग-पर अनुचित शब्दोंमें किसी वातको कहना ग्राम्यदोष * माना गया है। फिर गाँवमे ही चरखा काता जाता, इसलिये ही यह ग्राम्यदोष है, यह भी नही, चरखा शहरोमे काता जाता है, शरीफ़ घरानोंमे भी इसका रिवाज है, और होना चाहिये।

फिर कवि इस वातके पावन्द भी नहीं हैं कि वह शहर-वालोंके ही रस्मो रिवाजका राग गावें (चाहे वे कैसे ही वेहूदा हों) चरखा कातनेसे ही किसीको 'गंवार' या 'गॅवारी' नहीं कहा जा सकता।

विहारीने ही यह चरखा कातनेके वर्णन 'गँवारपन' किया हो सो भी नही, संस्कृत कवियोंने भी ऐसा किया है—

१— "रे रे यन्त्रक मा रोदी कं कं न भ्रमयन्त्यमूः।
कटाक्षाक्षेपमात्रेण कराकृष्टस्य का कथा"॥ †

भावार्थ— चरखेके शब्दको उसका रोना मानकर कोई कहता है कि— मियां चरखे ! क्यों रोते हो ! यह स्त्रियां तो जरा तिरछी नज़रके इशारेसे ही अच्छे अच्छोंको नाच नचा देती हैं, फिर इनके हत्थे चढ़कर तो जो दुर्दशा हो कम है।

---

* साहित्यदर्पणकारने पददोषके प्रकरणमें "ग्राम्यत्व यथा—'कटिस्ते हरते मन.'। अत्र कटिशब्दो ग्राम्यः" लिखा है, इसपर रामचरण तर्कवागीश-ने 'ग्राम्य' का यह लक्षण किया है—"हालिकसाधारणप्रसिद्धार्थकशब्दो ग्राम्य.।" अर्थात् अशिक्षित—असभ्य—समुदायमें विशेषरूपसे प्रसिद्ध—प्रचलित—शब्दका प्रयोग 'ग्राम्य' दोष है। यह लक्षण चरखा कातनेपर या विहारीके इस वर्णनपर किसी तरह नहीं घट सकता।

"इस दोहेमें व्यथाको जल बनाया सो स्त्रीलिङ्गको पुंलिङ्गसे रूपक अनुचित है। यदि "विरह दुःखजल" पाठ होता तो अच्छा होता" (विहारी विहार ११७ पृ०)

हम कहते हैं — साहित्याचार्यजी यह टिप्पनी न देते तो अच्छा होता। 'विरह दुःखजल' पाठ होता तो अच्छा न होता, बुरा होता। उस दशामे यह पाठ विहारीका न होता, व्यासजी-का होजाता। फिर यह श्रुतिमधुर व्रजभाषा न रहती, आजकलकी खड़ीबोली हो जाती, व्रजभाषाके कवि प्रायः "दु ख" नही लिखते, दुख लिखते हैं। यहाँ दोहेमे ऐसा होनेमे (दुख लिखनेमें) मात्राको टांग टूटकर दुखने लगती।

अब रहा 'लिङ्गभिन्नताके अनौचित्यकी' बात। व्यासजी-का यह कहना कि "स्त्रीलिङ्गको पुंलिङ्गसे रूपक अनुचित है" यहभी उचित नहीं। अचेतनके रूपणमे लिङ्गसाम्यको परवा कवि लोग नहीं करते। यदि यह आवश्यक होता तो महाकवि बाण (जिनके विषयमें "बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्" की उक्ति प्रसिद्ध है, जिनके सामने विहारीको और अनौचित्यवादी व्यासजीको भी अदबसे सिर झुकाना चाहिये) "नयन" (नपुंसकलिङ्ग)को "नदी" (स्त्रीलिङ्ग)-के साथ कभी रूपण न करते। उन्होने "हर्षचरित" में ऐसा किया है :—

"आयत-नयन-नदी-सीमान्तसेतुबन्धेन ·· ·· ·····
घोणावंशेन · विराजमान ·युवानमद्राक्षीत् ।"

उपमेय और उपमानके लिङ्गवचनादिके साम्यका ध्यान रखना "उपमा"मे अत्यावश्यक समझा गया है। पर इसके व्यतिक्रमके उदाहरण भी महाकवियोंके काव्योमें मिलते हैं—

"त्याज्यो दुष्टः प्रियोप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता ।"

(रघु० । १ । २८ ।

यहां उपमेय–'प्रिय.' पुंलिङ्ग है, और उपमान–"अङ्गुली" स्त्रीलिंग ।

इसीलिये आचार्य दण्डीने कह दिया है—

"न लिङ्गवचने भिन्ने न न्यूनाधिकतेऽपि वा ।
उपमादूषणायाल यत्रोद्वेगो "न धीमताम् ॥" (काव्यादर्श)

❀ ❀ ❀

इस कारण विहारीका उक्त "विरह-विथा-जल" रूपक सर्वथा उचित है। इसमे कुछ भी अनौचित्य नही।

× × ×

"तमाखूके वर्णनकी चाल"

"ओठ उचै हाँसी भरी दृग भौंहनकी चाल ।
मो मन कहा न पी लियो पियत तमाखू लाल ॥ २८२ ॥

❀ ❀ ❀

इस दोहेपर व्यासजीकी टिप्पनी है —

"यह दोहा अनवरचन्द्रिकामे नहीं है। पुराने कवियोंमें तमाखू गांजे आदिके वर्णनकी चाल न थी, इस कारण इस दोहेके विहारीकृत होनेमे सन्देह भी है।"

(विहारीविहार पृ० ८४)

अनवरचन्द्रिकामे न होनेसे ही इसके विहारीकृत होनेमें सन्देह नही हो सकता, जबकि अन्य अनेक टीकाओंमे यह है।

विहारीके समय तमाखू पीनेका रिवाज अच्छी तरहसे होगया था। इसलिये इसके वर्णन करनेकी चाल भी होसकती है। यह भी कोई ऐसी बात नहीं जिससे इसके विहारीकृत

होनेमें सन्देह किया जा सके। बिहारीके पूर्ववर्ती या उनके समकालीन किसी हिन्दी कविने तमाखूका वर्णन नहीं किया, इससे बिहारी भी उसका वर्णन न करें, यह कोई कारण नहीं है। व्यासजीकी इस टिप्पनीको पढ़ कर नीलकण्ठ-दीक्षितकी यह सूक्ति याद आ जाती है—

"अचुम्बितोल्लेखपथप्रवृत्ता-
नसंप्रदायेन कवीन् क्षिपन्ति।
पथा प्रवृत्तान् प्रहनेन मन्दाः
पश्यन्त्यवज्ञामुकुलीकृताक्षाः।"

❀ ❀ ❀

अर्थात् यदि कवि नये ढंगपर अपूर्वतासे किसी ऐसे विषयका वर्णन करे जो पहले कवियोंने नहीं किया है, तब तो उसपर 'संप्रदायविरोध'का आक्षेप किया जाता है। और यदि उन्हीं बातोंको दोहराता है, जिनका वर्णन पुराने कवि कर गये हैं, तो यह कहकर उसकी अवज्ञा की जाती है कि इसमे कुछ नवीनता नही, यह तो पुराने कवियोंने भी कहा है—

"गरचे क़न्दीले-सुख़नको मॅढ़ लिया तो क्या हुआ,
ढांचकी तो है वही अगले बरसकी तीलियां।"

❀ ❀ ❀

"तमाखु"का वर्णन संस्कृत कवियोंने भी किया है—

"बिडौजाः पुरा पृष्टवान् पद्मयोनिं
धरित्रीतले सारभूतं किमस्ति।
चतुर्भिर्मुखैरुत्तरं तेन दत्तं
तमाखुस्तमाखुस्तमाखुस्तमाखुः।"

"क्वचिद्धुका क्वचित्थुका क्वचिन्नासाग्रवर्तिनी ।
एषा त्रिपथगा गङ्गा पुनाति भुवनत्रयम् ॥ "

× × ×

" अश्लीलता औ वीभत्स "

बहक न इहिं बहनापने जब तब बीर विनास ।
बचै न बड़ी सबीलहू चील्हघौंसुवा मास ॥ २३१ ॥

* * *

इसपर व्यासजीका 'फुट नोट' है—

"यह दोहा शृङ्गारसप्तशतीमें नहीं है। इसमें कोई उत्तम उक्ति नहीं है, अश्लील औ वीभत्स प्रगट है।"

(वि० वि० पृ० ७०)

अपनी अपनी रुचि ही तो है, व्यासजीको इसमें कोई उत्तमता नहीं दीखती, हम समझते हैं यह ऐसी उत्तम उक्ति है, जैसी होनी चाहिये ।

किसी दुष्टा कुटनीके फेरमें पड़ी हुई, सती कुलवधूको हितू सखीका उपदेश है कि तू इसके—(कुटनीके)—बहनापन (मित्रता)पर मत बहक, सावधान हो। इसकी कुसंगतमें पड़कर, आज नही तो कल, तेरा विनाश—(पतिव्रत-धर्मका नाश)—हुआ धरा है, देख, सँभल जा, याद रख, चीलके घोंसलेमें मांस बड़े प्रयत्न करनेपर भी नही बच सकता !

ऐसे सुन्दर उपदेशमे, समझमें नहीं आता, "अश्लीलता" और "वीभत्स" किधरसे आ घुसे ?

"चीलके घोंसलेमें मांस नहीं बचता" यह एक प्रसिद्ध लोकोक्ति है, जो ऐसे ही अवसरपर कही जाती है, जहां किसी चीज़का बचना असम्भव हो ।

"दिरमो दाम अपने पास कहां, चीलके घोंसलेमें माँस कहाँ।"

(ग़ालिब)

❀ ❀ ❀

यह "लोकोक्ति"का "मांस" कुछ असली "मांस" नहीं है, न इसका उल्लेख ही ऐसे ढंगपर हुआ है, जिसमें बीभत्सताकी बू आती हो, या जिसे देखना या सुनना या आँख और कान गवारा न कर सकते हों।

"प्रससार शनैर्वायुर्विनाशे तन्वि! ते तदा"

* * *

साहित्यदर्पणके इस उदाहरणका ध्यान करके शायद यहां अश्लीलता समझ ली गयी है। पर ऐसा समझना ठीक नहीं है। यहां (दोहेमें) "नाश"से नायिकाके "शरीरका विनाश" किसी तरह नहीं समझा जा सकता। 'कुटनी' कोई भिड़न या नाका (मगर) नहीं है, जो उसे फाड़कर खा जायगी, या निगल जायगी! यहां "नाश"से मतलब पातिव्रतधर्म-विनाशसे है। अमङ्गल अश्लीलता वाले अर्थकी ओर—(शरीरविनाशकी ओर)- ध्यान जा ही नहीं सकता। "मुहावरे"की श्लक्ष्णता पर "श्लेष"का दूसरा पहलू चस्पां ही नहीं हो सकता।

"स राजलोकः कृतपूर्वसंविदारम्भसिद्धौ समयोपलभ्यम्।
आदास्यमानः प्रमदामिषं तदावृत्य पन्थानमजस्य तस्थौ"

रघु० ७। ३१।

❀ ❀ ❀

"आमिष" शब्दका प्रसिद्ध अर्थ "मांस" है, पर यहां "प्रमदामिष"में "स्त्रीके मांस या स्त्रीरूप मांसको छीननेके लिये "राजलोक" (प्रतीयमान चीलकी या बाज़की तरह, अथवा शिकारी कुत्ते या भेड़ियेकी तरह!) रास्ता रोक कर खड़ा हो गया!"

ऐसा कोई भी पाठक नहीं समझता। यद्यपि "आमिष"का प्रसिद्ध अर्थ मांस है, दूसरा अर्थ "भोग्यवस्तु" अप्रसिद्ध है—(आमिषं त्वस्त्रियां मांसे तथा स्याद्भोग्यवस्तुनि)-तथापि प्रसंगवश इस अप्रसिद्ध अर्थ-"स्त्रीरूप भोग्यवस्तु"की ओर ही ध्यान दौड़ता है।

फिर बिहारीका उक्त दोहा तो बहुत ही स्पष्ट है। उसमें न अश्लीलताकी ओर ध्यान जा सकता है, न मुहावरेकी वजहसे बीभत्सताकी ही गन्ध आ सकती है।

यदि किसीको इतनेपर भी अश्लीलता और बीभत्सता ही सूझ पड़े, तो भी कोई हानि नहीं। ऐसे प्रसङ्गपर—कुटनीके चंगुलमें फँसकर कुलवधूके प्राणाधिक धर्मके विनाशकी आशंका-पर—सखीको यही कहना चाहिये था! और इन्हीं ज़ोरदार शब्दोंमें कहना चाहिये था। धर्म विनाशकी सम्भावनासे उत्पन्न आवेशमे बनावटी "अश्लीलता"की परवा हर्गिज़ नहीं की जासकती।

"इति सर्वं रमणीयं, नात्र दोषकणिकाया अप्यवकाशः।

किमुत इयत्योर्बीभत्साश्लीलतयोः कबन्धताडकासोदर्ययोः।"

\+ \+ \+

"उत्तम उक्ति नहीं है"

"तो ही निरमोही लग्यो मो ही अइ सुभाव।
अन आये आवै नही आये आवै आव" ॥ ३५२ ॥

❀ ❀ ❀

"तेरा (ही) मन, निर्मोही है (लग्यो मो हो) उससे मेरा हृदय लगा सो मेरे मनका भी यही स्वभाव हो गया, तुमारे आये विना मन हमारे पास नहीं आता, तुमारे आये से आवेगा इसलिये आव"। ऊपरके दोहेकी यह (उल्लिखित) व्याख्या करके व्यासजी लिखते हैं कि—

"इस दोहेमें न प्रसाद है न उत्तम उक्ति है"—

प्रसादका तो यह दोहा अच्छा ख़ासा उदाहरण है, सुनते ही समझमें आ जाता है, शब्द सीधे सादे हैं। व्यासजीने पूर्वार्धके अन्तमें "यहै सुभाव" का "अहै स्वभाव" बनाकर कुछ उलझन पैदा कर दी है, इससे इसके प्रसादमें कुछ फ़र्क़ ज़रूर आ गया है, पर इसमें दोहेका दोष नहीं है।

भाव भी इसका सरल है, झट समझमें आ जाता है। इसमें उत्तम उक्ति भी अच्छी है, क्योंकि नायकके निष्ठुर मनके साथ मिलनेके कारण उत्पन्न हुई अपने मनकी निष्ठुरताके कथन-पूर्वक उपालम्भद्वारा नायकमें अपने मनकी अत्यासक्ति व्यङ्ग्य है। और अपने मनके बुलानेके वहानेसे प्रियप्राप्तिरूप इष्ट सिद्ध होता है, इसलिये यहां "पर्यायोक्त" अर्थालङ्कार है—

"पर्यायोक्तं तदप्याहुर्यद् व्याजेनेष्टसाधनम् ॥"

(कुवलयानन्द । ६६)

❀ ❀ ❀

इसके अतिरिक्त शब्दालङ्कार—अनुप्रास—भी वड़ा बढ़िया है। इस प्रकार इन दोनों अलंकारोंकी तिलतण्डुलवत् "शब्दार्थालङ्कार-संसृष्टि" है—

"मिथोऽनपेक्षयैतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते ।"

(साहित्यदर्पण । ९८)

❀ * ❀

इस तरह जब इस कवितामें व्यङ्ग्य भी है, दुहरे अलंकारोंका चमत्कार भी है। शब्द भी सुन्दर हैं, प्रसाद भी स्पष्ट है, भाव भी 'मनोहर' है। फिर भी—इतनेपर भी—यह "उत्तम उक्ति" क्यों नहीं ?

——❀——

"पुराणरीति-व्यतिक्रम और रसाभास"

मेसर्स मिश्रबन्धुओंने लिखा है कि—

"काव्यके पूर्णज्ञ होनेपर भी विहारी उसकी रीतियोंके बहुत अधीन नहीं रहते थे"। (हिन्दी नवरत्न पृ० २३२)

न रहते होंगे, पर आपने इस बातको किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं किया। कोई प्रमाण ऐसा—(पुराणरीति-व्यतिक्रमका)—आप पेश कर भी देते तो भी उसके उत्तरमे महाकवि बिल्हणका यह प्रसिद्ध पद्यरत्न दिखलाकर सहृदय समाजका सन्तोष किया जा सकता था—

"प्रौढिप्रकर्षेण पुराणरीति-
व्यतिक्रमः श्लाघ्यतमः कवीनाम्।
अत्युन्नतिस्फोटितकञ्चुकानि
वन्द्यानि कान्ताकुचमण्डलानि॥"
(विक्रमाङ्कदेवचरित)

* * *

मिश्रबन्धुओंकी सम्मतिमे विहारीने पुराणरीतिका व्यतिक्रम किया है। कहा किया है, इसका आप लोगोने यह पता दिया है—

"मरणावस्थामें रसाभास समझकर बहुतेरे कविगन (?) मूर्छा ही का वर्णन कर देते है परन्तु विहारीने मरणका ही वर्णन कर दिया है—

"कहा कहौं वा की दसा हरि प्राननके ईस।
विरह-ज्वाल जरिवो लखे मररिवो भयो असीस।"*

* * *

* 'अब यह हालत है कि फ़ुरक़तमें एवज जीनेके,
मेरे मरनेकी मुझे लोग दुआ देते हैं।" (बर्क़, लखनवी)

विहारीने तो नहीं पर आपने इसमें मरणका वर्णन बतलाकर अपनी समझकी सीमाका व्यतिक्रम ज़रूर किया है, और समझदारोंको "सुख़नफ़हमी मिश्रवन्धुवां मालूम शुद्" कहनेपर मजबूर किया है। इस दोहेमें मरणवर्णनका कहीं पता भी तो नहीं, यह आप लोगोंने बिलकुल बेपरकी उड़ायी है। महाराजगण! यह "विरहनिवेदन" है "मरणनिवेदन" नहीं! विरह-ज्वालामें जलनेके साथ मरनेका 'कम्पेरीज़न' (तारतम्य या मिलान) किया गया है। मरनेके दुःखसे कहीं अधिक दुःख इस विरह-वेदनामें बतानेसे तात्पर्य है। सखी कहती है कि "हे प्राणोंके ईश हरि! उसकी दशा क्या कहूं, कुछ कही नहीं जाती। उसे विरहज्वालामें जलती देखकर मरना असीस (आशीर्वाद) के समान है।" यहाँ मरनेसे विरहज्वालाके जलनेमे, दुःखाधिक्य व्यङ्ग्य है। अर्थात् इस दशामें रहनेसे मरना कहीं अच्छा है।

"मृतेरप्यधिकं दुःखं तस्यास्त्त्वं द्रुतं व्रज" इति भावः।

* * *

"छूट जाये ग़मके हाथोंसे जो निकले दम कहीं।
ख़ाक ऐसी ज़िन्दगीपर 'वह' कहीं और 'तुम' कहीं॥"

\+ \+ \+

'बहुतेरे कविगन' (?) मूर्च्छाहीका नहीं, स्पष्ट मरणका वर्णन भी कर देते हैं। देखिये मरणका वर्णन ऐसा होता है—

"कुसुमकार्मुककार्मुकसंहितद्रुतशिलीमुखखण्डितविग्रहाः।
मरणमप्यपराः प्रतिपेदिरे किमु मुहुर्मुहुर्गतभर्तृकाः॥"

(माघ ६। १६।)

* * *

कादम्बरीमें वाणभट्टने एकवार नहीं कई वार मरणका वर्णन किया है। पुण्डरीक, वैशम्पायन, चन्द्रापीड और शूद्रक, इन सबके मरणका उल्लेख है।

'उद्दीपन' विभावके "दौरात्म्य"से मरे हुए किसी वसन्त-पथिककी मृत्युकी 'तफ़तीश' "रोमल" "सोमल" नामक दो संस्कृत कवियोंने—(जो मिश्रवन्धुओंकी तरह मिलकर कविता किया करते थे !)—इस प्रकार की है—

"सव्याधेः कृशता क्षतस्य रुधिरं दष्टस्य लालास्रुतिः
किञ्चिन्नैतदिहास्ति तत्कथमसौ पान्थस्तपस्वी मृतः ।
आः ज्ञातं मधुलम्पटैर्मधुकरैरारब्धकोलाहले,
नूनं साहसिना रसालमुकले दृष्टिः समारोपिता ॥" *

सवैया—

"तीर लग्यो न,गड़ी वरछी नहिँ,घायल घातकने न कस्यो है,
एकहु ठौर चुटैल नहीं, नहिँ गाज परी न कहूं पजस्यो है ।
व्याधि न वूझि परे कछु 'शंकर'तो फिर क्यों विन प्राण पस्यो है,
वौरे रसाल वतावत हैं वस 'मार'को मास्यो वटोई मस्यो है ॥"

---

* किसी मुसाफिरकी लावारिस लाशको आमके वृक्षके पास पड़ी देखकर 'रोमल' 'सोमल' नामक दो कवि, उस पथिककी इस प्रकार अचानक मृत्युके कारणपर खड़े विचार कर रहे हैं कि यह कैसे मरा। यदि किसी बीमारीसे मरता तो लाश दुवली होती, पर ऐसा नहीं है। यदि किसी शस्त्रसे घायल होकर मरता तो कहीं खूनके धब्बे होते, वह भी नहीं। यदि किसी विषैले जन्तु—सर्पादि—के काटनेसे मरा होता तो मुहसे लार टपकती, झाग आते, ऐसा भी नहीं। फिर यह मरा कैसे ? ओः मालूम हुआ, इस आमको मञ्जरीको जिसपर भौंरे गुजार रहे हैं, इसने नजर भरकर देखा है। इसीसे गरीबकी मौत हुई है।

शंकरजीका सवैया और दोहा भी इसी भावके द्योतक हैं।

दोहा—

"देखा पन्थी तरुणका शव रसालके पास ।
कारण जाना अन्तका हाय! वसन्तविकास ॥"

(कविराज शङ्कर महाराज)

× × ×

" निन्द्य भाव "

"विहँसि बुलाय लगाय उर प्रौढ़ तिया रस घूमि,
पुलकि पसीजति पूतको पयौचूम्यो मुँह चूमि ।"

"यहां पुत्रमें भी पतिभाव आ गया है; जो निंद्य है ।"

(हिन्दी नवरत्न पृ० २३४)

इस दोहेके प्यालेमें शृङ्गार रस भरा छलक रहा है। 'विहँसना' और 'उर लगाना' कायिक अनुभाव (अनुराग-व्यञ्जक चेष्टा)। "पूतको पियचूम्यो मुख" उद्दीपन विभाव। 'प्रौढ़ तिया' और (तरुण) 'पिय', आलम्बन विभाव। 'रस' (प्रीति, रति) स्थायी भाव। 'हर्ष' संचारी भाव। 'पुलकना' 'पसीजना', सात्त्विक भाव। सब एक जगह पास पास मौजूद हैं। 'पिय'की मौजूदगीमें 'पुत्रमें पतिभाव' कैसे आगया, ज़रा सोचिये। इसमें कुछ भी निन्द्य नहीं है, सब स्तुत्य है। उद्दीपनता, प्रियके चूमे हुए मुखमें है। प्रियके मुखका उस मुखपर चुम्बनस्पर्श हुआ है, इस सम्बन्धसे–प्रियके मुखस्पर्शसम्बन्धसे–वह सात्त्विक भावका कारण हुआ है। प्रियसे सम्बन्ध रखनेवाले जड़ पदार्थ भी सात्त्विक भावके कारण हो जाते हैं। जैसे—

"हित करि तुम पठयो लगे या बिजना की वाय ।
टरी तपन तन की तऊ चली पसीने न्हाय ॥ ३०३ ॥"

* * *

यहां व्यजनमें या व्यजनकी वायुमें "पतिभाव" नहीं आगया है। प्रियने वह बिजना-पंखा- भेजा है, इसलिये उसकी हवासे पसीना आ रहा है—सात्त्विक भाव हो रहा है—इसी प्रकार—

"गुड़ी उड़ी लखि लालकी अगना आंगन माँह।
बौरी लौं दौरी फिरै छुवत छबीली छाँह॥ २५५॥"

* * *

यहां भी 'गुड़ी' (पतङ्ग) की छाँहमें "पतिभाव" नहीं आगया है। इसी तरह—

"भेटत बनत न भावतौ चित तरसत अति प्यार।
धरति उठाय लगाय उर भूषन बसन हथ्यार॥"

* * *

यहाँ भी 'भूषन', 'बसन', और "हथियार"में पतिभाव नहीं आ गया है।

बालकका आलिंगन और चुम्बन, नायिकाओंके अनुरागेङ्गित-प्रकरणमें (वात्स्यायन कामसूत्रमें और साहित्य-ग्रन्थोंमें) उल्लिखित है। यथा—

"जृम्भते स्फोटयत्यङ्गं बालमाश्लिष्य चुम्बति।
भाले तथा वयस्याया रचयेत्तिलकक्रियाम्॥"

(साहित्य-दर्पण। ३। १२०।)

इसीका उदाहरणस्वरूप बिहारीका उक्त दोहा है।

सवैया—

"पूरण प्रेम उमाहते प्यारी फिरै सब मांझ हिये हुलसाती,
पूतको आनन चूम्यो पिया तिय चूमत ताहि महारस माती।
चाहि उतै मुसकाय बुलाय हिये सुख पाय लगावति छाती,
गात पसीज रोमांचित होति भई अनुरागके रंगमें राती॥"

(इसी दोहेपर कृष्णकवि)

"नेचर निरीक्षणमें ग़लती"

"इनके नेचरनिरीक्षण (?) में केवल एक स्थानपर ग़लती समझ पड़ती है—

"पावस घन अँधियार महँ रह्यो भेद नहिं आन।
रात द्यौस जान्यो परत लखि चकई चकवान॥"

❀ ❀ ❀

"परन्तु वर्षाऋतुमें चक्रवाक नहीं होते। बहुतसे लोग कष्टकल्पना करके यह दोष भी निकालना चाहते हैं, परन्तु हम उस अर्थको अग्राह्य मानते हैं।" (हिन्दीनवरत्न, पृ० २३५)

नहीं महाशयगण! बन्धुगण! ऐसा न मानिये, ऐसा नहीं है। विहारीके 'नेचर-निरीक्षण'मे नहीं, हमें तो यहाँ आपकी समझमें साफ़ ग़लती समझ पड़ती है। "वर्षामे चक्रवाक नहीं होते" यह आपने किससे सुना है? वर्षामें "चक्रवाक" क्या हो जाते हैं? क्या एकदम मर जाते हैं? आख़िर वह क्या हो जाते हैं? कहीं चले जाते हैं? या उनका उस समय सर्वथा अभाव हो जाता है? आप लोग कही चक्रवाकका अर्थ 'हंस' तो नहीं समझ बैठे! (जिस प्रकार एक टीकाकार एक जगह रामायणमें "पिक"का अर्थ "चातक" कर गये हैं)—'वर्षामें चक्रवाक नहीं होते' इससे आप लोगोका कही यह मतलब तो नही है कि वर्षामें कवि लोग चक्रवाकका वर्णन नहीं करते, इसलिये विहारीका यह वर्णन 'कविसमयविरुद्ध' है। पर ऐसा भी नहीं है, कवि लोग वर्षामे चक्रवाकका वर्णन बराबर करते हैं। संस्कृतके, हिन्दीके और उर्दूके कवियोंने भी ऐसा वर्णन किया है:——

"अकालजलदच्छन्नमालोक्य रविमण्डलम् ।
चक्रवाक-युगं रौति रजनी-भय-शंकया ॥"

(सुभाषितावलि)

* * *

"घनतर-घनवृन्दच्छादिते व्योम्नि लोके,
सवितुरथ हिमांशोः संकथैव व्यरंसीत् ।
विरहमनुभवन्ती सगमञ्चापि भर्त्रा,
रजनि-दिवस-भेदं चक्रवाकी शशंस ॥"

(सुभाषितरत्न-भाण्डागार)

* * *

पिछले पद्यका भाव विहारीके दोहेसे बिलकुल मिलता जुलता है ।

हिन्दी कवियोका वर्षामे चक्रवाक वर्णनः—

'शंकर' ये बिथुरी लट हैं कि भई सजनी ! रजनी अँधियारी,
माल मनोहर मोतिनकी उरझी उर पै कि बही सरिता री ! ।
दो कुच है कि दुकूलन पै "चकई चक" भोग रहे दुख भारी,
स्वेद चुचात कि 'पावस' तोहि बनाय गयो घनश्याम विहारी ॥

(कविराज "शंकर" महाराज)

"दिन रैनिकी संधिन बूझिबेकी[को]मति 'कोक' तमी चुरवान लगी,
नदिया नदलौं उमड़ी लतिका तरु तैसेन पै गुरवान लगी ।
कहु "सेवक" ऐसेमें कैसे जियै जेहिं कामतिया उरवा न लगी,
मति मोरिनीकी मुरवान लगी गति बीजुरीकी धुरवान लगी ॥"

(सेवक कवि)

उर्दू-कवियोंने भी बर्सातमें चकवेका वर्णन किया है:—

"रुत है 'बर्सात' की बहुत प्यारी, मौज-ज़न भीलें नद्दियां सारी।
कोकला, बगले, कोयलें, ताऊस, अपनी तानें सुनाते हैं प्यारी।
क़ाज़ें,मुरग़ाबियां, बतें,"सुरख़ाब*",भीलोंके साथ करते हैं यारी॥"
(कुल्लियाते-मुनीर, शिकोहाबादी)

वर्षामें चक्रवाककी स्थिति सिद्ध करनेके लिये बिहारीके इस दोहेपर 'बहुतसे लोग' तो क्या किसी एक 'लोग'को भी कष्टकल्पना करते नहीं सुना गया। इसमें कोई दोष ही नहीं है फिर दोष निकालनेके लिये कष्टकल्पना करनेकी किसीको क्या ज़रूरत पड़ी है!

सुरतिमिश्रने अमरचन्द्रिकामे इस दोहेपर प्रश्नोत्तर, बेशक लिखा है। वह भी इसलिये नही कि वर्षामें चक्रवाक नही होते, उसका अभिप्राय यह है कि—

"जब पावसके घने अन्धकारमे इतनी सघनता है कि रातमें और दिनमे कोई भेद ही नहीं समझ पड़ता, तो फिर चकवी चकवा कैसे दीख पड़ते है? जिन्हें देखकर रात दिनका भेद जाना जाता है, चकवी चकवा भी तो अन्धकारमे अदृष्ट रहने चाहियें।"

इसके समाधानमें अमरचन्द्रिकाकारने "लखि" पदका सम्बन्ध सम्बोध्य पुरुषके साथ जोड़ा है—

---

* सुरख़ाब= चकवा [फ़रहगे आसफिया (उर्दू भाषाका प्रसिद्ध विश्वकोष) भाग ३ पृष्ट ६६]

अर्थात् तुम देखो पावसके घने अन्धकारमें देखनेवालोंको रातदिनका कुछ भेद नहीं सूझ पड़ता, "चकई चकवानि रात द्योस जान्यो परै"—चकवी और चकवाहीको यह भेद जान पड़ता है। जब दिन होता है तो स्वाभाविक नियमानुसार चकवी चकवा आपसमें मिलते हैं। जब रात होती है तो बिछड़ते हैं।

किसीने "लखि" पदका लाक्षणिक अर्थ सुनना किया है। अर्थात् चकवा चकवीका शब्द सुनकर रात्रि दिवसका भेद जाना जाता है। इसी अर्थके आधारपर उक्त दोहेपर कृष्णकवि का यह सुन्दर सवैया है। और किसी प्रकारकी "कष्टकल्पना" किसीने नहीं की। आशा है अब आप लोग भी इसे 'ग्राह्य' मानने लगेंगे।

"अम्बुद आनि दिसा बिदिसा सगरे तमहीको बितान सों तान्यो,
मेचक रंग बसे जगमे अति मोद हिये निसिचारिन मान्यो।
पावसके घनके अँधियारमें भेद कछू न परै पहिचान्यो,
द्योस निसाको विवेक सु तौ चकई चकवानके बोलतें जान्यो॥"

× × ×

मेसर्स मिश्रबन्धु फिर फ़रमाते हैं—

"सिवा संस्कृतके कवि कालिदासके और बहुत लोगोंने गर्भवती नायिकका वर्णन नहीं किया है, पर विहारीने वह भी कहा है।"

"दृग थिरकौहैं अधखुले देह थकौहैं ढार।
सुरत सुखित सी देखियत दुखित गर्भके भार॥"

(हिन्दी नवरत्न पृ० २३२)

❀ ❀ ❀

जी नहीं, आप लोग कुछ भूलते हैं, सिवा संस्कृतके कवि कालिदासके और बहुत लोगोंने भी गर्भवती नायिकाका वर्णन किया है। "भी" को "वह" के आगेसे हटाकर "और लोगोंने"के सामने रखिये, अर्थात् "केवल विहारीने ही नही और लोगोंने भी वह कहा है" ऐसा कहिये !

वाणने भी हर्षचरितमें और कादम्बरीमें ऐसा वर्णन किया है, और कालिदाससे अधिक किया है। हिन्दीकवि भी इस वारेमे एकदम चुप नहीं रहे हैं, महाकविराय सुन्दरने भी इसका वर्णन किया है। (१०५ पृष्ठपर सुन्दरका कवित्त देखिये)†

रात्रिमे भ्रमरभ्रमण—

दोहा—अरी खरी सटपट परी विधु आधे मग हेरि ।
संग लगे मधुपन लई भागन गली अँधेरि ॥ १६२ ॥

सवैया—

"स्याम निसा सखि तैसोई साज सिंगारकै हौं पिय पास चली री,
त्यौं अधगैल उदोत भयो ससि देखत मो मति सोच लगी री।
पंकज छाँड़ि सुगन्धके लोभ लगी संग भौंरनकी अवली री,
ताही समै मग भागनि आयकै छाय लई उन कुंज गली री ॥"
(कृष्णकवि)

---

† इसके अतिरिक्त आप लोगोंने—(मेसर्स मिश्रवन्धुओंने)—विहारीपर और भी कुछ कृपा की है। विहारीके "नेचरनिरीक्षण"में वहुधा 'अश्लीलता' और 'शोहदई' मिली, बतलायी है। विहारीकी भक्तिको वितण्डामात्र कहा है। उसे "काइयांपन"की उपाधि दी है, गुण्डोंका सा चित्र बनाकर (हिन्दी नव रत्नमें) उनके चरित्रपर कलंककालिमा पोतनेकी गर्हणीय दुश्चेष्टा की है। इसपर विहारीकी जीवनी लिखते समय विचार किया जायगा।

विहारीके उक्त दोहेमे (जिसकी व्याख्या कृष्णकविके इस सवैयेमें है) कृष्णाभिसारिका रूपगर्विताका वर्णन है। इसमें रात्रिके समय भ्रमरभ्रमणको चर्चा है। इसपर कोई 'रातमें भौंरों-का उड़ना कालविरुद्ध दूषण', समझकर आक्षेप करते सुने गये हैं। पर ऐसा समझना उचित नहीं है। रातमे भौंरोंका वर्णन कवि लोग बराब करते हैं । जैसा नोचे उद्धृत पद्योंके प्रमाणसे सिद्ध है—

माघके वर्णनमे—"प्रणदितालिनि" वाक्यमें—मधुके प्याले-पर भौंरे गुंजार रहे है। दूसरे पद्यमे— चन्द्रमा मानिनीके मानको मारनेके लिये खिलते हुए कुमुदके कोषसे 'अलिश्रेणि'की तलवार खींच रहा है। केशवदासके कवित्तमे भौंरोकी भीड़ फाड़े खाती है—

(१)

"क्रान्तकान्त-वदन-प्रतिबिम्बे भग्नबालसहाकारसुगन्धौ ।
स्वादुनि प्रणदितालिनि शोते निर्ववार मधुनीन्द्रियवर्गः ॥"

(माघ १० । ३)

(२)

"अद्यापि स्तनशैलदुर्गविषमे सीमन्तिनीनां हृदि
स्थातुं वाञ्छति मान एव धिगिति क्रोधादिवालोहितः ।
प्रोद्यद्दूरतरप्रसारितकरः कर्षत्यसौ तत्क्षणात्
फुल्लत्कैरवकोषनिःसरद्–"लिश्रेणीकृपाण" शशी ॥"

(साहित्यदर्पण ७म, परिच्छेद)

❀ ❀ ❀

इसी पद्यका अनुवादस्वरूप यह सवैया किसी प्राचीन कविका है—

"सेत पहार अगार भये अवनी जनु पारद माहिं पखारी,
होत हीं इन्दु उदोत लसै चहुं ओरतें सोर चकोरको भारी।
फूली कुमोद कली निकली अवली अलि की वलि मैं निरधारी,
कोपिकै चन्द तियान के मानपै मानौ मियानतें तेग निकारी॥"

(३)

कवित्त—"दुरि है क्यों भूपन वसन दुति यौवनकी
देह ही की जोति होति द्योस ऐसी राति है,
नाहक सुवास लागे ह्वै है कैसो केसव,सु-
भावहीकी वास भौर भीर फारे खाती है,
देखि तेरी सूरतिकी मूरति बिसूरति हौं
लालनके दृग देखिवेको ललचाति है,
चलि है क्यों चन्दमुखी कुचनको भार भये
कचनके भार तो लचक लंक जाति है॥"
(केसव-रसिकप्रिया)

(४)

"छाय रह्यो तम कारी घटान यो आपनो हाथ पसारि लखे को,
अंग रचे मृग के मद सों मनि मरकत भूपन साजि अँके को।
नील निचोलन की छवि छाजति त्यौं "भ्रमरावली" सों मग छेको,
सावन की निसि साहस कै निकसी मन भावन के मिलिवे को॥"

उपसंहार

तुलनात्मक समालोचना और दोषपरिहार प्रकरणको पढ़-कर कई सज्जन लेखकपर विहारी-विषयक अन्धभक्ति और पक्षपात-के दोषका आरोप करते हैं। संस्कृतके कुछ विद्वान् इसे संस्कृत-कवियोंका अपमान समझते हैं कि संस्कृत-कवियोंकी सूक्तियोंसे विहारीके दोहोंकी तुलना की गयी! लेखक पहले (२२वे पृ०पर) इस विषयमे निवेदन कर चुका है—'सहृदयताकी पेशगी दुहाई दे चुका है कि तुलनात्मक समालोचनाका उद्देश भारतीय साहित्यके विधाता संस्कृत-कवियोंका अपमान करना नहीं है, उनपर लेखकको विहारीसे भी अधिक पूज्य बुद्धि है, वह संस्कृत-कवियोके भावके साम्यको ही विहारीके काव्योत्कर्षका कारण समझता है। संस्कृत कवि "उपमान" हैं। विहारी "उपमेय" है। 'उपमान' और 'उपमेय'मे जो भेद है वह स्पष्ट है। कहीं कहीं जो "व्यतिरेक" प्रदर्शन है, वह मतिभ्रममूलक हो सकता है,बुद्धिपूर्वक पक्षपातजन्य नहीं।

फिर 'प्रतिभा' विधाताका प्रसाद है। जिसे भी मिल जाय, जहाँ और जब मिल जाय। इसमे देश, काल, जातिविशेष या भाषाविशेषके साथ उसने सदाके लिये कोई ठेका भी नहीं किया है—किसीको हमेशाके लिये "पेटेन्ट" अधिकार नहीं दिया है।

कितने "दोषज्ञों"की शिकायत है कि विहारीके गुण तो वहुत गाये, कुछ दोष भी तो दिखाये होते!

"ऐब भी उनका कोई आखिर करो यारो! वयां,
सुनते सुनते खूबिया जी अपना मतलाने लगा।"

वात वहुत कुछ माकूल है पर "दोषज्ञता" —वह भी साहित्यको— वहुत वड़ी वात है। यह सर्वज्ञकल्प आचार्योंका ही काम है, इसमें 'दोषज्ञता' के आवेशमें सहसा हाथ डालनेसे अनर्थकी—कविकेसाथ अन्यायकी—अधिक सम्भावना रहती है।

बड़े बड़े सम्भ्रान्त दोषज्ञोंके उद्भावित दोषोंकी बानगी "दोषपरिहार"मे देख ही चुके हैं, यही दशा अन्य कल्पित या सम्भाव्य दोषोंकी हो सकती है। फिर ऐसे प्रसङ्गमें दोषप्रदर्शन कोई ऐसा आवश्यक या स्पृहणीय गुण भी नहीं, आख़िर श्रीहर्षने कुछ समझकर ही यह कहा है—

"गुणेन केनापि जनेऽनवद्ये; दोषातरोक्तिः खलु तत्खलत्वम्"

इसके अतिरिक्त कभी कभी दोषप्रदर्शनसे लाभ कम और हानि अधिक हो जाती है, प्रायः सुकुमारमति काव्यप्रेमी भ्रममे पड़ जाते हैं—वीतश्रद्ध होकर काव्यामृतसे पराङ्मुख हो बैठते हैं—

हिन्दीसाहित्यके पाठकोंमे अभी ऐसे शिवसंकल्पशाली बहुत ही कम हैं जो काव्य-क्षीरसागरके मन्थनसे उत्थित दोष-गरलको गलेमे रख कर पचा जायँ और गुण-चन्द्रको माथेपर धारण करके इस श्लोकका उदाहरण बननेकी क्षमता दिखा सकें—

" गुणदोषौ बुधो गृह्णन्निन्दुक्ष्वेडाविवेश्वर ।
शिरसा श्लाघते पूर्वं परं कण्ठे नियच्छति ॥"

विहारी-सतसई

संजीवनभाष्य

पद्मसिंहशर्मा

विहारी-सतसई

—*सञ्जीवनभाष्य*—

टीकाकारका मङ्गलाचरण

१— नानार्थदा सुफल-पल्लव-कल्पवल्ली
स्यन्दद्रसैकवसतिः सुमनोभिरामा । *
गोपीविहारि-हरि-चारु-चरित्रहारि-
श्रीमद्विहारि-कविराज-सरस्वतीयम् ॥

२— म्लानेकैर्भिन्नमनिभिः पदच्छेदैरनेकधा ।
विक्लृप्ता विकृतिं प्राप पुलिन्दैरिव नन्दिनी ॥

३— कुव्याख्या-विषमज्वालाप्रसादैः कवलीकृताम् ।
अनष्टमूलां नामेतज्जीवनं जीवयिष्यति ॥

४— क विहारि-कवेर्वाचो महतामपि मोहिकाः ।
चञ्चलाः स्वल्पविषया मतयश्च क मादृशाम् ॥

५— श्रीविहारिगिरां तत्त्वं श्रीविहारी सरस्वती ।
यद्वा वेद स कुञ्जश्रीविहारी सप्रियो हरिः ॥

६— श्रीमत्सुरतिमिश्राद्यैः कृते पथि तथापि मे ।
वचसां चेष्टमानानां न गतिर्भ्रंशमेष्यति ॥

७— श्रीमद्विहारि-पद्येषु विश्वहृद्येषु सन्मतम् ।
पद्मशर्मा [पद्ममिह] प्रकुरुते भाष्यं सञ्जीवनाभिधम् ।

---

* इयं सरस्वती कल्पवल्ली । कुतः? यतो नानार्थदा, शोभन फलमर्थ कृत्स्वरूपं येषां, तेषां पदां-पदानां, लवाः खण्डाः श्लिष्टाः शब्दाः, तेषां कल्प विकल्पाः, यस्यां तादृशी वल्ली । यद्वा — कल्पलता । पक्षान्तरे सुगमम् सुमनसां— देवानां, सचेतसां वा, सुमनोभिः पुष्पैर्वा अभिरामा ।

विश्व-विहारी-देवका पाय प्रसाद-प्रकाश ।
कविताके मुख-पद्मका बढ़ता रहे विकाश ॥

श्रीमान् तत्रभवान् परमसुजान कविवर श्रीविहारीलालजी ग्रन्थके आदिमें शास्त्रानुमोदित शिष्टसम्प्रदायानुसार अपने इष्टदेवताकी प्रार्थनाके रूपमें "आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण" करते हैं। इस आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरणका प्रयोजन ग्रन्थकी निर्विघ्न समाप्तिके अतिरिक्त यहाँपर यह भी है कि प्रस्तुत ग्रन्थ (विहारी-सतसई) शृङ्गाररस प्रधान है। इसमें शृङ्गार रसके अधिष्ठातृदेव श्रीकृष्णजी और श्रीराधिकाजीकी रहस्यकेलियों-का वर्णन करना है। उससे ग्रन्थकर्त्ता और पाठकोंका मन विकार-को प्राप्त न हो, इसलिये यह आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण किया। इसमें देवविषयक रति-भाव ध्वनि है।

मंगलाचरण

१

मेरी भवबाधा हरौ राधा नागरि सोय।
जा तनकी झाईं परें स्याम हरित-दुति होय॥

अर्थ—(सोय)—वह पुराणप्रसिद्ध परदुःखकातरा भक्त-वत्सला (राधा नागरि)—राधा नागरी—भक्तोंके भय हरनेमें परम प्रवीण—श्रीराधिकाजी, (मेरी भवबाधा हरौ)—मेरे जन्ममरण की पीड़ा और सांसारिक दुःखादि दूर करें। वह राधाजी कैसी हैं— (जा तनकी झाँईं परे) - जिनकी कायाकी कान्ति पड़नेसे (स्याम हरित दुति होय) श्रीकृष्णजी हरे—परमानन्दित—होजाते हैं।

"हरा होना" मुहावरेमे प्रसन्न या खुश होनेको कहते हैं। जैसे किसी अत्यन्त स्नेहशील मित्रके विषयमें कहते हैं कि वह हमें देखकर हरे हो जाते हैं ।

२—अथवा— जिन राधिकाजीके पीतवर्णकी कान्ति पड़नेसे श्रीकृष्णजीका श्याम रंग, हरा—(हरे रंगका)—हो जाता है। पोला और नीला रंग मिलनेसे हरा रंग बन जाता है—यह प्रसिद्ध है ।

हरित रंगकी झाँई (कान्ति—छाया) में सन्तापहरणका सामर्थ्य सर्वाधिक है, फिर जिस छायासे श्याम (तमोगुण)भी हरित— दूसरों को शान्ति देने वाला बन जाता है उसका स्वयं भवबाधा हरनेमे अनुपम सामर्थ्यशाली होना उचित ही है !

हरितद्युति न चम्पकवर्णी राधाकी है और न घनश्याम की। किन्तु इन दोनोके—राधाश्यामके—मेलसे शान्तिप्रद हरितवर्ण-की उत्पत्ति है, इस अर्थसे कविका भाव यह ध्वनित होता है कि शक्ति-शून्य ब्रह्म, अथवा ब्रह्मविरहित शक्तिकी उपासनामे शान्ति नही है। जो भक्तजन शक्तिविशिष्ट ब्रह्म अथवा सगुण ब्रह्मके उपासक हैं, वह भवबाधासे छूटकर शान्ति पाते हैं ।

३—अथवा— 'हराहोना' और 'सरस' कहना, एकही बात है। जिस पदार्थमे 'रस' होता वही 'हरा' कहलाता है। जैसे— 'हरी टहनी':——

"जामें रस सोई हरो यह जानत सब कोय।
गौर श्याम द्वै रंग मिलि ——रयो बनत नहि कोय ॥"

(नागरीदासजी)

इससे यह भाव प्रकट होता है कि राधाजीकी छायासे—कृपासे— श्रीकृष्ण 'सरस'होते हैं—"रसिक विहारी"— कहलाते हैं।

४—"जातनकी झाँई—(जिस राधाके अंगकी कान्ति) स्याम परें—(कृष्णका प्रतिबिम्ब पड़नेसे) हरितदुति होइ—(हरी) होती है।"— यह उलटा—(आधाराधेयभाव-वैपरीत्यात्मक) अर्थ— 'विहारी विहार'के कर्त्ता श्रीव्यासजीका है !

"मेरी भवबाधा" शब्दमें उपासकबोधक "मेरी" पद-से—"जगन्नाथस्याय सुरधुनि ! समुद्धारसमय ।" के समान अपनी अधमतातिशयता-द्योतनद्वारा इष्टदेवकी निरतिशय महिमाकी ध्वनि निकलती है। अर्थात् मुझ जैसे आदर्श अधमकी निरवधिक भवबाधा दूर करनेमें वही श्रीराधारानीजी समर्थ है जिनकी आराधनाके अभिलाषी इन्द्रादिके उपास्य देव त्रिलोकीनाथ श्रीकृष्णभगवान् भी रहते हैं। जितना भारी पापी हो उसे पार उतारनेवाला भी उतना ही अधिक समर्थ होना चाहिये। तथा उपास्यदेवता श्रीराधाजी के साथ प्रयुक्त "नागरी"—

"(नागर सुन्नके गुठगा 'विदग्धे' नगरोद्भवे" इति मेदनी) ।

विशेषण भी पापापनोदन-पटुताका द्योतक है। जितना कष्ट-साध्य रोगी हो उसके लिये उतना ही दिव्यौषध-संपन्न पीयूष-पाणि वैद्य अपेक्षित है।

काव्यप्रकाशके ध्वनिप्रकरणोदाहृत—

"त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति ।
आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत् ॥ "

पद्यके 'त्वां' 'अस्मि' 'विदुषां' आदि पदोंके समान "मेरी" पदमें लक्षणामूलक अविवक्षितवाच्य अर्थान्तरसङ्क्रमित-रूप-ध्वनि है।

कोई— "मेरी" पदका अर्थ "ममता" (पुत्र, मित्र, कलत्रादिमें ममत्वबुद्धि) करते हैं अर्थात् "मेरी" ममतारूप भवबाधाको हरो। क्योंकि संसारमें 'ममता' ही सारे अनर्थोंका मूल है।

पहले अर्थमें "काव्यलिङ्ग" अलङ्कार है। उसका लक्षण:—

"समर्थनीयस्यार्थस्य 'काव्यलिङ्ग' समर्थनम्।
जितोऽसि मन्दकन्दर्प! मच्चित्तेऽस्ति त्रिलोचनः॥"

(कुवलयानन्द)

"काव्यलिङ्ग" जब जुक्ति सों अर्थ समर्थन होय।
तोको जीत्यो मदन! जो मो हिय में शिव सोय॥" (भाषाभूषण)

अर्थात् समर्थनीय अर्थका जब युक्तिसे समर्थन किया जाय तो "काव्यलिङ्ग" अलङ्कार होता है। जैसे यहां भवबाधा-हरणका समर्थन श्रीराधाजीके अलौकिक-प्रभाव-कीर्त्तन द्वारा किया गया।

"नागरी"—यह साभिप्राय विशेषण होनेसे 'परिकर' अलङ्कार भी है। यथा:—

"अलङ्कारः 'परिकरः' साभिप्राये विशेषणे।
सुधांशुकलितोत्तंसस्तापं हरतु वः शिवः॥" (कुवलयानन्द)

"है 'परिकर' आशय लिये जहां विशेषन होय।
शशिवदनी यह नायिका ताप हरति है जोय॥"

(भाषाभूषण)

दूसरे अर्थमें "हेतु" अलङ्कार है:—

"हेतोर्हेतुमता सार्द्धं वर्णनं 'हेतु' रुच्यते।"

"'हेतु' अलंकृति होय जब कारण कारज सङ्ग"

अर्थात् जहां हेतु-(कारण)-पूर्वक हेतुमान्-(कार्य्य) का वर्णन किया जाय, वह 'हेतु' अलङ्कार कहाता है— जैसे यहां राधाजीका पीत वर्ण और श्रीकृष्णजीका श्याम वर्ण, हरे रंग के होनेमें कारण है।

अनवरखां(अनवरचन्द्रिकामें)और ईसवीखां (रसचन्द्रिकामें) इस अर्थमे "विषमालङ्कार" भी मानते हैं। यथा :—

"कारनको रँग और ही कारज औरै रग।
यह विषमालङ्कारको कियो भेद छबि सग॥"

(अनवरचन्द्रिका)

"कारन और रंग होइ कारज और रग होइ सोई इहां गौर स्याम तें हरित रग होइ है।" (रसचन्द्रिका)

पर श्रीलल्लूलालजी (लालचन्द्रिकामें) इसका खण्डन करते हैं, वह "अमरचन्द्रिका" का 'हेतु' — अलङ्कारनिदर्शक यह दोहा लिखकर—

" हेतु सहित कारज जहा कहै 'हेतु' कविराज।
प्रिया पीत रँग स्याम पिय हेतु हरित रँग काज॥"

कहते हैं कि "इस अर्थमें कोई 'विषमालङ्कार' कहै तो ठीक नही, क्योंकि पीत और स्याम रग मिलेमे हरा रग होता ही है जो हरा रग न हो और रग हो तो 'विषमालङ्कार' ठीक है। प्रमाण विषमालङ्कारका :—

"कीर्तिं प्रसूते धवला श्यामा तव कृपाणिका"—

इस पद्यका पूर्वार्ध लक्षणवाक्य—"विरुद्धकार्य्यस्योत्पत्तिरपर 'विषमं'मतम्' है। अर्थात् जहाँ कारण-कार्यकी परिपाटीके विरुद्ध, कारणके गुणसे भिन्न गुणवाले कार्यकी उत्पत्ति हो, वह विषमालङ्कार है। जैसे—तुम्हारी काले रंगकी तलवार श्वेत कीर्तिको उत्पन्न करती है। यहाँ काली तलवारसे श्वेतकीर्तिकी उत्पत्ति, विषमालङ्कारका उदाहरण है।

शृङ्गारसप्तशतीकर्ता कवि परमानन्दके कथनानुसार इस अर्थमे "उल्लासालङ्कार" है :—"अत्र राधया पीतगुणेन कृष्णस्य हरिद्वर्णगुणलाभरूपोल्लासालङ्कार.। इति।"

इसका लक्षण:—

"एकस्य गुणदोषाभ्यामुल्लासोऽन्यस्य तौ यदि ।
अपि सा पावयेत्साध्वी स्नात्वेतीच्छति जाह्नवी ॥"

(कुवलयानन्द)

'गुन औगुन जब एकके, और न्र 'उल्लास' ।
न्हाय सन्त पावन करैं गङ्ग धरैं इहि आस ॥ (भाषाभूषण)

जैसे प्रकृतमें राधाके पीत वर्णरूपी गुणसे श्रीकृष्णको हरा वर्णरूप गुण प्राप्त होगया ।

"भवबाधा" में 'भव' शब्दकी अनेकार्थताको लक्ष्यमें रखकर ('भव' शब्द—शिव,संसार, जन्म, इत्यादि अनेक अर्थोंका वाचक है)—अनवरखाने "श्लेषाभास" भी लिखा है। अर्थात् 'भवबाधा'-समस्तपदगत भवशब्दमें "हे भव शिव ! मेरी बाधा हरो" इत्यादि भ्रम होता है। वस्तुत, यहाँ इष्टदेवता राधा ही सम्बोध्य हैं,शिव नहीं।

५—अथवा— जिनके तनकी झाँई (ज्योति) पड़नेसे—ध्यानमें आनेसे—श्यामत्व—"अन्धकारविशिष्ट तमोगुण, या हृदयान्धकार"—हरित—दूर—होकर 'द्युति'—प्रकाशविशिष्ट सत्त्वगुण चमक उठता है । वह राधा मेरी भवबाधा हरो । इस अर्थमें भी "काव्यलिङ्ग" ही अलङ्कार है । ६

नोट.—यहाँ यह आशका होती हे कि अपनी झाँई से श्रीकृष्णको हरा करना तो भवबाधा-हरणका पोषक नहीं है, फिर असङ्गत विशेषण क्यों ? उत्तर यह है कि जिसकी झाँई पड़नेसे—ध्यानगोचर होनेसे—श्याम हरित—पापका हरण—होता है और दुति होइ—दिव्य देह होता है"— व्यासजी।

६—अथवा— कहीं "राधानागर"—ऐसा पाठ भी है। इस दशामें श्रीकृष्णपरक अर्थ — अर्थात्— वह "राधानागर" श्रीकृष्णजी, जिनकी मूर्त्ति की झलक पड़नेसे—भक्तजनोंके ध्यान-में श्याम (कृष्ण)के आते ही वह (भक्त) अपना रूप तजकर हरि-रूपको प्राप्त हो "सारूप्य मुक्ति" पाजाते हैं । इस अर्थमें "तद्गुणा-लङ्कार" है । उसका लक्षण:—

"तद्गुण स्वगुणत्यागादन्यदीयगुणग्रहः ।
पद्मरागायते नासामौक्तिक तेऽधरत्विषा ॥" (कुवलयानन्द)

" तद्गुन तजि गुन आपनो सङ्गतिको गुन लेय ।
वेसर मोती अधर मिल पद्मराग छवि देय ॥ " (भाषाभूषण)

अर्थात्—अपना गुण छोड़कर दूसरेका गुण ग्रहण करलेना 'तद्गुणालङ्कार' कहाता है। जैसे प्रकृतमें श्रीकृष्णकी कान्ति पड़नेसे —(ध्यानमें श्रीकृष्णके आते ही)— अपना रूप छोड़कर, भक्त कृष्णस्वरूप बन गया।

—*—

(मङ्गलाचरणका शृङ्गार-परक अर्थ)

बहुतसे सहृदय रसिकशिरोमणि इस प्रकार रूखे फीके भक्तिभावनाभरित श्रोत्रियसमादृत विरक्तजिज्ञासुजनोचित मङ्गला-चरणको सुनकर नाक भौं चढ़ाते हैं और कहते हैं कि यह "गङ्गाकी गैलमें मदारके गीत" कैसे ! विहारीसे शृङ्गारी कविकी शृङ्गारमयी रचनामें, जो परमविहारी गोपिकाचीरहारी राधिका-हृदयचारी श्रीमुरारि और वृषभानुदुलारी श्रीराधाप्यारीकी रहःकेलियोंके रहस्योद्घाटनार्थ रची गयी है, ऐसा मङ्गलाचरण नितान्त 'अमङ्गलाचरण' है। और यह 'अमरुशतक'को शान्त-रस-परक टीकाको लक्ष्य करके कहे हुए स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित दुर्गाप्रसादजीके शब्दोंमे—

"स्खलति गलितनये प्रौढवधूना वेदपाठ इव सहृदयगिरःशूलमुत्पादयति ।"

ऐसे महानुभावोंके सन्तोषार्थ श्रीहरि कविने इस मङ्गला-चरण को शृङ्गारपक्षमें भी परिणमित किया है, सो भी सुनिये:—

१—अथवा —नायिका-(श्रीराधा)को मानिनी देखकर नायक-(श्रीकृष्ण) प्रार्थना (मिन्नत, खुशामद) करते हैं कि "हे राधानागरि ! मेरी भौ-(भय) बाधा, हरौ, अर्थात् तुम्हारा

मान (कोप = नाराज़गी) देख कर जो मुझे भी (भय)-है उससे उत्पन्न बाधा (दु:ख) को हरो। अभिप्राय यह है कि मान छोड़ प्रसन्न हो जाओ। (अगली बात ज़रा गोप्य है, "सभ्य समाज" क्षमा करे, "अनुवादी न दुष्यति"— नायक महात्मा मान छोड़नेका ढंग बताते हैं और कामकी बातपर आते हैं—"क्या करके, "सोय"—या को अर्थ हमारे पास शयन करिके।" तुम्हारे तनकी कान्ति पड़नेसे हमारा (श्रीकृष्णका) जो यह श्याम शरीर है सो "मानन्द होत है॥" क्यों न हो? हुआ ही चाहे!

२—अथवा—तुम्हारे तनकी झाँई (कान्ति) जब मिलाप-के (समागमके) समय हमारे शरीरमे पड़ती है तब श्याम—श्यामवर्ण शृङ्गाररस या (रतिपति) काम—"सो पल्लवित होत है।"

कामदेव और शृङ्गाररस दोनोंका वर्ण श्याम है। सो यहाँ "साध्यवसाना" लक्षणा करके "श्याम" पदसे श्याम-वर्णविशिष्ट "काम" या "शृङ्गार"का ग्रहण करना चाहिये। "साध्यवसाना" लक्षणाका लक्षण यह है—

"विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात्साध्यवसानिका।

विषयिणा-आरोप्यमाणेन, अन्त कृते-निगीर्णे,अन्यस्मिन्--आरोपविषये सति साध्यवसाना स्यात्। (काव्यप्रकाश, द्वितीयोल्लास)

अर्थात् जहां विषयिमात्र=(केवल'उपमान'पद-पशु आदि)का निर्द्देश किया जाय और विषय=(उपमेय, देवदत्तादि)का न किया जाय, वहां "साध्यवसाना" लक्षणा होती है। जैसे—"देव-दत्त पशु जाता है"—ऐसा न कह कर "यह पशु जाता है"—इतना ही कहा जाय तो 'साध्यवसाना' लक्षणा होगी।

क्योंकि यहां विषयी (आरोप्यमाण)='पशु' पदसे अन्य (आरोप-विषय)='देवदत्त' निगीर्ण-(छिपा हुआ) है। इसी प्रकार यहां प्रकृतमे "आरोप्यमाण" श्यामगुणसे 'आरोप्य' (श्याम-वर्णविशिष्ट) शृङ्गार या 'काम' लक्षित होता है॥

२—अथवा—तुम्हें देखे और तुमसे मिले विना हमे कुछ नहीं सूझता, चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार दीखता है, जब तुम्हारी प्रभा पड़ती है तब ही 'श्याम हरित'=अन्धकारा-वृत दिशाओमे द्युति=प्रकाश होता है। (दिशस्तु, ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः)

जिसमे अत्यासक्ति होती है उसके विना सर्वत्र अन्ध-कार ही प्रतीत होता है। भर्तृहरिजी लिखते हैं,—

"सति प्रदीपे सत्यग्नौ सत्सु तारारवीन्दुषु।
विना मे मृगशावाक्ष्या तमोभूतमिदञ्जगत्॥"

अर्थ—प्रदीप, अग्नि, तारागण, चन्द्र और सूर्य्य—इन सब ज्योतिष्मान् पदार्थोंके होते हुए भी मृगनयनी नायिका-के विना मेरे लिये यह सारा संसार अन्धकारमय ही है॥

'शृङ्गार' रसकी श्यामवर्णतामें प्रमाण:—"

"श्यामवर्णोऽयं विष्णुदैवतः" (साहित्यदर्पण तृतीय परिच्छेद)
अर्थात् शृङ्गारका वर्ण 'श्याम' और देवता 'विष्णु' है।

'काम'के श्याम होनेमें प्रमाणस्वरूप हिन्दी कवि 'कालिदास'की यह सुन्दर सूक्ति सहृदय पाठकोंके मनोरञ्जनार्थ उद्धृत है। काव्य-मर्मज्ञ देखें कि शृङ्गारपक्षके द्वितीय अर्थ—(तुम्हारे तनकी झाँईं जब मिलापके समय हमारे शरीरमें पड़ती है)—का क्या ही साफ़ शब्दचित्र इस पद्यमें खिंचा है। इससे अच्छा काले गोरेका मेल कहीं न देखा होगा!—

कुन्दनकी छरी आवनूमकी छरीमों मिली
सोनजुही माल कैधों कुवल्यहार सों,
कैधों चन्द्र-चन्द्रिका कलक सों कलित भई,
कैधौं रति ललित वलित भई मार सों।
'कालिदास' मेघ माहि दामिनी मिली है कैधों
अनलकी ज्वाल मिली कैधों धूम-धार सों
केलि ... मे कामिनी कन्हैया सों लपटि रही
कैधों लपटानी है जुन्हैया अन्धकार सों॥" †

इसी प्रकार स्वर्गीय भारतेन्दु वावू हरिश्चन्द्र जी भी "कर्पूरमञ्जरी" नामक सट्टकमें शृङ्गारका कृष्णवर्ण वर्णन करतेहैं

"चोटी गुथि पाटी सरस, कमिके वांधे केस।
मनहु सिगार इकत्र व्है, वँध्यो सार के वेस॥"

वानिक-वर्णन

२

सीस मुकुट कटि काछनी कर मुरली उर माल।
इहि वानिक मो मन बसो सदा विहारीलाल॥

अर्थ—हे विहारीलाल! तुम (इहि वानिक)-इस बनावसे-नटवर वेषकी धजसे—(मो मन सदा वसो)-मेरे हृदयमें सदा निवास करो—मेरे हृदय-धामही मे विहार करो, इसे छोड़कर कहीं मत जाओ। अथवा—आपका यह वानक-गोपवेष, सदा मेरे मनमें वसा रहे, कभी न विसरे। यह वानक कैसा है—(सीस मुकुट)—सिरपर मोर मुकुट, (कटि काँछनी)-कमरमें काछनी-

---

† सोनजुही-पीली चमेली। कुवलय—नील कमल। मार- कामदेव। जुन्हैया— ज्योत्स्ना—चाँदनी।

कच्छ– घुटनेके ऊपर तककी धोती, जैसी ग्वाले लोग बांधते हैं—(कर मुरली)– हाथमे बाँसरी और (उर माल) – छातीपर वनमाला ।

यह भी कविका मङ्गलाचरण है। या भक्तका वचन है। देवविषयकरति-भाव व्यङ्ग्य है। अथवा — गोपीकी उक्ति है।

यहां "स्वभावोक्ति" अलङ्कार है, इसीका दूसरा नाम "जाति" है। स्वभावोक्तिका लक्षण:—

"स्वभावोक्तिः' स्वभावस्य जात्यादिस्थस्य वर्णनम् ।
कुरङ्गैरुत्तरङ्गाक्षै- स्तब्धकर्णैरुदीक्ष्यते ॥" (कुवलयानन्द)

"स्वभावोक्ति' वह जानिये वर्नन जाति सुभाय ।
हँसि हँसि हेरति फिर दुरति मुख मोरति मुसकाय ॥" (भाषाभूषण)

अथवा—'जाति' सु जैसो जासु कौ रूप कहै तिहि साज ।
ज्यों ह्या प्रभु बानिक जु हो कह्यौ सु त्यों कविराज ॥ (अमरचन्द्रिका)

अर्थात् जिस वस्तुका जैसा स्वभाव हो उसका वैसा ही चमत्कारपूर्वक वर्णन कर देना, 'जाति' या 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार कहाता है। जैसे 'कुवलयानन्द'के उदाहरणमे—चौंके हुए हिरनोंके देखनेके ढंगका। "भाषाभूषण"के उदाहरणमें—पूर्वानुरक्ता,प्रेमासक्ता लज्जाप्रेमपरवशा नायिकाके अवलोकनप्रकारका। और यहाँ प्रकृतमें—नट-वरवेषधारी श्रीविहारीकी सजधजका, कविने शब्द-चित्र खींच दिया है।

२—अथवा—जिस प्रकार सिरका और मुकुटका सुयोग है, सिरके विना अन्य अङ्गपर मुकुट शोभा नहीं पाता। कच्छ-(काँछनी)— कमरपर ही सुहावनी लगती है, मुरली, हाथमें ही सजती है, और माला हृदयका ही शृङ्गार है। इसीप्रकार भक्तजनका मन ही भगवान्‌के निवास करने योग्य सुन्दर मन्दिर है; सो उसीमें हे विहारीलाल! आप अपना 'हेडक्वार्टर' नही

'राजधानी' बनाकर रहिये। इधर उधर घूमनेकी बान छोड़िये। यद्यपि आप "विहारीलाल" (हरजाई !) हैं, पर अच्छी तरह ढूंढ देखिये, इससे अच्छी जगह कहीं न पाइयेगा। मनो-मन्दिर ही भगवान्की प्रतिमाको प्रतिष्ठाके लिये उपयुक्त स्थान है।

इस अर्थमें "समालङ्कार" है। लक्षण·—

"सम स्याद्वर्णनं यत्र द्वयोरप्यनुरूपयोः ।
स्वानुरूपं कृतं सद्म हारेण कुचमण्डलम् ।।" (कुवलयानन्द)

"अलङ्कार—'सम'(तीन विधि) यथा योग को सग ।"

उदा०— "हार वास तिय उर धरयो अपने लायक जोय" ।

अर्थात् जो जिस योग्य है उसके अनुरूप स्थानादिकी प्राप्तिका जहां वर्णन हो, वहां 'सम' अलङ्कार होता है। जैसे यहाँ सिर मुकुट आदिकी एक दूसरेके अनुरूप संगतिका कथन है।

मुकुट आदि अनेकोंमें यथायोग्यस्थान-स्थितिरूप एक क्रियाकी समता होनेसे "तुल्ययोगिता" अलङ्कार भी हो सकता है।

३—अथवा, (शृङ्गार पक्षमें)-'खण्डिता' नायिकाकी 'शठ' नायक (विहारीलाल) से सोपालम्भ उक्ति है कि—तुम्हारा जो यह नटवरवेष अर्थात् परस्त्रीको प्रसन्न करनेका वेष—रिझानेका बाना- है, इससे तुम मेरे मनमें रहो, पर पास मत बसो—(पास मत फटको !)— क्योंकि तुम "विहारीलाल" हो—जगह जगह विहार करनेवाले हो ! —

("एकजा रहते नहीं आशिक़े-बदनाम कहीं,
दिन कहीं, रात कहीं, सुबह कहीं शाम कहीं !")

४—अथवा, "वि"* नाम दूसरी नायिका, उसका "हार" गलेमे डाले डोलते हो (जो तुम्हारे विहारीपनका ढोल पीट रहा है !) और "लाल" हो- रात भर जगे हो- इससे आँखें लाल हैं। या उस नायिकाके पानकी पीक, पैरोंकी महावर और हाथोंकी महँदीकी लालीने श्रीमान्के श्यामसलौने शरीरको लाल सुर्खकरके 'शठता' पर छाप लगा दी है ! खूब श्यामसे लाल (श्यामलाल ! बने हो, बने रहो ! "देखो लै मुकुर द्युति कौनकी अधिक लाल ! मेरी लाल चूनरी निहारी लाल अँखिया।"

'यशवन्तयशोभूषण' में इस दोहेके यह दो अनुवाद दिये हैं:—

"मयूर-पिच्छ-मुकुटो, गोपालो मुरलीधरः।
वनमाली, कच्छवेषः, सदास्तु हृदये मम ॥"
"सहारवक्षाः शिखिपिच्छचूडः, कच्छोटिकाबद्धकटिप्रदेशः।
गाश्चारयन्, दण्डधरो वनान्ते, गायन् हरिर्मे हृदये सदास्तु ॥"

मोरमुकुट वर्णन

३

मोरमुकुट को चन्द्रिकन यौं राजत नँदनन्द।
मनु ससिसेखरकी अकस किय सेखर सतचन्द ॥

अर्थ—(नँदनन्द)—नन्दके दुलारे श्रीकृष्ण (मोरमुकुटकी चन्द्रिकन)—मोरमुकुटकी चन्द्रिकाओंसे— मुकुटमें लगे मोरपंखके चँदवोंसे- (यौं राजत)—ऐसे शोभित हो रहे हैं, (मनु)—मानो

* संस्कृतका "द्वय" शब्द व्रजभाषामें 'बिय' या 'वि' बन गया है, और यही गुजरातीमें "बीजो" (दूजा) और 'ब' (दो) हो गया है।

(ससिसेखरकी अकस †)–चन्द्रमौलि शिवजीकी ईर्ष्या–स्पर्द्धासे–उन्हें नीचा दिखानेके लिये (किय सेखर सतचंद)—अपना मस्तक शतचन्द्र—सौ चन्द्रमावाला बना लिया है। अर्थात् शिवजीके भालपर तो एक ही बालचन्द्र है, यहां उसके मुक़ाबलेमें पूरे सौ चाँदोंकी चन्द्रिका चमक रही है।

यदि इसे भक्तकी उक्ति मानें तो देवविषयक रति-भाव ध्वनि है। जो दूतीकी उक्ति नायिकाके प्रति होय तो शृङ्गार व्यङ्ग्य है। और जो सखीका कथन सखीके प्रति समझें तो राजविषयक रतिभाव ध्वनि है। ‡

इस दोहेकी टीका करते हुए प्रायः टीकाकार "अकस" शब्दको लेकर बड़ी बड़ी दूरकी कौड़ी लाये हैं, लम्बे चौड़े प्रश्नोत्तर गढ़कर बातका बतंगड़ बना डाला है! श्रीशिव और श्रीकृष्णके नये पुराने, छोटे बड़े, गुप्त, प्रकट, ज्ञात, अज्ञात, बहुतसे वैर विरोध ढूंढ निकाले हैं। * उनमेंसे कोई कहते हैं कि शिवजीने कामको (जो

---

† स्पर्धा—होड़—अर्थमें 'अक्स" शब्दका प्रयोग 'दास' कविने भी किया है यथा— "...... द्विजराज भो अक्स द्विजराजीकी प्रभा न की।" अर्थात् राधाके दांतोंकी प्रभा पानेकी स्पर्धासे चन्द्रमा 'द्विजराज' बना है।

‡ यहां और दूसरे दोहेमे एक प्राचीन टीकाकारने "शान्तरस व्यङ्ग्य" लिखा है, जो असङ्गत है। क्योंकि जहाँ निर्वेद स्थायी भाव हो वहीं शान्तरस होता है। यहाँ और वहां तो वक्ताके वचनोंसे उसका अपने इष्टदेवमें परम अनुराग— रतिभाव)—टपक रहा है, फिर 'शान्तरस' कैसा!

* किसीने अपनी 'सख्त अकलमन्दी'से उत्प्रेक्षावाचक "मनु" को शिवजीका "मन" बनाकर उसमें 'अकस'—वैमनस्यता (?) को छिपाकर फिर खुद ही उसे ढूढ निकाला है! यह ऐसी ही बात है जैसे अक्सर बच्चे खेलते समय किसी चीज़को रेतमें छिपाकर फिर आप ही तलाश करके निकाला करते हैं, और अपनी इस 'अनुसन्धान शक्ति'पर इतराते हैं।

प्रद्युम्नरूपमें श्रीकृष्णके पुत्र हुए) जलाकर भस्म किया था—यह अदावत थी। किन्हींने बाणासुरकी याद दिलाकर कहा है कि उसीका बदला शिवजीसे चुकानेके लिये श्रीकृष्णने 'मोरमुकुट' धारण किया है! परन्तु यह नहीं सोचा कि यह तो गोपवेषधारी वृन्दावनचारी वनवारीकी व्रजलीलाका बानक है*। जब शिवजीने नेत्राग्निसे भस्मकरके 'काम'का काम तमाम किया था, तब श्रीकृष्ण-का अवतार न था और जब बाणासुरके युद्धमें शिवजीको उन्होंने झुकाया था, तब यह 'मोरमुकुटका बानक' न था! और न उस समय श्रीकृष्ण "व्रजवासी" थे किन्तु "द्वारकाधीश" बने हुए थे। इत्यादि—"इतिहासानौचित्य"—पर इन दूरदर्शी टीकाकारोंने कुछ ध्यान न देकर शिव विष्णुके वैरकी बात व्यर्थ ही बढ़ायी है। एक तो यह ऐसे महात्मा हैं जो बिना परका कौवा बनाकर उड़ा रहे हैं और एक महिम्नस्तोत्रके स्तुत्य टीकाकार श्रीमधुसूदनसरस्वती हैं, जो 'हरि-हर'में अभेदबोध† करानेके लिये पूरा ज़ोर लगाकर

---

* "बर्हेणेव स्फुरित-रुचिना गोपवेषस्य विष्णोः ॥"

भगवान् कालिदासके इस बयानसे भी इस बातकी तसदीक होती है कि मोरपखका मुकुट श्रीकृष्णजीके 'गोपवेष'में ही था।

† "हरिशंकरयोरभेदबोधो भवतु क्षुद्रधियामपीति यत्नात् ।
उभयार्थतया मयेदमुक्तं, सुधियः साधुतयैव शोधयन्तु ॥"

"भूति-भूषित-देहाय द्विजराजेन राजते ।
एकात्मने नमो नित्य हरये च हराय च ॥"

(महिम्नस्तोत्रकी टीकामें श्रीमधुसूदनसरस्वती)

"अर्धं दानववैरिणा गिरिजयाप्यर्धं शिवस्याहृतम्"—

व्याजस्तुति में उदाहृत इस प्रसिद्ध पद्यके इस पदमें हरि-हरात्मक स्वरूपका एक विग्रह=एकशरीर तो कहा है, पर हरिहरमें "विग्रह"=वैर=विरोध—नहीं।

साम्प्रदायिक विरोधको दूर कर रहे हैं
अतिरिक्त इस दशामें —(शिरजोमें
मोरमुकुट धारण करनेको सन ८, [१] कछु रचना सों वात ।
ही उड़ जायगी। जो इस ...ज साधिये जो कछु चितहिं सुहात ॥"
क्योंकि कविप्रतिभोत्थापि ...ो यहां जात अन्हावन नाल ।" [भाषाभूषण]
क्षालंकार है । यश ——:❀:——
इसी प्रस कुण्डल-वर्णन
...भा माच में

४

मकराकृति गोपालके कुण्डल सोहत कान।
धस्यौ मनौ हिय-घर समर ड्यौढ़ी लसत निसान॥

अर्थः—(मकराकृति कुंडल, गोपालके कान सोहत)—मगर मच्छकी आकृति (आकार) के कुण्डल, गोपाल श्रीकृष्णके कानमें ऐसे सुशोभित हो रहे हैं, (मनौ)—मानो (समर)—स्मर-कामदेव महाराज, (हिय-घर धस्यौ)—हृदयरूप अपने गढ़मे धसे हैं, और (ड्यौढ़ी लसत निसान)— उनका निशान—झंडा क़िलेके दरवाज़ेपर शोभा दे रहा है ।

जब राजा क़िलेके अन्दर होता है तो इस वातकी सूचनाकेलिये वाहर—(क़िलेके सदर दरवाज़ेपर) झंडा लहराता रहता है और जब वह क़िलेसे बाहर होता है तो झंडा झुका दिया जाता है ।

प्रत्येक राजाका अपना अपना पृथक् रूप रंगका 'शाही झंडा' होता है, जैसे आजकल अंगरेज़ोंके शाही झंडेका नाम 'यूनियन जैक' है, जरमनीके झंडेपर उक़ाब पक्षीका चित्र रहता है, टर्कीवालोंके झंडेपर अर्द्ध-चन्द्रका (हिलाल-का) चिह्न है। ऐसे ही पहले भी प्रत्येक प्रसिद्ध वीर और राजाको अपनी अपनी विशेष प्रकारकी ध्वजा होती थी, और वह (ध्वजाधारी)—व्यक्ति उस (ध्वजा)के नामसे भी पुकारे जाते थे। जैसे श्रीकृष्णजी

महाराजकी ध्वजा 'गरुड़'के चिह्नकी थी, इसीलिये वह "गरुड़ध्वज" प्रसिद्ध हैं, अर्जुनका नाम "कपिध्वज" है, क्योंकि उनकी ध्वजापर कपि—हनूमानूजी—की मूर्ति अंकित थी। इसी-प्रकार कामको ध्वजा (निशान—झंडा) काव्योंमें 'मकर' (नक्र) के रूपकी वर्णित है, इसी सम्बन्धसे कामका नाम "मकरध्वज" भी है—(मकरध्वज आत्मभूः)—और वह (काम)मनसे उत्पन्न होता है, इसकारण "मनसिज" या 'मनोज' कहाता है। "मन" ही उसका घर या गढ़ है।

श्रीकृष्णके कुण्डलोंकी मकराकृति और कामका "मकर-ध्वज" नाम, इस सादृश्य सम्भावना-मूलक "उत्प्रेक्षा"का बीज है। इस (दोहे)में "उक्तास्पदा वस्तूत्प्रेक्षालंकार" है। जिस वस्तुमे किसी दूसरी वस्तुकी सम्भावना की जाय वह (सम्भावना का आस्पद—स्थल) जहां उक्त हो (कह दिया गया हो) वह 'उक्तास्पदा' है। जैसे यहाँ कुण्डलरूप वस्तुमें निशानरूप अन्य वस्तुकी सम्भावना की गयी है और वह उक्त भी है। उत्प्रेक्षा-वाचक "मनो" पदके योगसे "वाच्योत्प्रेक्षा है। तथा 'हिय-घर'में रूपकालंकार भी है। अतः 'उत्प्रेक्षा' और 'रूपक'का 'संकर' है।

कानो और कुण्डलोके परस्पर स्वरूपानुरूप सम्बन्धका वर्णन है। इसलिये 'समालंकार' भी है।

परकीया नायिकाकी उक्ति है तो पूर्वानुरागमें गुणकथन-रूपा, कामदशा व्यङ्ग्य है। यदि नायकपक्षकी सखी नायिकाको नायककी अपूर्वशोभा सुनाकर (इस मिषसे) मिलाया चाहती है, तो "पर्यायोक्त" अलंकार भी है।

यदि नायक पक्षकी दूती या सखी नायकके पूर्वानुराग† का नायिकासे वर्णन करती है तो यह चमत्कृत अर्थ भी हो सकता है कि—

नायकने कानोंसे तेरे रूप गुणकी प्रशंसा सुनी है (अभी साक्षात् दर्शन नहीं हुआ) इसलिये कानोंको कुण्डलों से अलङ्कृत किया है !! सुसमाचार (खुशखबरी) सुनानेके उपलक्ष्यमें, वे कुण्डलोंसे पुरस्कृत किये गये हैं, मानो कानोंको कुण्डलोंका इनाम मिला है ! जब कोई सेवक बहादुरीका काम करता है, या कोई खुशखबरी सुनाता है तो उसे स्वामीकी सरकारसे प्रसन्नता-स्वरूप, कपड़े या कुण्डल‡ आदि भूषण इनाम में मिला करते हैं। यह प्रसिद्ध है।

---

† पूर्वानुराग—एक दूसरेको साक्षात् देखनेसे और केवल कानोंसे प्रशंसादि सुननेसे भी हो जाता है। यथा :—

"श्रवणाद्दर्शनाद्वापि मिथःसंरूढरागयोः ।

दशाविशेषप्राप्तौ यः "पूर्वरागः" स उच्यते ॥"

फारसीमें ('जामी' की जुलेखामें) भी एक पद्य इसी अभिप्रायका है :—

"न तनहा इश्क़ अज़ दीदार ख़ेज़द,

बसा-कीं दौलत अज़ गुफ्तार ख़ेज़द ॥"

अर्थात्, इश्क (प्रेम) सिर्फ देखनेसे ही पैदा नहीं होता, बल्कि अक्सर कहने सुननेके असरसे भी यह पैदा हो जाता है।

‡ नोट—कानों को कुण्डलों का मैडल (तमगा) रतिसंगर की विपरीत-दशामें भी साथ देनेकी बहादुरीमें एक और कविने भी दिलवाया है। यथा—

"शान्ते मन्मथ-संगरे रणभृता सत्कारमातन्वती.

वासोऽदाज्जघनस्य पीनकुचयोर्हारं श्रुतेः कुण्डले ।

[इस नोटका शेष देखो पृ० २३ पर]

तथा जब किसी श्रीमान्‌के घर किसी प्रतिष्ठित पुरुष या सुहृज्जनके आनेकी ख़बर आती है या कोई विशेष हर्षका अवसर होता है तो पहलेसे मकान ख़ूब सजाया जाता है, दरवाज़ोंपर वन्दनवार बाँधी जाती और रंग बिरंगी झंडियां खड़ी की जाती हैं। कभी कभी किसी असाधारण मान्य महोदयके पधारनेकी यादगारमे पीछे स्मृति चिह्न भी बनाये जाते हैं।

जिन कानोके द्वारा ऐसी त्रिभुवन-सुन्दरी हृदय-मन्दिरके अन्दर पहुची हो, उनपर स्वर्णकुण्डलके निशान लटकाना समुचित ही है। कान, हृदय-मन्दिरकी डयौढ़ी है, डयौढ़ी और कानोमे आकार-साम्य भी है—डयौढ़ी डयौढ़ देकर बनायी जाती है इसीसे डयौढ़ी कहाती है, कानोंकी रचना भी कुछ इसी प्रकारकी टेढ़ी

[पृष्ठ २२ का शेष नोट]

बिम्बोष्ठस्य च वीटिका सुनयना पाण्यो रणत्कङ्कणे,
पश्चाल्लम्बिनि केशपाशनिचये युक्तो हि बन्धः कृतः ॥"

× × ×

"रति-रन विषै जे रहे है पति-सनमुख,
तिन्हें बकसीस बकसी है मैं विहंसिके ।
कानन को कुंडल [करन को कंकन] उरोजन को चन्द्रहार,
कटिको सुकिंकिनी रही है कटि लसिके ।
"कालिदास" आनन को आदरसो दीन्हों पान,
नैनन को काजल रह्यो है नैन बसिके ।
एरी बैरी [चोरी] बार ये रहे हैं पीठ पीछे यातें,
बार बार बाधती हौं बार बार कसिके ॥"

मेढ़ी होती है,—इसपर प्रकाशित कुण्डलरूप झंडा, हृदयेश्वरीके अन्तःप्रवेशकी सूचना दे रहा है !

इस दोहेपर 'श्रीसुरतिमिश्र'ने कई विचित्र प्रश्नोत्तर दिये हैं। उनका भाव भी सुनिये —

प्र० १—इसदोहेमे प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण जब 'मदनमोहन' बने—तरुण हुए—तब ही यह कुण्डल पहिने (जिनपर कामके निशानकी उत्प्रेक्षा की गयी है), कामका सञ्चार यौवनमें ही होता है। परन्तु यहा यह बात ठीक नहीं, क्योंकि कुण्डल तो बचपनमे ही उनके कानोंमें थे।

उत्तर— हा, यह ठीक है कि कुण्डल बचपनमे ही उनके कानोंमें थे। परन्तु भूषण युवावस्थामेंही सुन्दर प्रतीत होते है, इसीमे दोहेमे "लसत" पद दिया है, यह नहीं कहा कि 'अभी पहने है, किन्तु-अब शोभा दे रहे हैं—दिप रहे हैं !—यद्यपि राजद्वारपर झडा सदा लगा रहता है,पर जब राजा किले-के अन्दर होता है तभी वह सुशोभित होता है—अच्छी तरह फहराता है, साधारण दशामें (जब राजा अनुपस्थित रहता है) झडा झुका रहता है, ऐसे ही कुण्डल पहलेसे साधारणतया कानोंमें पड़े थे सही, पर वह सुशोभित—दर्शनीय और वर्णनीय—अभी हुए है।

२-रा, प्रश्न—"काम मनमें ही उपजता है, और वहीं रहता है, इसी कारण उसका नाम "मनोज" है, पर यहा उस का मन में 'प्रवेश' कहा गया है, वह अपने जन्मदाता(मन)और जन्मभूमि (हृदय-मन्दिर) को छोड़कर कहा चला गया था ? (दोहेमें प्रवेशका वर्णन तो है, पर 'यात्रा'का उल्लेख नहीं, सो क्यों ?)

उत्तर—बेशक, 'मनोज' मनसे ही उपजता है पर बिना 'आलम्बन'के† उत्पन्न नहीं होता। वह "आलम्बन" (नायिका) दूसरी जगह थी, उसीकी तलाशमें मन वहां गया, और उस के सङ्गसे 'सकाम' होकर लौटा।

---

† साहित्यकी परिभाषा में—"आलम्बन विभाव" वह कहाते हैं जिनके आश्रयसे रसकी स्थिति है, जैसे शृङ्गारके आलम्बन 'नायक' और 'नायिका' हैं।

जैसे राजा कहींसे राज्य पाकर आता है और बड़े ठाठ बाटसे अपनी राजधानीमें प्रवेश करता है, उसी रीतिसे यहां (मन, मनोजका अभेद मानकर) कामका उसकी हृदयरूप राजधानीमें कविने प्रवेश करना वर्णन किया है ।

इस दोहेपर 'रस-चन्द्रिका"में भी कुछ शङ्का समाधान हैं—उसका संक्षेप यह है:—

इस दोहेका अर्थ बाल्यावस्थापरक भी होसकता है (अभिप्राय यह कि 'सुरतिमिश्र'ने जो प्रश्नोत्तर किये हैं, उनकी ऐसी आवश्यकता नहीं !) क्योंकि "ब्रह्मवैवर्त्त पुराण" और "गीतगोविन्द"में वर्णन है कि . . .. "साढे तीन वर्ष की वय (आयु) में राधिकासे विहार कीना है . ..... !!"

"मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै-

र्नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे ! गृहं प्रापय ।

इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुञ्जद्रुमम्,

राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहःकेलयः ।"

(जयदेव, गीतगोविन्द)

"काम," मनकी इच्छाविशेषका नाम है, वास्तवमें वह कोई पृथक्-सत्ताधारी मूर्त पदार्थ नहीं, जिसका आना जाना बन सके । इसका समाधान "ईसवीखां" इस तरह करते हैं:—

"काम एक भिन्न पदार्थ है, क्योंकि जब महादेवजीको दुःख देता था तब वह जला है, यदि वह पृथक् स्वरूप भिन्न पदार्थ न होता तो जलता कैसे ? पृथक् शरीर-सत्ताधारी व्यक्ति [illegible] जलाना बन सकता है !"

"काम को **मनोज** क्यों कहते हैं ? इसलिये कि जब उसे महादेवजीने जला दिया तब वह अङ्गहीन 'अनङ्ग' हो गया ! और जब अङ्गहीन है तो उसमें पराक्रम कैसे रहे ? सो जब वह ('भूत'की तरह !) किसीके मनमें आता है, तब उसके अङ्गो द्वारा अपना पराक्रम प्रगट करता है, "सो मानो उसके मन में उपजा" इस हेतु उसे **मनोज** कहते हैं, सो बिहारीने इस हेतु "बस्यौ" कहा ।"

ईसवीख़ाँने इसमें "उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा" इस प्रकार सिद्ध की है:—

"और वस्तुमें औरकी सम्भावना धर्म-सम्बन्ध सहित, सो यहा कुण्डल-वस्तुमें निशानकी सम्भावना करी और कुण्ल मकराकृत होते ही हैं ताते धर्म सम्बन्ध मिले है यातें उक्तविषया कहा—"
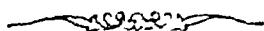
५

पीत-पट वर्णन

सोहत ओढ़े पीत पट श्याम सलौने गात।
मनो नीलमनि सैलपर आतप पर्‍यो प्रभात॥

अर्थ:—(सलौने गात)—लावण्ययुक्त शरीरकी कान्ति-वाले श्याम—श्रीकृष्णजी, (पीत पट ओढ़े सोहत)—पीताम्बर ओढ़े ऐसे सुन्दर प्रतीत हो रहे हैं, [मनौ]—मानो [नीलमणि सैलपर)—नीलमके पहाड़पर, (प्रभात आतप पर्‍यो)—प्रातःकाल की धूप पड़ रही है। श्यामके सलौने गातपर ओढ़नेसे पीत पट ऐसा सुहावना लगता है। —श्याम सुन्दरका सलौना शरीर नीलमणिका पहाड़ है और उसपर ओढ़ा हुआ जो पीताम्बरहै सो मानो प्रात.कालकी धूप पड़ रही है! यहाँ उक्तास्पदा वस्तूत्प्रेक्षा-लंकार है। श्याम गात और पीत पट—उक्त वस्तु हैं। उनमें नीलमणि गिरि--और आतप की "उत्प्रेक्षा" की गयी है। "मनौ" के सम्बन्धसे वाच्योत्प्रेक्षा है।

अतसी-पुष्प, नीलकमल, नीलमणि आदि समस्त सुन्दर श्याम पदार्थ, श्यामसुन्दरके उपमान हैं। श्रीकृष्णको अतसी-पुष्प और नीलमणिकी उपमा माघ कविने भी दी है—

"महामहानीलशिलाशिलारुच:" । "तस्यातसीसूनसमानभास:"

सखी नायिकाके सामने पीताम्बरधारी श्याम मुरारि-की अद्भुत शोभाका वर्णन करके उसे उनसे मिलाना चाहती है तो इस उत्तम उत्प्रेक्षामें एक और यह भाव भी गूढ़ है कि प्रभात सूर्य्यकी प्रभा यद्यपि अन्य पहाड़ोंपर भी पड़ती है पर जैसी शोभा वह नीलमणि पर्वतपर पड़नेसे पाती है, वैसी अन्यत्र नहीं। पीताम्बर भी श्याम सलौने गातपर ही सजता है, सो स्वर्ण-सुन्दरी तू भी श्यामके संयोगसे ही अपूर्व शोभा धारण करेगी। बिना नील मेघके बिजली, लाख चमका करे, पर वह बात कहां! केवल पीताम्बर, निरा आडम्बरहै, (पीला कपड़ा मात्रहै) वही श्रीकृष्णके नीलमणिकान्त-कायपर लोकलोचनहारी कम-नीय कान्तिको धारण करता है, और प्रात कालीन सूर्य्य-प्रभाकी स्पृहणीय छवि पाता है। विश्वास न हो तो पीतपट-धारी श्याम सुन्दरकी मनोहर मूर्तिको स्वयं देखले!

यदि दूतीविवर्जिता नायिकाकी उक्ति अपनी सखीसे है तो उससे दूतत्व कराकर काम निकालना चाहती है।

इस दशामें "पर्यायोक्त" "और" "समालंकार" भी है।

यदि नायिका सखीसे पूछती है कि कृष्ण कौनसे हैं, और वह उनका हुलिया बताकर कहती है कि, वह हैं— जिनके श्याम शरीरपर पीताम्बर ऐसा सुन्दर लगता है मानो नीलमणिपर प्रातः कालके सूर्यकी धूप पड रही है, तो "परमानन्द कवि" के मतानुसार यहाँ "उत्तरालकार" भी है। उत्तरालंकार-में—उत्तर वाक्यसे ही प्रश्नकी कल्पना करली जाती है— तथा उत्तरार्धमें "पकारकी" आवृत्ति से "वृत्त्यनुप्रास" भी है।

बांसरी-वर्णन

६

अधर धरत हरिके परत ओठ-दीठि-पट जोति।
हरित बांसकी बांसुरी इन्द्रधनुष-रँग होति॥

अर्थः—(अधर धरत)—होंठपर रखनेसे, (हरिके)—श्रीकृष्णके, (ओठ-दीठि, पट, जोति परत)—होंठ, नेत्र और वस्त्रकी ज्योति पड़ती है, जिससे—(हरित बांसकी बांसुरी)—हरे बांसकी बांसरी, [इन्द्रधनुष रँग होति]—इन्द्रधनुषके रंगकी हो जाती है।

इन्द्रधनुषमें प्रधानतया चार रंग दृष्टिगोचर होते हैं, हरा, पीला, लाल, और गुलाबी। सो जब वंसीधर मुरली बजाते हैं, तो वह इन्द्रधनुषके रंगकी हो जाती है, उसमें पीताम्बर आदिका प्रतिविम्ब पड़नेसे ये सब रंग आजाते हैं। पीला—पीताम्बरका, लाल—होठोंका, गुलाबी—आँखोंका, और हरा रंग बांसरीका। 'बांसरी'का 'हरे रंगको' विशेषण, उसकी प्रतिबिम्बग्राहकताको बोधन कराता है।

कोई कहते हैं कि दृष्टि और आँखमे भेद है। "दृष्टि"—दृक्शक्ति, और आँख—नेत्रगोलकको कहते हैं तथा नेत्रमें श्वेतता भी है, धनुषमें नही है। इसलिये वह यह क्लिष्टकल्पना करते हैं कि "बांसरीपर होंठकी ज्योति और पटकी ज्योति पड़ती है, सो तू "दीठ" अर्थात् देख।" पर यह ठीक नहीं, कवियोंने आंखमे लाल छोड़ श्वेत, लाल और श्याम तीनों रंग वर्णन किये हैं, जैसे इस जगत्प्रसिद्ध अद्वितीय दोहेमें—

"अमी हलाहल मद भरे श्वेत श्याम रतनार ।
जियत मरत झुकि झुकि परत जेहि चितवत इक वार ॥"

तथा जब नेत्र किसीके रूपासवके नशेसे छके हों— मस्त हों या जगे हो— तो उनकी 'लाली' भी वर्णनीय है, इस विषयमे किसीका वचन है :—

"कौन कवि ऐसो, छके नैननिके रूप कहे लाल-लाल कोयनिमें केते घर खोये हैं"।

इस दोहेमें 'तद्गुण' अलङ्कार है। पट- होंठ आदिके गुण ग्रहण करके बांसरी, इन्द्रधनुषके रूप रँगकी हो गयी। यह अमरचन्द्रिका, लालचन्द्रिका, रसचन्द्रिका, अनवरचन्द्रिका, प्रतापचन्द्रिका इन सबकी सम्मति है, और 'हरिप्रकाश'में भी "तद्गुण" लिखा है। पर फिर यह शङ्का करके कि—"जो कहिए और गुनि या में आए हरितगुनको त्याग नहीं भयो, तो उपमा भी है"—लिखा है। अर्थात् तद्गुणालंकार वहीं होता है जब कोई पदार्थ अपना गुण छोड़कर दूसरेका गुण ग्रहण कर ले, क्योंकि "तद्गुन तजि गुन आपनो सगतिको गुन लेइ" और यहाँ बांसरीने औरोंके गुण तो ले लिये, पर अपना हरित रंग भी नहीं छोड़ा, इसलिये यहां 'तद्गुण'की संगति नहीं बैठती। सो हरिके मतमें 'उपमालंकार' है। यथा—
"धनुष उपमान, बासुरी उपमेय, 'सी' वाचक, साधारण धर्मको लोप है।"
"इन्द्रधनुष रंग होति"—पाठमें 'वाचकलुप्तोपमा' है—['सी' आदि वाचक पद न होनेसे]— साधारण धर्म 'रंग' है। हरि-प्रकाशमें "इन्द्रधनुषसी होति" पाठ है। इस दशामें धर्म-लुप्तोपमा है।

प्रतापके मतमें—"यमक"—[बांस-बांस्के योगसे], "तुल्ययोगिता"—[ओठ आदिकी ज्योति पड़ने रूप एक क्रिया-

से] "पर्याय"—(एक आधाररूप बांसरीमें अनेकों रंगोंका आश्रय रहनेसे)। यह तीन अलंकार तद्गुणके अतिरिक्त और हैं ।

नायिकाकी उक्ति, या सखीका कथन नायिकासे ॥
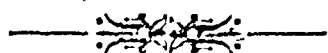
७

कितौ न गोकुल कुलवधू काहि न किहिं सिख दीन।
कौनै तजी न कुल-गली ह्वै मुरली-सुर-लीन ॥

अर्थः—मुरलीधर मुरली बजा रहे हैं, उसे सुनकर कोई नायिका उधर खिँची जा रही है। उसकी सखी समझाती है कि "देख, यह कुलवधूका धर्म्म नहीं है, उस ओर मत देख" इसपर प्रेमभरी नायिका कहती है:— ※

(कितौ न गोकुल कुलवधू)—गोकुलमें कितनी कुलवधू नहीं हैं, सब ही कुलवधू हैं, कुछ अकेली मैं ही कुलवधू नहीं हूं, और (काहि न किहिं सिख दीन)—किसने किसे शिक्षा नहीं दी ! अर्थात् सबने सबको समझाया, एक तूही नयी उपदेशिका नही आयी है जो समझाने चली है। पर (कौनै तजी न कुल गली)—किसने अपना कुलमार्ग नहीं छोड़ा ? अर्थात् सब 'कुलगली'से निकलकर 'कुञ्जगली'में पहुच ही गयी ! फिर मैं क्यों न जाऊॅं ! यह कुछ अपने बसकी बात नहीं है—[ह्वै मुरली-सुरलीन]—मुरलीके स्वरमे [लीन]—आसक्त होकर। कौन कुलीननारी है जो कुलगलीमें लीन— छिपी रह सके !

※ यदि सखीकी उक्ति नायिकासे हो तो कृष्णमें रुचि उपजाना प्रयोजन है। यदि दूतीविवर्जिता नायिकाका कथन सखीके प्रति है तो उससे दूतत्व कराना प्रयोजन है। गुप्तकथनसे पूर्वानुराग व्यङ्ग्य है।

यहाँ 'उत्तरालंकार' है। जहाँ उत्तरवाक्यको सुनकर प्रश्न-वाक्यकी कल्पना करली जाय वह 'उत्तरालंकार' कहलाता है। जैसे यहां नायिकाकी उक्ति [उत्तर] से ही यह पता चलता है कि कि सखीने उसे समझाया है, जिसका वह यह उत्तर दे रही है। लक्षण:—

"उत्तर देवेमें जहा प्रश्नौ परत लखाय।
प्रश्नोत्तरका प्रथम यह भेद कहें कविराय।"

काकूक्ति [काकु-वक्रोक्ति] से नायिकाकी उक्तिमें उसका अभिमत अर्थ निकलता है, इसलिये काकूक्ति भी है। इस प्रकार 'उत्तरालंकार' और 'काकुवक्रोक्ति' की 'संसृष्टि' [अलंकार] भी है।

तथा 'शिक्षा'रूप 'कारण'के होनेपर भी कुलगलीकी रक्षारूप—'कार्य्य' नहीं हुआ, (सखीकी शिक्षा निष्फल गयी) इसलिये 'विशेषोक्ति' अलंकार भी है।

"कार्य्याजनिर्विशेषोक्ति सति पुष्कलकारणे।"—
"विशेषोक्ति जो हेतु सों कारज उपजन नाहि।"

तथा 'तीसरी विभावना' अलंकार भी है क्योंकि बाधक (शिक्षा) के होते हुए भी—कार्य—कुलगली तजनारूप—हो गया। "विभावना तृतीया स्यात्सत्यपि प्रतिबन्धके।" पूर्वार्धमें " कुल · कुल "के कारण लाटानुप्रास, और उत्तरार्ध में 'वृत्त्यनुप्रास' है।

अथवा यह मुरली ही का मामला है। कोई (नायिका) उसीकी उन्मादकताका वर्णन कर रही है, कि हे मुरली! तूने कितने घरोंको नही घाला! तेरी मीठी तानने कितनी मृगनय-नियोंके कोमल हृदयोंको नही बींधा! वह कौन कुल-कामिनी है जो तेरे स्वरसे बहककर—मार्गभ्रष्ट हो—मुरलीवालेकी तलाशमें बन बन न भटकी हो। तेरे आलापके आगे किसीके कहने सुनने

और समझाने बुझानेका असर नहीं होता, तू कानमें कुछ ऐसा मंत्र फूंकती है कि सुननेवाला सबसे नाना तोड़कर तेरा ही हो रहता है, फिर उसे बंसीके सिवाय न कुछ सुनायी देता है, न बंसीवालेके अतिरिक्त कुछ और सूझता है! बस!—

"कानननमें बसी बासुरीकी धुनि प्राननमें बसो बासुरी बारो"—

जिस समय बंसी तो सुनायी देती है पर बंसीवाला दिखायी नहीं देता उस दशामें सुननेवालीपर जो बीतती है, उसका दिल ही जानता है, तब वह जलकर यही कहती है – "ज़रासे बांसकी पोरी मेरे दिलको जलाती है, कटा डारो उसी बनको जहांसे बनके आती है"—क्योंकि "न रहे बांस न बजे बांसरी"—तूने जिसकी 'कुलगली' छुड़ायी, वह तेरे कुल (बन)को क्यों न कोसे! रसनिधिने भी बाँसुरीपर अच्छी तान उड़ायी है, क्या खूब कहा है

"मोहन बसुरी सौं कछू मेरो बस न बसाय।
सुर-रसरी सौं श्रवन-मगु बाधि मनै लै जाय॥"

[रतन हजारा]

बंसीकी तान सुनकर ग्वालबालाओंमें जो हड़बड़ी पड़ती थी और गाय बैलों तथा मृगोंतककी जो दशा हो जाती थी उसका वर्णन श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धमें बड़ा मनोहर है। यथा—

"शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम्।
लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्याः पाययंत्यः सुतान् पयः॥"
"वृंदशो व्रजवृषा मृगगावो वेणु-वाद्य-हृतचेतस आरात्।
दंतदष्टकवला धृतकर्णा निद्रिता लिखितचित्रमिवासन्॥"

गुंजमाल – वर्णन

८

सखि! सोहत गोपालके उर गुंजन को माल।
बाहर लसत पिये मनौ दावानल को ज्वाल॥

अर्थ:— नायिका सखीसे कहती है कि—हे सखी! (गोपाल के उर, गुंजन को माल, सोहत)—गोपाल की छाती 'वक्ष:स्थल'-पर घुंघचियोंकी माला सुशोभित है, (मनौ, पिये दावानल की ज्वाल, बाहर लसत)— मानो पहले पिये हुए दावानल—दावाग्नि 'दौं' की लपट बाहर चमक रही है।

एक बार वन में आग लगी थी, जिसे श्रीकृष्ण पीगये थे। (भागवतके दशम में यह कथा है) गुंजामालाको देखकर नायिका कहती है कि मानो ये उसी आगकी ज्वालाएँ बाहर निकल रही हैं। प्रिय जनके हृदयसे आगकी लपटें निकलती बतलाना, अमङ्गल है। इसके समाधानका प्रयत्न टीकाकारोंने इस प्रकार किया है:—

"मानो गुंजामालाने दावानल पी है, उसीसे यह ऐसी चमक रही है"—

पर यह समाधान भी सन्तोषजनक नहीं हुआ, क्योंकि ऐसी कठोरमालाका (जो दावानल को पी गयी है!) प्रियके हृदयपर पड़े रहना भी प्रेमीसे कब सहन हो सकता है! इसलिये यह अर्थान्तर करना चाहिये— कि गोपालके गलेकी माला सपत्नीके गलेमें पड़ी है उसे देखकर नायिका कहती है कि हे सखी! गोपाल-के गलेकी गुंजामाला इसके (सपत्नीके) गलेमें ऐसी मालूम होती है। या सपत्नीके हाथकी गुंथी गुंजामाल गोपालके गलेमें देखकर ईर्ष्यासे जलकर 'अन्यसंभोगदु:खिता' नायिका कहती है मानो मालाने दावानल पी है, वही बाहर चमक रही है, इसे देखकर हमारी आँखें जलती हैं, यह भाव।

यहां "उक्तास्पदा वस्तूत्प्रेक्षालङ्कार" है, क्योंकि गुञ्जामाला-वस्तुमें ज्वाला-वस्तु की सम्भावना की गयी है। तथा 'सोहत' 'लसत'से 'अर्थावृत्ति—दीपकालङ्कार' भी है। जहाँ शब्दभेदसे वही अर्थ फिर कहा जाय, वहाँ "अर्थावृत्ति दीपक" होता है, जैसे यहाँ एक ही अर्थ— 'सुशोभित होना' 'सोहत' और 'लसत' दो शब्दों द्वारा कहा गया है। यथा:—

लक्षण—"पुनि है आवृत्ति अर्थ की दूजे कहिए नाहि ।"

उदाहरण—"फूले वृक्ष कदम्बके विकसे केतक आहि ॥"

(भाषाभूषण)

युगलमूर्त्ति-वर्णन

९

नित प्रति एकत ही रहत बैस बरन मन एक।
चहियत जुगलकिसोर लखि लोचन जुगल अनेक॥

अर्थः— श्रीराधाकृष्णकी युगल मूर्त्तिका अथवा श्रीकृष्ण बलदेवजीकी जुगल जोड़ाका वर्णन। सखीकी उक्ति सखीसे या भक्तका वचन भक्तसे। [नित प्रति एकत ही रहत]—नित्य प्रति, सदा, एकत्र—इकट्ठे ही रहते हैं, [बैस बरन मन एक]—वयस् आयु, वर्ण—जाति, और मन दोनों के एक हैं, अभिन्न-हृदय हैं।

अथवा—"दोनों वयस वरन"—आयुके अक्षरोंसे, एक हैं, अभिप्राय यह कि राधाजो "श्यामा" हैं [श्यामा षोडशवार्षिकी] सोलह वर्षकी स्त्रीकी श्यामा संज्ञा है, और श्रीकृष्णजी 'श्याम' हैं, श्यामामें 'आकार' और श्याममें 'अकार' [अन्त्याक्षर] है, अकार आकार व्याकरणके मतसे दोनों समान हैं, अर्थात्

स्थान प्रयत्नादि एक होनेसे दोनों- अकार आकार- सवर्ण-संज्ञक हैं।" [हरिप्रकाशसम्मतोर्थः]

[जुगल किशोर लखि]— किशोरी राधा—किशोर कृष्णको युगलमूर्त्ति को देखकर, [अनेक लोचन जुगल चहियन]— नेत्रोंके अनेक जोड़े चाहियें। इन दो आंखोंसे इस अद्भुत शोभा-सम्पन्न जुगल जोडीकी छवि अच्छी तरह नहीं देखी जा सकती, बहुतसे नेत्र हों तब ठीक देखी जा सके। अनेक नेत्र चाहियें-इस कथनसे शोभाका आधिक्य व्यङ्ग्य है। श्रीकृष्ण बलभद्रके वर्णनमें भी यही अर्थ संघटित है।

"बैस बरन"की व्याख्यामें प्रायः टीकाकारोंने बहुत घुमा फिराकर नाक पकड़ी है। यह कदाचित् इसलिये कि श्रीकृष्णजीके पिता वसुदेवजी और नन्दगोप, तथा वृषभानु [श्रीराधिकाके पिता] की जातिमें कुछ अवान्तर भेद था। यद्यपि श्रीकृष्ण जिस दशामें नन्दजीके यहां थे, उन्हें सब नन्दजीका ही पुत्र समझते थे, और राधाजीके पिता तथा नन्दजी दोनों एक ही जाति बिरादरीके थे। फिर इतनीसी बातके लिये 'वर्ण'की ऐसी विचित्र व्याख्या करनेकी कुछ ऐसी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। क्योंकि अवान्तर भेद, एकजातित्व या सवर्णताका बाधक नहीं है, 'ब्राह्मणजाति' कहनेसे उसके सब कल्पित और अवान्तर भेद आ जाते हैं, गौड और कान्यकुब्ज-दोनोंको 'सवर्ण' कह सकते हैं। अस्तु।

"बैसबरन"पर टीकाकारोंकी कल्पनाएं सुनिये——

"बैस बरन"—[बैस] —वयः क्रम, ताको तू [बरन]—(वर्णय!) वर्णन कर, कहा अच्छी उमरि है।" अथवा, "वर्णनीय"—वर्णन करिबे लायक, वयस- अवस्था, सो एक है।" अथवा, "वयस के वर्ण—अक्षर एक हैं, यह भी किसोर है वह भी किसोर है। (हरि क व)"

हरि कवि और लल्लूलालजीने 'बरन' का अर्थ 'रंग' नहीं किया, क्योंकि दोनोंके रंगमें भेद था, राधाजी गोरी और कृष्णजी काले और बलदेवजी भी शेषके अवतार सुफ़ेद चिट्टे, उनका भी 'रंग' कृष्णजीसे मेल नहीं खाता। परन्तु 'रसचन्द्रिका'में 'बरन'का अर्थ 'रंग' भी किया है और उसपर यह प्रश्नोत्तर दिया है:—

"और 'बरन' पर पश्न करे—के [कि] वे [राधा] गोरी, ये स्याम, 'वर्ण' एक कैसे ह्वै सके ? ताको [याको] उत्तर यह है कि दोनोंके रंगकी ओत मिलेसे दोनोंका रंग हरित हो गयो"। और यह भी उत्तर हो सके है, [अर्थान्तरम] कि दोऊ वे [दोनों] 'सवर्ण' है, वे गोप वे गोपिन"—

यहां समालंकार है। दोनोंके वयस वर्ण आदि एकसे मिल गये। (और वे आपसमें मिल गये!) "सम"का लक्षण—

"यथायोग्यको संग जहँ मिलै सु "सम" निरधार।"

"विशेषोक्ति" अलंकार भी है, नेत्रयुगलरूप कारणसे, युगलमूर्त्ति-दर्शनरूप कार्य नही हो सकता, इसलिये।

अनवरचन्द्रिका और प्रतापचन्द्रिकामे, इस दोहेको केवल श्रीकृष्ण और बलभद्रजीके ही वर्णनपक्षमें लगाया है, क्योंकि उनके मतानुसार:—"जो नायिकाकी उक्ति होय तो 'रसाभास' * होत है। और † 'किसोर'पद 'अनुचित' है। जो किसी भक्तकी उक्ति होय तो व्यङ्गयसे रामकृष्ण बोद्धव्य है। ग्रंथकर्त्ता [बिहारी] इस मङ्गलाचरणसे कृष्णोपासक प्रतीत होत है, अतः इसमें शान्त रस ‡ है।"

---

* प्रतिनायिकागत रसवर्णनके कारण।

† 'किशोर' पद तरुणावस्थाका वाचक न होनेसे, रसपोषक नहीं।

परन्तु हरि कविने इसे खण्डितानायिकाकी उक्तिमें भी लगा दिया है।

यथा— "अन्यत्र विहार करके प्रातःकाल नायक आया है, इससे नायिकाको क्रुद्ध देखकर नायकके पक्षकी सखी कहती है कि यह तो और किसी नायिकाके पास जाते नहीं, तू क्यों पीठ फेरे रूठी बैठी है, इनकी ओर देख तो सही। इसपर खण्डिता कहती है कि "हाँ यह और कहीं नहीं जाते" "नित प्रति एकत ही रहत"—केवल एक उसी [कलमुंही!]के पास सदा रहते हैं! क्योंकि—इनका उसका वयस [आयु] और वर्ण—रंग एक है, जैसे यह काले, वैसी वह काली, यही नहीं दोनोका मन भी एक है। जैसा कुटिल मन इनका है वैसा ही उसका मन कुटिल है! और यह "जुगलकिसोर" हैं, एक नहीं दो हैं, किशोरी किशोरकी जोड़ी है। इनके कुटिल हृदयमें वही कुटिला छिपी बैठी है! फिर ऐसी हालतमें, इस अद्भुत 'युगलमूर्त्ति' के देखनेको आँखोंके अनेक जोड़े चाहियें, इन बेचारी नींदकी मारी दो आँखोंसे क्या देखूं? किसी खण्डिताकी उक्ति है—

" देखन न देहो इन्हे यो ही तरसे हौ अब,
हियहि की आखनि दिखैहौं रूप रावरो ॥"

यहां कवि परमानन्दजीने 'सम्भावनालकार' भी माना है, यथा—

" यदा अनेकदृग्युगानि भवेयुस्तदैवेद युग्म दृश्य भवेदिति युग्मदर्शन-सिद्धये अनेकदृग्युगलसम्भावनमिति सम्भावनालङ्कारः। "सम्भावना यदीत्थं स्यादित्यूहोऽन्यस्य सिद्धये" इति तल्लक्षणात।"

अर्थात्—यदि आंखोंके अनेक जोड़े हो तबही यह जोड़ी देखी जा सके' इस प्रकार जोड़ीके देख सकनेके लिये आंखोंकी अनेक जोड़ियोंकी सम्भावना की गयी— सो 'सम्भावनालंकार' है।

कुवलयानन्दमें इसका यह लक्षण है कि—"यदि ऐसा हो, तो ऐसा हो"—इस प्रकार किसी कार्यकी सिद्धिके लिये कल्पना करना सम्भावनालंकार है"।

'काव्यप्रकाशकार'ने इसे (सम्भावनाको) "अतिशयोक्ति"का एक भेद माना है। यथा——

"यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्" यद्यर्थस्य—यदिशब्देन चेच्छब्देन वा उक्तौ यत् कल्पन (अर्थात् असम्भविनोऽर्थस्य) सा तृतीया [यद्यर्थातिशयोक्तिरित्यर्थः] (काव्यप्रकाश, दशम उल्लास)

अर्थात् जहां 'यदि' या 'चेत्' शब्दके प्रयोगपूर्वक कोई कल्पना की जाय, वहीं 'यद्यर्थातिशयोक्ति' —कुवलयानन्दकी 'सम्भावना'— होती है। यदि इन दोनो शब्दोमेसे किसी एकका प्रयोग न हो तो यह अलंकार नहीं होता। काव्यप्रकाशकार और उसके टीकाकारोंका यही मत है। साहित्यदर्पणके टीकाकारने भी इसपर स्पष्ट लिखा है कि—"यद्यर्थप्रयोग एवास्य प्रकारः सम्भवति।" और कुवलयानन्द, काव्यप्रकाश, तथा साहित्यदर्पण—इन तीनो ग्रन्थोंमें जितने उदाहरण इसके (सम्भावनालंकारके) हैं सबमें 'यदि' या 'चेत्' है। 'यदि' 'चेत्'—रहित कोई उदाहरण नहीं। इससे स्पष्ट है कि विना इनके —यदि, चेत्, के साक्षात् प्रयोगके—'सम्भावना' या 'यद्यर्थातिशयोक्ति' नहीं होती। इसलिये कवि परमानन्दजीका यह मत आनन्ददायक प्रतीत नहीं होता! इस दोहेमे 'सम्भावनालंकार' की सम्भावना नहीं है। परमानन्दजीने जो इस दोहेका संस्कृतानुवाद किया है वह यह है—

"विलसति युवयोरेकता वर्णवयोहृदयेन।
भवेदिदं युगल कथ दृश्य नयन-युगेन॥" (शृङ्गारसप्तशती)

दक्षिण नायक वर्णन

१०

गोपिन संग निसि सरद की रमत रसिक रस रास ।
लहाछेह अति गतिन की सबन लखे सब पास ॥

अर्थ—सखीका वचन सखीसे । रासलीलाका वर्णन । [सरदकी निसि, गोपिन संग, रसिक. रस, रमत]—शरद् ऋतु [क्वार कार्त्तिक] की रातमे, गोपियोंके साथ रसिक-शिरोमणि श्रीकृष्ण, रससे—अनुरागसे [ऊपरी मनसे नहीं !] क्रीड़ा कर रहे हैं, [रास] —रासमें [गतिनकी अतिलहाछेह, सबन, सब पास, लखे]—गतियों [नाचनेकी गति विशेषों] की अतिलहाछेह —अत्यन्त शीघ्रतासे,[सबन सब पास लखे]—सबने सबके पास [वह] देखे ।

अभिप्राय यह है कि रासमें नटनागर श्रीकृष्णने नृत्यकलाके ऐसे अद्भुत कौतुक दिखलाये, नाचनेमें इस फुरती और सफ़ाईकी चाल चली, कि सबने उन्हें सबके पास देखा, वह एक और गोपियां हज़ारों, पर "जहां देखो वहीं मौजूद मेरा कृष्ण प्यारा है !"

अलकार—'विशेषालंकार' का भेद है । 'रेफ' बाहुल्यसे वृत्त्यनुप्रास भी है ।

लहाछेह—"चञ्चलगति" (हरि कवि) । "लघुद्रुतगति" (व्यासजी) ।

"रासके रसिकने" येती (इतनी) जल्दी कीनी कि सबने अपने अपने पास लखे, जितनी गोपी हती (थीं) तितने रूप श्रीकृष्णने धरे, सबका मान रखा और "लहाछेह" को अर्थ जल्दी को है "—(रसचन्द्रिका)—"चालाकी"—(अनवरचन्द्रिका । प्रतापचन्द्रिका) ।

"......शीघ्रता"—लहाछेहको सङ्गीतमें 'उरप तुरप' कहते हैं । नाचनेके प्रकरणमें " (लालचन्द्रिका)

१—"विशेष सोऽपि यद्येकं वस्त्वनेकत्र वर्ण्यते ।"
उदा०—"अन्तर्बहिः पुरः पश्चात् सर्वदिक्ष्वपि सैव मे ॥" (कुवलयानन्द)
२— "वस्तु एक को कीजिए वर्नन ठौर अनेक ।"
उदा०—"अन्तर बाहिर दिश विदिश वही तीय मुख देन ।" (भाषाभूषण)

अर्थात् जहां एकही वस्तुकी स्थिति एकही समय कई जगह कही जाय, वह "विशेषालङ्कार"का एक भेद है। जैसे यहाँ इस वर्णनमें कि श्रीकृष्ण एक ही समय सब गोपियोंको एक-साथ सबके पास दीखते थे।

कोई कोई 'भक्तजन' टीकाकार, एक ही समय श्रीकृष्णजीके सबको सबके पास दिखायी देनेका कारण "ईश्वर-विभूति" बतलाते है। पर यह पक्ष रसपोषक नहीं। ईश्वरताको छिपाकर—उसकी चर्चा न चलाकर—नटवरकी नृत्यनिपुणतासे ही ऐसा कर दिखानेमे मज़ा है— रसपुष्टि है— । ईश्वरलीला प्रकट करनेकेलिये 'रासलीला'को कुछ ऐसी आवश्यकता न थी। इसके अतिरिक्त 'विहारीलालजी'को यदि विभूति द्वारा ही अनेक रूप धारण करनेका वर्णन अभीष्ट होता तो "लहाछेह"से अनेक रूपोंको प्रतीति बतलानेकी क्या आवश्यकता थी !

इस दोहेपर कृष्णकविके कवित्तका उत्तरार्ध यह है:—

"अवला अनेकमें कीन्हीं नन्दलाल कछू,
अदभुत चातुरी की कला यों प्रकास है ।
"सवही की बाह गही सवही के सग नाच्यो,
सबनु विलोक्यो कान्ह सव ही के पास है ॥"

'अभिमन्यु' कविका यह कवित्त भी इसी दोहेका अनुवादसा प्रतीत होता है:—

"जमना के पुलिन उजेरी निसि सरद की
राकाको छपाकर किरण नभ चाल की,

नन्द को लईतो तहां गोपिकासमूह लै कै
रची, रास क्रीड़ा बजै वीना डफ ताल की।
लहाछेह गतिनकी कही न परत मो पै,
द्वै.द्वै गोपिकांक मध्य छवि नन्दलाल की।
सोभा अवलोकि 'अभिमन्यु' कवि बोलि उठ्यो,
एक वार वोलो साधो ! जै गोपाललाल की ॥"

'रासलीला'का विचित्र वर्णन भागवतके दशम स्कन्धमें है। यथा—

"रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डल-मण्डितः।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः॥" इत्यादि।

शठ नायक-वर्णन

११

मोहि करत कत बावरी किये दुराव दुरै न।
कहे देत रँग रातके रँग निचुरत से नैन॥

अर्थः— खण्डिता, लक्षिता और अन्यसम्भोगदुःखिता, तीनोंके पक्षमे संघटित है। नायकसे नायिकाकी उक्ति हो तो खण्डिता। नायिकासे सखीका वचन हो तो लक्षिता, और नायिकाका कथन सखीके प्रति समझें तो अन्यसम्भोगदुःखिता।

कहीं अन्यत्र रात बिताकर प्रात काल नायक'महात्मा' पधारे हैं। नायिका पूछती है कि कहो रात कहाँ रमे ? वह असल बात छिपाकर कुछ ऊटपटांग उत्तर दे, पीछा छुड़ाना चाहते हैं, तब नायिका कहती है:—

(मोहि कत बावरी करत)— भला ये बातें बनाकर, मुझे क्यों बावली बनाते हो! (दुराव किये दुरै न)— छिपानेसे असल हाल छिपता नहीं! (रंगनिचुरत से नैन)–रतजगा करनेसे, जिनसे रंग निचुड़ रहा है—आंखें ऐसी लाल सुर्ख हो रही हैं मानो उनसे रंग टपक रहा है—ऐसी तुम्हारी आँखें (रातके रंग, कहे देत) - रातके रंगको (रतिविलासको) कहे देती हैं!

तुम लाख बातें बनाओ और असलियत को छिपाओ, तुम्हारी इन आँखोंसे टपकता हुआ रंग, रातकी रंगरलियोंका पूरा पता दे रहा है !

'रंग' का अर्थ यहाँ 'लक्षणलक्षणा' करके 'रतिविलास' समझना चाहिये। जहाँ शब्द अपने अर्थको बिलकुल छोड़कर किसी दूसरे अर्थका बोध करावे, वहाँ 'लक्षणलक्षणा' होता है। जैसे यहाँ रंग शब्द अपने रक्तवर्ण विशिष्ट द्रव पदार्थरूप–शक्यार्थको सर्वथा छोड़कर 'रतिविलास'को लाक्षित करता है ।

अमरचन्द्रिका और लालचन्द्रिकाके मतमे यहाँ "काव्यलिङ्ग" अलंकार है ।

(रंग निचुड़तेहुए नेत्रोंने रातके रंग को दृढ किया"—)

हरि कविके मतमे "अनुक्तास्पदा वस्तूत्प्रेक्षा" है.—

"नेत्र रातको जागनेमे अति लाल हुए हैं, मानो उनसे रंग चू रहा है। यहा —'रंग चू रहा है' इस पद से 'मानो' (उत्प्रेक्षाव्यञ्जक शब्द)का अर्थ निकलता है, और उसका अन्वय 'कहे देत हैं'— इस कियाके आगे है। अर्थात्, नेत्रोंसे रंग चू रहा है, सो मानो रातके रंग को कहे देता हैं"—

(हरिप्रकाश)

"वर्षतीवाञ्जनं नभः" मानो आकाश 'अञ्जन'की वर्षा कर रहा है। यहाँ अविद्यमान अञ्जन (जिसकी सम्भावना की गयी है) और विद्यमान–'तम' (जिसमें सम्भावना की गयी है) दोनों कहने

चाहिये थे, पर केवल 'अञ्जन'ही कहा, सम्भावना का आस्पद-'तम' नहीं कहा, इस कारण "वर्षतीवाञ्जनं नभः"में 'अनुक्तास्पदा वस्तूत्प्रेक्षा' है। ऐसे ही प्रकृतमें, 'रंग'-रूप जिस अविद्यमान-वस्तूकी कल्पना 'आँखोंकी सुर्खीमे की गयी है"— वही है। 'आंखोकी सुर्खी'— यह आस्पद, अनुक्त है, इसलिये "अनुक्तास्पदा' है†। इसे ही "आंखें ऐसी सुर्ख हैं मानो इनसे रंग चू रहा है"— ऐसा कहदें तो "उक्तास्पदा" हो जाय।

'प्रतापचन्द्रिका'के मतमें यहां "उपमानलुप्तोपमालङ्कार" है। रंग निचुड़ता हुआ, 'वस्त्रादि' उपमान नहीं कहा—यहाँ वह लुप्त है— और लक्षणासे लक्षित होता है।

१२

वाल ! कहा लाली भई लोयन कोयन मांह।
लाल ! तिहारे दृगनकी परी दृगनमें छांह॥

अर्थ —नायक नायिकाका प्रश्नोत्तर। नायिका धीरा खण्डिता। नायक शठ।

रातको किसी और जगह झख मारकर नायक आया है, नायिका वेचारी उसकी इन्तज़ारीमे रातभर जगी है, कुछ इससे और कुछ उन्हें इस दशामे देखकर क्रोधसे उसका —नायिकाका— आँखें लाल हो रही हैं। सो आतेही आप पूछते हैं:—

प्रश्न—(वाल ! लोयन कोयन मांह कहा लाली भई ?)— हे वाले ! तेरे नेत्रोंके कोयोमें लाली क्यो है ?

---

† हरि कविने यत्र तत्र 'अनुक्तास्पदा'का यही साधारण लक्षण किया है कि—जहां क्रियाके आगे उत्प्रेक्षावाचक 'मनु' आदिका अन्वय हो वह 'अनुक्तास्पदा' है।

उत्तर— (लाल तिहारे दृगनकी परी दृगनमें छाँह)— हे लाल! तुम्हारे नेत्रोंकी परछाईं (प्रतिबिम्ब) मेरी आँखोंमें पड़ रही है। इसीसे लाल हैं।

बड़ा ही विचित्र उत्तर है। यह जवाब सचमुच लाजवाब है। तुम्हारी आंखोंका अक्स मेरी आंखोंमें पड़ रहा है। इसीलिये वे लाल मालूम हो रही हैं। कैसे भोले लाल हैं! मानो कुछ जानते ही नहीं, अपनी आंखोंको देखो, वे क्यों लाल हैं! फिर मेरी आंखोंके लाल होनेका कारण स्वयं विदित हो जायगा। तुम यह ऐसी आंखें लाल किए इस वक्त कहां-से आरहे हो! मैं तुम्हारी इस धजको एक टक आंखें फाड़े बड़े आश्चर्यसे देख रही हूं। सो तुम्हारी ये लाल आंखें ही मेरी आंखोंमें पड़ी झलक रही हैं।

कविने इस दोहेमें कमाल किया है, फड़का देनेवाले अतिचमत्कृत अर्थके साथ शब्दरचना और वाक्यविन्यास भी बड़ा ही सुन्दर है। केवल 'बाल' और 'लाल' दोनो संबो-धन पद ही लालोंकी जोड़ीसे कम क़ीमतके नही हैं! शठ-शिरोमणि नायक, नायिकाको भोली भाली मुग्धस्वभावा और अपनी करतूतोंसे बेख़बर नातजुर्बेकार जानकर, उसे छलना, अपने अपराधको छिपाना सुगम समझ, "बाल" सम्बोधनसे पुकारता है। नायकको "लाल" शब्दसे सम्बोधन करनेमे भी बड़ा व्यङ्ग्य है। मानो तुम ऐसे ही भोले लाला हो। कुछ जानते ही नही! जान बूझकर क्यों छलते हो! इसके अतिरिक्त लाल आंखोंवालेको —जिसकी आंखोंकी लाली और की भी आंखोंको लाल करदे—'लाल' कहना उचित ही है। फिर इस निराले ढंगसे अपना क्रोध छिपाकर शठ नायकको क़ायल करना धीरा—पण्डिता—के स्वरूपानुरूप ही

है। आंखें क्यो लाल हैं ? इसका यह उत्तर कि उनमें तुम्हारी आंखोंका अक्स पड़ रहा है, बड़ा गूढ़ाभिप्रायगर्भित है। यहां इस उत्तरालङ्कारसे यह ध्वनि निकलती है कि तुम्हारी आखें रात्रिजागरणसे इतनी अधिक लाल हो रही हैं कि उसका छिपा रहसकना तो दूर रहा (तुम छिपाना चाहो तो भी नहीं छिपा सकते) उस लालीके प्रतिबिम्बने मेरी आंखोंको भी लाल कर दिया ! गहरे रँगकी चमकीली चीज़का प्रतिबिम्ब सामने-की साफ़ चीज़को भी अपने रँगका बना देता है ।

अभिप्राय यह है कि तुम्हारे प्रकट और असह्य अपराधसे उत्पन्न क्रोधसे मेरी आंखें लाल है !

किसी विशेष भाव या व्यङ्गयको लिये हुए, जहां किसी प्रश्नका उत्तर दिया जाय, वह 'उत्तरालङ्कार' है। (उत्तरालङ्कारका लक्षण, उदाहरण ७ वे दोहेकी टीकामें आ चुका है)।

'लोयन कोयन' से छेकानुप्रास, और 'लोयन द्रग' से अर्थावृत्ति दीपक है ।

यहाँ और ७ वे दोहेमें भी हरिकविने "चित्रालङ्कार" माना है। पर यह युक्त प्रतीत नहीं होता । क्योंकि जहां वही प्रश्न और काकु आदिके हेर फेरसे वही उसका उत्तर हो, या कई प्रश्नोंका एक ही उत्तर हो, वही 'चित्रालङ्कार' होता है । यथा—

"प्रश्नोत्तरान्तराभिन्नमुत्तरं चित्रमुच्यते ।"

"के दारपोषणरताः, के खेटाः, किं चल, वयः ॥" (कुवलयानन्द)

जैसे, यहां "के दारपोषणरता"? "स्त्रीके पालन पोषणमें कौन लगे हुए हैं ?) इस प्रश्नका यही वाक्य उत्तर है कि "'केदारपोषणरताः" 'जो खेतके काममें लगे हुए हैं' । अर्थात् वही लोग कुटुम्ब-पालनमें समर्थ हैं जो खेती बाड़ीके काममें लगे हैं।

"के खेटा: ? किं चल ? वय" आकाशमें विचरनेवाले कौन हैं ? और चलायमान क्या है ? इन दोनों प्रश्नोंका उत्तर "वय:" है, अर्थात् पक्षी, और आयु: । (वय. शब्दका अर्थ पक्षी और आयु दोनों हैं)

भाषाभूषणमें चित्रालङ्कारका लक्ष्य, लक्षण यह है:——

"चित्र, प्रश्न उत्तर दुहू एक वचन में सोय ।"
"मुग्धा तिय को केलिरुचि भौन कौनमें होय ॥"

परन्तु विहारीके इन दोनों दोहोंमें (७वें और १२वें में) एक जगह उत्तरसे प्रश्न उन्नेय है, और दूसरी जगह प्रश्नोत्तर पृथक् पृथक् हैं । हरि कवि "उत्तरालङ्कार" और 'चित्रालङ्कार'को एक ही समझते हैं । "सनिकज्जल८" ३२८ दोहेकी टीकामें हरि कविने लिखा है "उत्तरालकार भी जानिये, या कौं "चित्रालकार" कहत हैं"- । परन्तु 'उत्तरालंकार' "और चित्रालंकार" एक नहीं, पृथक् पृथक् हैं ।

इस दोहेके भावसे बिलकुल मिलती जुलती एक प्राचीन प्राकृत 'गीति' काव्यप्रकाशके ध्वनिप्रकरणमें उदाहृत है—

"ओल्लोल्लकरअरअणक्खएहि तुह लोअणेसु मह दिण्णम् ।
रत्तसुअ पसाओ कोपेण पुणो इमे ण अक्कमिआ ॥"

(आर्द्रार्द्र-करजरदनक्षतैस्तव लोचनयोर्मम दत्तम् ।
रक्ताशुक प्रसादः कोपेन पुनरिमे नाक्रान्ते ॥)

प्रतिनायिका-कृत ताज़े नख-दन्तक्षत रूप सम्भोगचिह्नोंको वैसे ही चमकाता हुआ शठ नायक, नायिकाके सामने चला आया । यह रंग देखकर नायिकाकी आँखें क्रोधसे लाल हो आयीं, इसपर नायक उससे पूछता है कि तुम्हारी आंखें क्रोधसे लाल क्यों हो गयी ? नायिका कहती है कि:—

तुम्हारे शरीरपर झलकते हुए इन आर्द्रार्द्र—तुरतके ताज़े (खून झलकते लाल लाल) दन्त-नखक्षतों (ज़ख्मों) ने मेरी आंखोंको "रक्तांशुक" (रक्तकिरणरूप) लाल कपड़ा 'प्रसाद' दिया है, (उसीकी लाली है) क्रोधसे ये लाल नहीं हैं !

जब कोई पुरुष किसी तीर्थस्थानकी यात्रासे लौटकर आता है तो जो वस्तु वहांकी प्रसिद्ध होती है उसे 'प्रसाद'के रूपमें अपने मिलनेवालोंको भी लाकर देता है, जिसे वे सादर ग्रहण करते हैं - प्रसाद बहुत ही अद्भुत या पवित्र हो तो उसे सिरपर रखते हैं और आंखोंसे लगाते हैं ।

यहां गाथामें 'उत्तरालंकार,' 'आर्द्रार्द्र' तथा 'प्रसाद' पदोंसे विशेष ध्वनि निकलती है । 'आर्द्रार्द्र'—से यह कि रति-चिह्न ऐसे प्रकट और स्पष्ट हैं जिन्हें तुम छिपा नहीं सकते, क्योंकि वह बिलकुल ताज़े हैं, इसीलिये लाल हैं (और जो स्वयं लाल हैं वे औरोंको भी "रक्तांशुक"= लाल किरणोंका कपड़ा प्रसादमें दे सकते हैं)और फिर तुम उन्हें छिपाना चाहोगे भी क्यों ! वह तो तुम्हारी तीर्थस्थान प्रेयसीके प्रसाद-सूचक चिह्न हैं । तीर्थकी निशानी 'प्रसाद'में दी ही जाती है, सो मुझे भी तुमने उनका प्रसादपात्र बना दिया, ऐसे प्रसादको आंखोंमें धारण करनेसे वे लाल हो गयी हैं । भाव यह कि इन लाल लाल रतिचिह्नोंको प्रत्यक्ष देखकर भी आंखें लाल न हों तो क्या हो ! यह कोई पुराना अपराध तो नहीं है जो भुलाया जा सके, यह तो अभी की ताज़ी करतूत है !

बहुत सम्भव है बिहारीका यह दोहा, इसी 'प्राकृतगीति'की छाया हो, परन्तु दोहेकी प्रभाके आगे गीति, विच्छाय बन गयी है ।

पहले प्रतिनायिकाकृत नखक्षतों और दन्तव्रणोंसे नायकके शरीरका लाल होना, फिर उनका नायिकाके नेत्रोंको 'रक्तां-

शुक' प्रसादमें देना, और फिर उसके कारण आंखोंका लाल होना, और साथही कहने वालीका साफ़ साफ़ यह कहना कि "ये क्रोध-से लाल नहीं हैं"— इस 'चक्करदार' 'खुले हुए' उत्तरमें वह बात कहां है, जो—"लाल! तिहारे दृगनकी परी दृगनिमें छांह"— इस सीधी सादी, तड़ाक फड़ाक 'हाजिर जवाबी'में है !!

यह उत्तर रहस्यपूर्ण, मर्म्मस्पृक्, युक्तियुक्त, बहुत सरल और नितान्त गम्भीर है ! इसकी अखण्डनीयताकी सिद्धिके लिये प्रमाणान्तरकी अपेक्षा नहीं है। प्रश्नकर्त्ताको सन्देह हो तो दर्पण लेकर अपना मुंह देखले, अपनी आंखोंसे पूछले, यही उत्तर मिलेगा ! जो रंग 'आकृति'में है वही "प्रतिकृति"मे दीखेगा।

इसके अतिरिक्त गोतिके 'उत्तर में जो 'अपह्नुति'– (क्रोध-से लाल नहीं हैं)–मिली हुई है, उसने भावको खोल दिया। दोहे-के उत्तरमे वह भाव गूढ़ और चमत्कृत है ! प्रश्नकर्त्ताने जैसे अनजान बनकर पूछा है—इस भावको छिपाया है कि आंखोंकी लालीसे मैं समझ गया हूं कि तू क्रुद्ध है—धीरा नायिकाने उत्तर भी वैसा ही गूढ़ दिया है। ऐसे अवसरके लिये प्रश्नोत्तरका यह प्रकार बहुत ही हृदयङ्गम है। "तू क्यों क्रुद्ध है ? मैं तो क्रुद्ध नहीं हूं"— इस खुले डुले प्रश्नोत्तरमे वह चमत्कृति नहीं रहती।

दोहेके शब्द भी कैसे जँचे तुले हैं, एक मात्रा भी व्यर्थ नहीं। पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्धके प्रारम्भमे आमने सामने 'लाल' ! और 'बाल' ! कैसे सुहावने और भले मालूम होते है ! कितनी बेसा-ख्तगी (स्वाभाविकता) है ! बार बार पढ़िये और सिर धुनिये ! वाह बिहारीलाल वाह !

धृष्ट नायक-वर्णन

१३

दुरै न निघर घटौ दिये ए रावरी कुचाल।
विषसी लागति है बुरी हँसी खिसी की लाल॥

अर्थः— 'धृष्ट' नायक ढिठाईसे अपनी पोलपर खोल चढ़ाकर सुर्ख़रू बनना चाहता है, नायिका जो उसपर कुचाल चलनेका इलज़ाम लगा रही है, उसे योंही हँसीमें उड़ाकर— मानो नायिका जो कुछ कह रही है, वह सब उसका भ्रममात्र है, वह इस योग्य नहीं है कि उसपर कुछ भी ध्यान दिया जाय, वह सिर्फ़ सुनकर हँसदेने लायक़ बात है, बस—अपनी सच्चरित्रता सिद्ध करनेकी चेष्टा करता है। इसपर अधीर होकर (अधीरा) नायिका कहती है:—

हे लाल! (रावरी यह कुचाल)—तुम्हारी यह कुचाल—बदचलनीकी कर्तूत—अपराध, — (निघर[1]घटौ दिये, दुरै न)—दुलखने—ढिठाईसे मुकर जानेसे—छिपती नहीं।

(खिसी[2]की हँसी, विषसी बुरी लागती है)—और तुम्हारी यह, खिसियानी हँसी विषकी तरह बुरी लगती है।

---

[1] निघरघट— "दुलखिबो" पूरब में 'घघौट' कहै हैं, तुम यह काम किए हौ? हम क्या ऐसा काम करैंगे। या तरह (मुकरना)। —हरिप्रकाश।
"ढिटाई"— प्रतापचन्द्रिका। लालचन्द्रिका)

[2] "खिसी"—खिसियाना होना—कुछ शरम कुछ गुस्से की हालत। जब आदमी किसी बातमें हार जाता या निरुत्तर हो जाता है, तब वह हँसकर अपनी हार की शरम को दूर करनेकी चेष्टा किया करता है—इस दोहेके धृष्ट नायककी भी यही दशा है।

"पूर्णोपमालंकार" है। जहां 'उपमान', 'उपमेय', 'वाचक' और 'धर्म', ये चारों मौजूद हों, वहां "पूर्णोपमा" होती है। यहाँ विष 'उपमान', हँसी—'उपमेय', 'सी'—उपमावाचक शब्द, 'बुरा-लगना'— उपमानोपमेयगत—'साधारण धर्म', ये सब हैं।

'अनवरचन्द्रिका'के अनुसार यहां "उत्प्रेक्षालङ्कार" है (!)

"प्रतापचन्द्रिका"के मतमें यहां— 'अर्थान्तरन्यास' है—जहां साधर्म्य या वैधर्म्यसे सामान्य, विशेष द्वारा, या विशेष, सामान्य द्वारा समर्थित हो, वह "अर्थान्तरन्यास" है, सो यहां "विष सी हँसी लगे है"—इस 'सामान्य' को कुचाल— 'विशेष'से समर्थन किया और वह उपमान (विष)का अंग है। अतः अङ्गाङ्गीभाव "सङ्कर" प्रतीत होता है।"
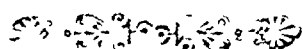
नायिका गान्धर्व विवाह-वर्णन

१४

स्वेद-सलिल रोमाञ्च-कुस गहि दुलहिन अरु नाथ।
दियौ हियौ संग नाथ के हाथ लिये ही हाथ॥

अर्थ—नायक नायिकाने अनुरागात्मक गान्धर्वविधिद्वारा प्रच्छन्नरूपसे एक दूसरेको आत्म-समर्पण करके वैध सम्बन्ध कर लिया है। विवाहविहित अन्य विधियोंका प्रकाशरूपसे पालन नहीं किया। इस बातको न जाननेवाली तथा नायिकाके स्वकीयात्वमें (विधिवत् पाणिगृहीता होनेमें) सन्देह करनेवाली बहिरंग सखीसे सकलरहस्याभिज्ञा अन्तरङ्ग सखी कहती है।

❀ "दिलको इस ग्राजजीसे देता हूं, कोई समझे सवाल करता है।"

अथवा—पाणिग्रहणसंस्कारके समय वरवधूके,प्रकट हुए सात्त्विक भावको देखकर सखी दूसरी सखीसे कहती है:—

(दुलहिन अरु नाथ)—दुलहन—नायिका और नाथ—नायकने—(स्वेदसलिल, रोमाञ्च कुस गहि)—सात्त्विकभावसे उत्पन्न पसीनारूप जल और रोमाञ्चरूप कुश हाथमे लेकर, (हाथ लिये ही)—हाथ पकड़े हुए ही (नाथके हाथ, संग हियो दियौ)— यहां 'नाथ' पद दुलही और नायक दोनोंका उपलक्षण है— एक दूसरेके हाथमे एक साथ ही हृदय (हृदय-रूप देय-द्रव्य)दे दिया !

जब किसी पदार्थका दान करते हैं, तो दाता हाथमें जल और कुश लेकर सङ्कल्प पढ़ता और उसे प्रतिग्रहीताके हाथपर छोड़ता है । पाणिग्रहणमे वरवधूके हाथ आपसमें मिलाकर बांध देनेकी भी रीति है, और विवाहमें वर, वधू का हाथ पकड़ता ही है, इसीलिये विवाहका दूसरा नाम "पाणिग्रहण" है ।

सो यहां नायक नायिका एक दूसरेके प्रति दोनों ही दाता और दोनों ही प्रतिग्रहीता हैं, 'सात्त्विक भाव'से उत्पन्न 'स्वेद' और 'रोमाञ्च' ही इस दान-विधिमे जल और कुश हैं । 'मन' ही देय द्रव्य है, जो हाथ पकड़े हुए (मुट्ठी बन्द किए) ही चुपचाप परस्पर एक दूसरेको दे दिया गया है !

सात्त्विक दान चुपचाप ही दिया जाता है, उसके लिये ढोल पीटने. पबलिकमे सुनाने और लोगोंको गवाह बनानेकी आवश्यकता नही होती ! 'गान्धर्व'-विधिका पाणिग्रहण तरुणावस्थामें और एकान्त-निर्जन-देशमें ही किया जाता है, इससे दानके अङ्गभूत 'देश' और 'काल' (यौवन काल और निर्जन देश) भी समझ लेने चाहियें ।

दोहेमें कविने नायिका-बोधक–'दुलहिन' शब्द 'विवाह-विधि'की सूचनाके लिये प्रयुक्त किया है, तथा उससे नायिकाका 'स्वकीया' और (प्रच्छन सम्बन्धसे पूर्व) कुमारी होना भी ध्वनित होता है। अर्थात् यद्यपि यह परस्पर आदान प्रदान, प्रच्छन्न-रूपसे एकान्त स्थानमें सम्पादित हुआ है, पर है धर्मानुकूल शास्त्रसम्मत सम्बन्ध ! आठ प्रकारके विवाहोंमें 'गान्धर्व विवाह'की भी गणना है। यथाः—

"ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥" (मनु)

कामशास्त्रियोंने इनमेंसे "गान्धर्व विवाह" को ही सबसे अधिक गौरव दिया है। यथाः—

"व्यूढाना हि विवाहानामनुरागः फलं यतः ।
मध्यमोऽपि हि सद्योगो गान्धर्वस्तेन पूजितः ॥"
"सुखत्वादबहुक्लेशादपि चावरणादिह ।
अनुरागात्मकत्वाच्च गान्धर्वः प्रवरो मतः ॥" (वात्स्यायन, कामसूत्र)

× × ×

इस दोहेके उत्तरार्ध—

"दियो हियौ सग नाथके हाथ दिये ही हाथ"—

मे बहुत पाठान्तर हैं। 'लालचन्द्रिका' और 'अनवरचन्द्रिका' में उपर्युक्त पाठ है। 'प्रतापचन्द्रिका'मे — 'हथलेवा ही हाथ" है। 'हरिप्रकाशमे' " · हाथके हथलेवा ही हाथ" और 'रसचन्द्रिका'मे " संग साथके हाथ छिपै ही हाथ" पाठ है। कृष्ण कविके यहां · "संग साथ कै हथलेवा ही हाथ" –है।

इनमे पहले पाठमे "नाथके"–का अर्थ 'बांधकर' 'बन्द करके', 'लपेटकर', 'हाथसे हाथ सांटकर'—इत्यादि किया जा सके तो ठीक हो। प्रायः सात्त्विक दानी किसी चीज़में लपेटकर

या मुट्ठी बन्द करके रुपये पैसे दिया भी करते हैं। और तरहसे 'नाथके'की खपत नहीं होती। क्योंकि मन केवल 'नाथके' ही हाथमे नहीं दिया गया, नाथने भी 'नाथा' (?) को दिया है! या 'नाथके' का अर्थ दोनोको ओर लगाया जाय—उसे दोनोंका—दुलहन दूल्हेका—उपलक्षण माना जाय—तो काम बने।

हरिप्रकाश सम्मत पाठमे यह अर्थ है कि—

हथलेवा—पाणिग्रहणकी विधिमे, हाथहीके संग—हाथ देनेके (हाथ—पकड़ानेके) साथ ही, परस्पर एक दूसरेने एक दूसरेके हाथमे मन दे दिया!

"लालचन्द्रिका"मे इस (उत्तरार्द्ध) का अर्थ इस पहेलीमे किया है—"दुलहिन और दूलहने दिया मन साथ स्वामीके हाथ लिये हुए ही हाथ!!" फिर कृपाकरके स्वयं ही इस पहेलीको इस तरह बुझाया है:—"सिद्धान्त यह कि दोनोंने हाथसे हाथ मिलते ही, एक साथ ही, हाथो हाथ मन दिया। ब्याहमे एक रीति है कि वर कन्याका हाथ मिलाकर बांधते हैं उसे 'हथलेवा' कहते हैं।"

सो मन मुट्ठीमे बांधकर एक दूसरेको दिया—

"दिल दे दिया है यार को मुट्ठी मे बन्द है"—!

इन सबसे सुगम पाठ "शृङ्गारसप्तशती" का प्रतीत होता है—

"दियौ हियौ सङ्कल्प करि हाथ जुरै ही हाथ।"

"सकल्पकरि"की कमी सी थी, (सङ्कल्पसामग्री—जल, कुश आदि तो शब्दोपात्त थे, पर 'संकल्प' अर्थगम्य था—उसको द्योतन करनेवाला शब्द दोहेमे नहीं था,) सो इस पाठसे वह कमी दूर हो जाती है! परमानन्द कविने इस का अनुवाद भी बहुत सुन्दर किया है। यथा—

"घर्म-जल रोमान्च-कुश-सहित कर निधाय।
करग्रह ददतुर्मनस्तकर्णौ परस्पराय † ॥"

कृष्ण कविने इस दोहेको सामान्य विवाह सम्बन्धमें—(सात्त्विकभाववर्णनपरक)—लगाया है, और लिखा है:—"यह विवाहसमय दोउनके अतिस्नेहके आधिक्य तें 'सात्त्विक भाव' भयो सो सखी सखी सो कहति है—" इसपर उनका सवैया भी सुनने योग्य है:—

"मण्डप मण्डल नीरज साधि के वेदविधान सो दान दियो है,
स्वेद भयो सोई नीर नयो उलहे फलकै‡ कुशपुञ्ज लियो है।
मैन–मुनीन्द्र प्रयोग पढ्यो रतिकेलि हिये अभिलाष कियो है,
दोउन ने अपनो अपनो यो हियो हथलेवाई हाथ दियो है॥"

कृष्णकविने, इस विधिमें वेदपाठो 'मैन–मुनीन्द्र' (कामदेव) को भो कर्मकर्ता (पुरोहित) बनाकर बिठा दिया! स्वर्गादि फलको प्राप्तिके लिये दान दिया जाता है, यहां दानका उद्देश्य—'रतिकेलि'-फलप्राप्ति—की इच्छा है, यह भो बता दिया। मानो सामान्यतया प्रस्तुत विवाहविधिको आत्मसमर्पण और प्रेमप्रकर्षके लिये अपर्य्याप्त समझकर प्रेमी और प्रेयसी—दुलहा दुलहनने 'काम' पुरोहितकी अध्यक्षतामें अपनी स्वतन्त्र विधि पृथक् प्रारम्भ कर रखो है!

पाणिग्रहणके समय वरवधूको 'स्वेद' और 'रोमाञ्च' रूप सात्त्विकभावके उद्गमका वर्णन कालिदासने भो, शिव पार्वतीके और अज इन्दुमतीके विवाहप्रकरणमें ('कुमारसम्भव' तथा 'रघुवंश'में) किया है। तद्यथा:——

† "परस्परस्मै" होना चाहिये। 'निधाय' के साथ काफिया (तुक) मिलानेको शायद 'परस्पराय' कर दिया है! ‡(फलकै=रोमांच)

"रोमोद्गम: प्रादुरभूदुमायाः, स्विन्नांगुलिः पुङ्गवकेतुरासीत् ॥"
(कु० स० ७-७७)

"आसीद्वर. कण्टकितप्रकोष्ठः, स्विन्नागुलि सववृते कुमारी ॥"
(रघु० ७।२२)

सात्त्विक भाव:—

१—"विकारा: **सत्त्वसम्भूता: "सात्त्विका:"** परिकीर्तिताः ॥"

"**सत्त्वं** नाम स्वात्मविश्रामप्रकाशकारी कश्चनान्तरो धर्म"—
(साहित्यदर्पण)

(स्वात्मनि एव विश्रामो यस्य स रसादि (**सत्त्वं**) तस्य प्रकाश उद्बोधस्तत्कारी) (साहित्यदर्पणटीका)

२—"**सत्त्वमत्र** जीवच्छरीर, तस्य धर्माः **सात्त्विका:** ॥"
(काव्यप्रकाश-टिपन्न्याम्)

३—"सीदत्यस्मिन् मन इति व्युत्पत्ते **सत्त्वगुणोत्कर्षा** त्साधुत्वाच्च प्राणात्मक वस्तु **सत्त्वम्** । तत्र भवा. **सात्त्विका:** ।"
(हेमचन्द्राचार्य, काव्यानुशासन)

सत्त्व कहते हैं जीवच्छरीर—जीवित (ज़िन्दा) शरीरको, उसके जो धर्म'—(वे गुण या चिह्न जिनसे जीवन-सत्ताकी प्रतीति हो-ज़िन्दगीका सबूत मिलता हो)-हैं, वे 'सात्त्विक' भाव कहलाते हैं !

अर्थात्—हर्ष शोकादिके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले मानसिक विकार-विशेषो (रोमाञ्च, अश्रु आदि) की साहित्य-परिभाषामें "सात्त्विक" संज्ञा है। और उनकी प्रतीति जीवन दशामें ही होती है । जिन "महानुभावो" के चित्तपर हर्ष शोकादिका प्रभाव नही पड़ता—हर्षके समय आनन्द और शोकके समय दु.खादिके सूचक चिह्न जिनके शरीरपर नहीं

देख पडते, वे वास्तवमें जीवित नहीं हैं। उनमें 'जीवन' शब्दका व्यवहार "गौण" है. वे 'जीवन्मृत' हैं या 'जीवन्मुक्त' हैं ! सहृदयो(ज़िन्दादिलों)की दृष्टिमें तो वे निर्जीव-मुर्दा-हैं ! उनके शरीर निरी 'लाश' हैं ! जो किसी अदृष्ट यंत्रके बलसे चलती फिरती, बोलती चालती मालूम होती हैं ! उनमें 'सोल' Soul नहीं है, सिर्फ़ 'लाइफ़ Life है ! किसी उर्दू कविने इसीलिये कहा है कि .—

"जिन्दगी जिन्दादिली का नाम है,
मुर्दा-दिल ख़ाक जिया करते हैं'।"

"सात्त्विक भावों" के आठ भेद इस प्रकार हैं। यथा—

"स्तम्भ स्वेदश्च रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मता ॥"

१—स्तम्भ—गतिनिरोध, हर्ष, लज्जा, भय, श्रम, इत्यादि किसी कारणसे अङ्गोंकी गतिके रुक जानेको (हाथ पांव फूल जानेको) 'स्तम्भ' कहते हैं।

२—स्वेद—उपर्य्युक्त किसी कारणसे शरीरमें पसीनेका आ जाना 'स्वेद' कहलाता है।

३—रोमाञ्च—हर्ष, शीत, भय आदि कारणसे शरीरपर रुवाँ (रोंगटा) खड़ा हो जाना 'रोमाञ्च' है।

४—स्वरभङ्ग—भय, क्रोध, हर्ष आदि कारणसे स्वर—(बोलनेकी टोन, आवाज़का लहज़ा) बदल जाना "स्वर-भङ्ग" बोला जाता है।

५—वेपथु—आलिङ्गन, हर्ष, भय आदि किसी कारणसे शरीर कांपने लगना 'वेपथु' (कंप) कहलाता है।

६—वैवर्ण्य—मोह, भय, शीत, धूप और श्रम, इत्यादि किसी कारणसे शरीरके रँग बदल जानेको 'वैवर्ण्य' कहते हैं।

७—अश्रु—शोक, हर्ष, क्रोध, आदिसे आंखोंमे पानी भर आनेको 'अश्रु' कहते हैं।

८—प्रलय—किसी विषयमे तन्मय होकर, तन मनकी सुध बुध भूल जानेको 'प्रलय' बोलते है। किसीके मतमें इनके अतिरिक्त

९—"जृम्भा"की गणना भी सात्त्विक भावोंमें है। कामविकार और आलस्य आदिके कारण जँभाई लेना, "जृम्भा" है।

इस दोहेमे "एकदेशविवर्ति-रूपकालङ्कार" है। रूपकका लक्षण —

"तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः।" (काव्यप्रकाश)

उपमान और उपमेयमे अभेदारोपको 'रूपक' कहते हैं। अर्थात् जहां उपमान और उपमेयमे अतिसाम्य दिखलानेके लिये अभेदकी कल्पना की जाय वह 'रूपक' कहलाता है। जैसे प्रकृतमें— "स्वेद-सलिल, रोमाञ्च-कुश,"मे स्वेद ही जल है, रोमाञ्च ही कुश है। यहां सात्त्विकभाव-जनित 'स्वेद' और 'रोमाञ्च' जो उपमेय हैं, उनमें जल और कुश (उपमान) का अभेद आरोप किया गया है। इसलिये रूपक है। और 'एकदेशविवर्त्ती' इस कारण है कि इसमे दान-विधिकी सामग्री—जल, कुश तो 'श्रौत'=(शब्दोपात्त) हैं, पर, देय-द्रव्य, 'दाता' और 'प्रतिग्रहीता'—ये सब 'आर्थ'=(अर्थगम्य) हैं। अर्थात्, सङ्कल्पसामग्री-निरूपणके सामर्थ्यसे, मनमें देय-द्रव्यता, नायक नायिकामे दातृता तथा प्रतिग्रहीतृताका आरोप कर लिया गया है। इसलिये 'काव्यप्रकाश'के इस लक्षणानुसारः—

"श्रौता आर्थाश्च ते यस्मिन्नेकदेशविवर्त्ति तत् ।"

जिस (रूपक)में कुछ आरोप्यमाण, शब्दोपात्त हों और कुछ अर्थसामर्थ्यसे गृहीत होते हों, वह 'एकदेशविवर्ति रूपकालङ्कार' है।

'प्रतापचन्द्रिका'के मतानुसार 'रूपक'के अतिरिक्त 'सहोक्ति' अलंकार भी यहाँ है। सो इस प्रकार :— "हथलेवा-के हाथ संग ही हियौ दियौ" यानें "सहोक्ति"। लक्षण —

"सो 'सहोक्ति' सब संग ही बरनन रस सरसाय।"
"कीरति अरिकुल संग ही जलनिधि पहुँचे जाय ॥" (भाषाभूषण)

———※———
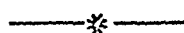
कुलवधू-वर्णन

१५

कहति न देवरकी कुबत कुलतिय कलह डराति।
पंजरगत मंजार ढिग सुकलौं सूकत जाति ॥

अर्थः— देवरकी दुष्टता और कुलवधूकी शिष्टताका वर्णन सखी सखीसे करती है—

(कुलतिय कलह डराति, देवरकी कुबत न कहति)— —कुलवधू, कलहसे डरती है, इस कारण दुष्ट देवरकी बुरी बात (किसीसे) नहीं कहती। (मंजार ढिग, पंजरगत, सुकलौं, सूकत जाति)= मार्जार—बिलाव—के पास पिंजरेमें बन्द तोतेकी तरह सूखती जाती है।

—"पूर्णोपमालङ्कार"— सन्निहित-मार्जार-त्रस्त पञ्जरगत शुक—उपमान। दुष्ट—देवर-दु:खिता कुलवधू—उपमेय। 'सूखना' साधारण धर्म। "लौं" वाचक।

ककारकी आवृत्तिसे "वृत्त्यनुप्रास" भी है।

रसचन्द्रिका, और 'लालचन्द्रिका'के मतमें "दृष्टान्ता-लंकार" है।

विशेष व्याख्या—

कोई दुष्ट देवर अपनी भौजाईपर आसक्त है, उसपर डोरे डालकर अपने जालमे फँसाना चाहता है, वह सती साध्वी है, उसके फन्देमे फँसना नही चाहती, उसके कुप्रस्तावोंकी उपेक्षा करती हुई, अपने व्रतको बचाए हुए है, पर वह अपनी कुचेष्टाओंसे बाज़ नही आता, जब मौक़ा पाता है उसे छेड़ता और दिक़ करता है, वह बेचारी उस दुष्टके हाथो बहुत तंग ह, वह 'कुलवधू' और समझ-दार है। देवरकी दुष्टताका हाल अपने पतिसे और साससे इस डरसे नहीं कहती कि भाई भाईमे लड़ाई और चर्चा फैलनेपर लोगहँसाई होगी। इसलिये सब कुछ अपनी जानपर झेलती हुई अपने 'धर्म' और 'कुल' दोनोकी समान रूपसे रक्षा कर रही है—इस लोक और परलोक दोनोंको बना रही है— एकके लिये दूसरेको बिगाड़ना नहीं चाहती! इस सती-शिरोमणि कुलरमणीका चरित सर्वथा प्रशंसनीय और अन्य आधुनिक कलयुगी वधुओंके लिये अनुकरणीय है।

यद्यपि साहित्य-दृष्टिसे इस दोहेका विषय सिर्फ़ "रसाभास" का वर्णन है, और प्रायः पहले सब टीकाकारोंने इसे इसी सा-धारण दृष्टिसे देखा है। पर बिहारीका यह "रसाभास" भी निरा नीरस नहीं है, इसमे भी "उपदेश रस" भरा हुआ है। यदि सूक्ष्म

दृष्टिसे देखा जाय तो इससे बहुमूल्य शिक्षा मिल सकती है। खास-कर आजकलकी "कुल-ललनाएं" जो कुटुम्ब-कलहकी साक्षात् अधिष्ठात्री देवी बनी हुई हैं, जिनके Night Schoolमें Curtain Lectures सुनकर —जिनकी रात्रि-पाठशालामें—

"भ्रातृणां सतत भेदः कथं नाम न जायताम् ।
अध्यापितानां पत्नीभिर्दिवा नक्तं निशि ॥"

—इस वचनके अनुसार, द्वेष-विद्याकी 'अनिवार्य्य शिक्षा' पाकर अभिन्न-हृदय भाई, एक दूसरेके लिये क़साईसे बदतर बन जाते हैं! जो ज़रा ज़रासी नाकुछ बातपर बिगड़कर घरको बिगाड़ बैठती हैं, भाइयोंको भड़काने और भिड़ानेके लिये रात दिन बहाने ढूंढा करती हैं, कोई बात हाथ आयी नहीं और उन्होंने बातका बतंगड़, सुईका फावड़ा और परका कौवा बनाकर भाई भाईमें लट्ठ चलवाकर एकघरके दो घर कराये नहीं! जिनकी 'कृपासे' भारतकी प्राचीन सम्मिलित कुटुम्बप्रथा आज नाममात्रको रह गयी है, जिन कर्कशाओंके विचित्र चरित्रका सुन्दर चित्र कवि-राज 'शङ्कर' महाराजने "अनुरागरत्न' के इस पद्यमें खींचा है:—

"सास मरे ससुरा पजरे इस बालरसे पलको न रहूँगी,
सौति जिठानी छटी ननदी अब एक कहेगी तो लाख कहूँगी ।
जेठ जलावाको मारूं पटा सुन देवरकी फबती न सहूँगी,
रे बस अन्त नहीं पिया 'शङ्कर' पीहरकी कछु गैल गहूँगी ॥"

ऐसी "कुल-देवियां" चाहे तो विहारीके इस दोहेसे अच्छी शिक्षा ग्रहण कर सकती है। अपने पवित्र चरित्रकी रक्षाके साथ कुटुम्ब-विनाशका कारण बननेसे भी बची रह सकती है।

सातवाहन-विरचित प्राकृत "गाथा-सप्तशती"में भी दो गाथाएँ इसी अभिप्रायकी हैं। यथा:—

(१)-"असरिसचित्ते दिअरे सुद्धमणा पिअअमे विसमसीले ।
ण कहइ कुडुम्बविहडणभएण तणुआअए सोह्णा ॥"
(असदृश-चित्ते देवरे शुद्धमना प्रियतमे विषमशीले ।
न कथयति कुटुम्बविघटनभयेन तनुकायते स्नुषा ॥१।५९॥')

× × ×

(२)-"दिअरस्स असुद्धमणस्स कुलवहू णिअअकुड्डलिहिआइ ।
दिअहं कहेइ रामाणुलग्गसोमित्तिचरिआइं ॥ * "
(देवरस्याशुद्धमनसः कुलवधूर्निजक-कुड्यलिखितानि ।
दिवस कथयति रामानुलग्नसौमित्रिचरितानि ॥१।३५॥)

× × ×

पहली (५९वीं) गाथा विहारीके दोहेसे बिलकुल मिलती-जुलती है। बल्कि इसी गाथाके कच्चे माल(कोरी कपास)को लेकर विहारीने यह बहुमूल्य वस्त्र प्रस्तुत किया है! इसी प्राकृत गाथाके स्वच्छ सूतके तागोंमें अपनी प्रतिभाका चमकीला रेशम मिलाकर "ताफ़ता" तयार किया है! गाथा सिर्फ़ सीधासादा रस-रहित उपदेश था, मानो बाजरे की एक सूखी रोटी थी, विहारीने उसमें मीठा, मलाई मिलाकर मज़ेदार मलीदा (चूरमा) बना दिया है! गाथामें कुछ चमत्कृति नहीं थी, विहारीने—

---

* दुष्टहृदय (दुश्चरित्र) देवरको सच्चरित्रताकी शिक्षा देनेके लिये कुल-वधू, दिनमें घरकी दीवारपर श्रीरामचन्द्र और सीताजीकी सेवा करनेवाले लक्ष्मणजीका चरित्र लिखकर समझाती है। कुटुम्ब-कलहके भयसे उसका साक्षात् तिरस्कार नहीं करती, इस प्रकार लक्ष्मण यतिका दृष्टान्त दिखा-कर दुष्ट देवरको सन्मार्गपर लाना चाहती है।

"पंजर-गत मंजार ढिग सुक लौं सूकत जाति"
—की बात पैदा करके उसे अतिशय चमत्कृत बना दिया! जो सोना मिट्टीमें सना था उसका 'कुन्दन' बनाकर सुन्दर आभूषण गढ़ दिया है। पहली गाथाका अर्थ है—

"देवर दुष्ट-चित्त है, उसकी नियत बिगड़ी हुई है। बहू सती है, उसका मन शुद्ध है। पति उसका उद्धत-स्वभाव (क्रोधी) है, वह इस डरसे देवरकी दुष्टताका हाल किसीसे नहीं कहती कि कुटुम्ब में फूट पड़ जायगी, भाई भाईमें चल जायगी, इसी सोच में दुबली होती जाती है।"

दोनों जगह भाव एक ही है। दोनों जगमें बहू सच्चरित्रा और देवर दुष्ट है। 'कलह' और 'कुटुम्बविघटन' के भयमें भी कुछ भेद नहीं है। "तनुकायते" और "सूकत जाति" का भी भाव एक है। पर विहारी ने बिलाव और पिंजरेमें बन्द तोतेकी उपमासे दोहेको गाथासे कहीं उत्कृष्ट और अनुपम बना दिया है। इसीका नाम प्रतिभा है। साधारण घटनाको चमत्कृतियुक्त नवीनता तथा एक निराले ढंगसे वर्णन कर जाना और सीधीसी बातमें भी एक बांकपन पैदा कर देना ही प्रतिभाका स्वरूप और कविका काम है। बिलाव और पिँजरेके तोतेकी उपमा. इस घटनाके कितनी अनुरूप है! देवरकी दुष्टता और बहूकी विवशता, इससे बढ़कर किसी अन्य 'उपमा' से प्रकट नहीं की जा सकती थी। तोता पिंजरे-के कारण बचा हुआ है सही, पर पासमें विद्यमान बिलाव-के झपटेका डर, उसे हर वक्त सता सताकर सुखा रहा है। दृढ पिंजरेपर बिलावका दांव नहीं चल सकता, पर झपटे-का डर ही उसे सुखानेको काफी है। क्रूर बिलावकी मनहूस सूरत देखकर ही बेचारे तोतेकी जान निकली जाती है।

इसीप्रकार वधू पातिव्रत धर्मके कवचके कारण बची हुई है सही, पर दुष्ट देवरके बलात्कारका भय उस अबला-को बेतरह सुखाए डालता है। बलात्कारका पंजा तन-पंजरपर पड़ा नहो और प्राण पखेरू उड़ा नहीं! इतनेपर भी धन्य है उस कुलवधूके मर्यादाशील साहसको, उसे अपनी जानपर खेल जाना मन्ज़ूर है, पर कुटुम्बकलहका कारण बनना मन्जूर नहीं—"त्यजेदेकं कुलस्यार्थे"—के अनुसार वह कुलके लिये एकको—अपनेको—त्यागनेपर –"आत्म-त्याग" करनेपर—उतारू है!

इस दोहेपर टीका करते हुए श्रीलल्लूलालजीने एक विचित्र 'प्रश्नोत्तर' दिया है, जो सुनने योग्य है। एक इसी जगह नहीं और भी कई जगह महाराजजीने ऐसी ही लीला दिखलायी है (यथा ४६ वें, तथा ७६ वे, दोहोंकी टीकाओमे)। डाक्टर ग्रियरसन द्वारा सम्पादित लालचन्द्रिकाके अन्तमें एक परशिष्ट जुड़ा है, जिसमे इनके ऐसे ही कल्पित अन्य कई अद्भुत अर्थोंकी संगतिके लिये श्रीपण्डित प्रतापनारायणजी मिश्र, पं० अम्बिकादत्तजी व्यास, पं० सरयूप्रसाद मिश्र, और बा० रामदीनसिंहजी कृत समाधान, संगृहीत हैं। बहुतसे दोहोको इनके (लल्लूलालजीके) शंका-समाधानने बिलकुल पहेली बना दिया है, अर्थान्तरकी धुनमें अनर्थ हो गया है। और भी किसी किसी टीकाकारने कहीं कही कुछ शंका-समाधान किया है, पर ऐसा विलक्षण नहीं। उदाहरणके लिये इस दोहेकी "लालचन्द्रिका" नीचे दी जाती है:——

"स्वकीयाऽऽसुरविवाहव-र्णन"

"टीका—सखीका वचन सखीसे। कहती नहीं देवरकी बुरी बात। ल्लखनी स्त्री कलहसे डरती है। पजर—(कहे पिंजरा) गत—(कहे गया)

मजार—(कहे बिलाव) ढिग—(कहे निकट) सुक—(कहे तोता) लौं—(कहे भांति) सूखती जाती है। सिद्धान्त यह। कि जस पिंजरेके पास बिलावके भयसे डरकर तोता सूखता है। तैसे दुबली होती जाती है।

प्रश्न—देवरका अनुराग धर्म-विरुद्ध होता है, और उसका वर्णन अनुचित है, और इससे रस भी नहीं।

उत्तर—जिठानीके वचन दौरानीसे। जिठानी कहे है कि तू मेरे देवरकी बात मुझसे क्यों नहीं कहती। दौरानी अपने स्वामीको छोटी देखि, बिलाव सम जिठानीसे नहीं कहती, इसलिये कि जो मैं इससे कहूंगी, तो यह अपने स्वामीसे कहेगी, और भाई भाईमें झगड़ा होगा। इस हेतु पिंजरेके तोतेकी भांति दुबली होती जाती है। दृष्टान्तालङ्कार स्पष्टहै"

'प्रश्नोत्तर' तो जो है सो है ही, पर दोहेकी चोटीपर जो हैडिंग धरा गया है, वह और भी 'अलौकिक' है! "स्वकीयाऽनु विवाह वर्णन !!"

—न मालूम किस धर्मशास्त्रके अनुसार इसका नाम "असुर-विवाह" है, और किस साहित्यग्रन्थमे भौजाई (भ्रातृजाया) की गणना "स्वकीया" मे है ! जितने साहित्यग्रन्थ प्रसिद्ध हैं उन सबमे "स्वकीया" के 'ज्येष्ठा' और 'कनिष्ठा' ये दो या मुग्धा, मध्यमा और प्रगल्भा, इस प्रकार तीन ही भेद वर्णित हैं। 'भाभी' या भ्रातृवधूको, जहां तक हमे मालूम है, किसीने "स्वकीया"मे नहीं गिना ! यदि 'स्वकीय' घरमे रहनेके कारण और 'स्व' शब्दके अर्थो—(आत्मत्व, आत्मीयत्व, ज्ञातित्व और धनत्व) मेंसे किसीके बलपर, अथवा "भ्राता स्वो मूर्त्तिरात्मनः" (भ्राता अपनी ही मूर्त्ति है—इसलिये उसकी चीज़ भी अपनी चीज है!) यह समझकर, भाभीको 'स्वकीया' की उपाधि दे दी जायगी, तबतो मामला और भी इससे आगे बढ़ सकता है ! साहित्य-परिभाषित नायिका-वाचक "स्वकीया"—शब्द योगरूढ है। इसलिये

नायकके घरकी सब स्त्रियां उसकी "स्वकीया" नहीं कहला सकतीं ! आश्चर्य है कि कवि परमानन्द जैसे साहित्यज्ञ और संस्कृतके विद्वान्ने भी इस दोहेकी व्याख्याके प्रारम्भमें—"पुनरपि स्वीयामाह"—न जाने कैसे और किस विचारसे लिख दिया है !

और, लल्लूलालजीकी यह शंकासमाधानकी पहेली हमारी समझमें तो आयी नही ! एक ओर तो आप उसे "स्वकीयाका आसुर विवाह" ठहरा रहे हैं, और दूसरी ओर उसका 'वर्णन अनुचित' बतला रहे हैं ! इसका वर्णन तो अनुचित नहीं है पर आपका भाभीको 'स्वकीया' कहना अनौचित्यकी पराकाष्ठा ज़रूर है !

रहा, 'धर्मविरुद्धता' की बात। सो सिर्फ़ देवर भौजाईका ही क्यो, परकीय और परकीयामात्रका अनुराग धर्मविरुद्ध है। काव्य कोई धर्मशास्त्र नही हैं कि उनके वर्णन, विधि-वाक्यकी दृष्टिसे देखे जायँ। कवि, संसारमें जो कुछ देखता है उसीका वर्णन करता है। "वर्णन अनुचित है" से यदि अभिप्राय यह है कि—

"रसाभास दूषन गिनौ अनुचित वर्णन माहि।"

तो इसका यह मतलब नहीं है कि काव्योंसे रसाभासके उदा-हरण ही उड़ा दिये जायँ, या उनका अर्थ बदलकर अनर्थ कर डाला जाय ! यदि अनुचित समझकर कवि लोग इसका वर्णन ही न करें तो फिर 'रसाभास'के उदाहरण क्या श्रुतियोंमे ढूंढे जाया करेंगे ! रसाभाससे बचनेका अभिप्राय यह है कि किसी काव्यगत वर्णनीय आदर्श नायकके प्रधान चरितमें रसाभासका समावेश न हो। यदि नायक ऐतिह्य है और उसका कोई चरितविशेष रसाभाससे दूषित है जिसका वर्णन करना किसी कारणसे कविके लिये आवश्यक हो—(जैसा 'महाभारतमें'

और उसके आधारपर रचित नाटकों आदिमें क्रोधान्ध अर्जुनका युधिष्ठिरको मारनेके लिये शस्त्र उठाना । या द्रौपदीका पांचों पाण्डवोंमें अनुराग)—तो ऐसी दशामें रसाभासका वर्णन अपरिहार्य है । अथवा किसी काव्यकी रचना ही इस उद्देश्यसे की जाय कि काव्यगत नायक या नायिकाके 'रसाभास'-पूरित दूषित चरितको पढ़कर लोग शिक्षा ग्रहण करें. वैसे प्रसङ्गोंसे बचे रहें, तो उस दशामें भी रसाभासवर्णन दूषण नहीं, किन्तु कविताका भूषण है । जैसे "क्षेमेन्द्र" की "समयमातृका" और "दामोदरगुप्त"के 'कुट्टनीमत' में रसाभासकी साक्षात्मूर्त्ति वाराङ्गनाओंके चरितोंका वर्णन किया गया है ।

"सतसई" किसी एक आदर्श नायकके चरितको लेकर नहीं बनायी गयी । यह कोषात्मक(फुटकर)काव्य है । हर क़िस्मकी तस्वीरोंका एक बड़ा 'ऐलबम' है ! हां,जहां जहां साक्षात् कृष्णचरित-की झलक है, वहाँ वहाँ 'रसाभास' पास नहीं फटकने पाया, और जहां बीचमें ऐरा ग़ैरा अन्य सांसारिक लोगोंकी किसी करतूत या चेष्टाका वर्णन है, वह वर्णनवैचित्रीके साथ जैसी है वैसी ही है ।

कोई चित्रकार यदि किसी कुरूप व्यक्तिका सुरूप चित्र बनाकर दिखलावे तो वह चित्रकार नहीं, ठग है । चित्रकारकी निपुणता इसीमें है कि जो जैसी व्यक्ति है उसका वैसा ही चित्र उतार दे, स्याहको सफ़ेद कर दिखाना चित्रकारी नहीं है । इसी प्रकार कविका कर्त्तव्य यही है कि वस्तुस्थितिका यथार्थ वर्णन कर दे । जब किसी धर्मात्माका वर्णन करे तो साक्षात् उसके स्वरूपका दर्शन करा दे और जब पापीका वर्णन करने लगे तो उसकी भी मूर्ति सामने लाकर खड़ी कर दे ।

जब संसारमे सब देवर 'लक्ष्मणयति' नहीं हैं । 'दुष्ट देवर' भी मौजूद हैं । और ऐसी घटनाओंकी भी कमी नहीं है । तो उसका

वर्णन करना कौनसा पाप है ! और इसकी क्या जरूरत है कि ऐसे वर्णनको खींच तानकर 'मानव धर्मसूत्र'का स्वरूप देनेकी चेष्टा की जाय ! और फिर धर्म्मशास्त्रोंमे भी तो सब बातें विधिरूपसे वर्णित नहीं होती। भगवान् मनुने 'आसुर' और 'पैशाच' विवाहका भी वर्णन किया है। पर इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि ऐसे विवाह अवश्य-कर्त्तव्य हैं। या किसी श्रोत्रियके लिये भी विहित हैं! किन्तु संसारमे भले बुरे विवाहके मुख्यतया जितने प्रकार हो सकते हैं, या उस समय प्रचलित थे, वे गिना दिये हैं।

फिर विहारीके इस-'रसाभास' वर्णनमें कोई ऐसा विषैला साँप नही छिपा बैठा, जिससे बचनेके लिये सीधा और साफ़ रास्ता छोड़कर इधर उधर भटकने और चक्कर काटनेकी जरूरत हो. इससे तो उलटी एक उत्तम शिक्षा मिलती है, जैसा कि ऊपर (विशेष व्याख्यामे) दिखलाया जा चुका है!

और लल्लूलालजीका उत्तर भी देखिये क्या बढ़िया है, उससे दोहा बिलकुल पहेली बन गया है या नही।

लल्लूलालजीकी पहेली

न मालूम, दौरानी अपने पतिकी कौनसी बात जिठानीसे छिपाती है और इसलिये कहती डरती है कि "जो मै इससे कहूंगी तो यह अपने स्वामीसे कहेगी और भाई भाईमें झगड़ा होगा।"—

—शायद 'दौरानी' के पतिने भाईकी चोरा चोरी 'कोरचा' करके कुछ रकम जमा करके कही छिपा दी है, जिसका सुराग बड़े भाईकी बहूको किसी तरह लग गया है और वह अपनी दौरानीसे इसी बातका भेद पूछना चाहती है कि —"वे 'कोरचे'के रुपये मेरे 'देवर' (तेरे पति) ने कहां गाड़ रक्खे हैं?" दौरानी

उक्त दोहेपर अन्य टीकाओंका अर्थान्तर—

“—किंवा (पूर्वोक्त स्वरसार्थके अतिरिक्त) जेठानी पूछति है देवरानी सों, तू हमारे देवरकी कुबात कहति है नहीं क्यों, तो सों रूठ्यो है, कै अवरि (अन्य—और किसी) सों आसक्त है, किंवा—उन सों भई कलह ताकों क्यों न कहे डराति है कहति कै। आगे वही अर्थ, उपमालङ्कार। (हरि-प्रकाश)

“ · और (अन्य) अर्थ,—‘जिठानीके वचन सखी सों। अन्यासक्त मेरो देवर है, सो मेरी द्यौरानी कुलतिय है कुबति नाहीं कहति।” पै (पर) यह अर्थ रसाभासको प्रकरण बिगारै है, अरु धर्मविरोधको तो दूरि करै है।”

—(प्रतापचन्द्रिका)

“अपने देवरकी ‘कुमति’ बात कहत, कुलतिय है, सो कलहसे डरै है, सो दिन दिन सूखती जाइ है जैसे सुवा पिंजराके ढिग बिल्लैया कों देखे सूखै है॥ और याके अर्थ फेरनेमें बखेड़ा है॥ अलङ्कार दृष्टान्त, तिसका लक्षण“—जो दृष्टान्त दे के कहिए”, इहां कुलतियके सूखने कों दृष्टान्त सुवाके सूखनेको दियौ॥” (रसचन्द्रिका)

(रसचन्द्रिकामें “कुबत”की जगह—‘कुमति’ पाठ है)

“ह्यां रसाभास, उपमालङ्कार।” (अनवरचन्द्रिका)

“विलाव सम” जिठानीसे नहीं कहती। क्योंकि उसका पति क्रोधी है —सचमुच वेचारीकी आफत है, जिठानी ‘विलावसम’ और पति (‘कुत्ता सम’?) क्रोधी ! दोनों तरह मुशकिल है—“गोयद् मुशकिल, व गर न गोयद् मुशकिल” ! वतलावे तो यह डर कि “जिठानी अपने स्वामीसे कहेगी और भाई भाईमें झगड़ा होगा” ! और न वतलावे तो पति क्रोधी है, वह शायद इस अपराधमें दण्ड दे कि तूने वतला क्यों नहीं दिया ! सचको क्यों छिपाया! मैंने चोरी की,तो की, तूने तो सच न छिपाया होता !

प्रश्न—"देवरको अनुराग यह धर्म-विरोध विचारि ।
वर्नन अनुचितसों लगत रसवरत्व न विचारि ॥
उत्तर—वचन जिठानी के कहति धौरानीकी वात ।
मो देवरकी कुवत यह कहत सु हियौ डरात ॥
निजपति कौ वह कलह मौ जानि मजार समान ।
मुकलौ सूकति रोसकी प्रकृति लखत दिनमान ॥
दृष्टान्तालंकार-'मुकलो' कहिबे मे नर मारेकी एकही सजा है ।" (अमरचन्द्रिका)

शरीरका अर्द्धाङ्ग पाप-रोगसे नष्ट हो गया तो खैर, आधा तो बचा रहे, दोनोंमेंसे एक तो परमात्माको मुंह दिखानेके काबिल बना रहे ।। आखिर दुनिया क्या कहेगी, कि पतिने रुपया छिपाया तो स्त्रीने सच छिपाया, दोनो ही एकसे निकले ।।

यदि वास्तवमें इस दोहेका यही अर्थ है तो इसका हैडिंग 'स्वकीयाऽसुरविवाह-वर्णन' न होकर—"छोटे भाईका कोरचा वर्णन और जिठानीका धौरानीसे पूछना वर्णन"—होना चाहिये था !

—और यदि वही हैडिंग रखना मसलहत हो तो फिर यों अर्थ करना पड़ेगा कि:—

"छोटा भाई आसुर विवाह करके कहींसे अपनी इस स्त्रीको उड़ा लाया है और सर्वसाधारणमें अपने विवाहको 'ब्राह्म' बतला रक्खा है,इसलिये यह (जिठानी)आसुरविधि-विवाहिता(या उड़ायिता।)अपनी धौरानीसे उसका सच सच हाल पूछती है और वह इस भयसे छिपाती है कि, "जो मैं इससे कहूंगी तो यह अपने स्वामीसे कहेगी" मालूम होनेपर बड़ा भाई छोटे भाईको बिरादरीसे बाहर कर देगा और बहिष्कृत क्रोधी पति इसकी कसर मुझपर निकालेगा, इस बिलावसीका क्या बिगड़ेगा ।।!

किसी और तरहसे लल्लूलालजीकी यह उत्तररूप 'पहेली' बुझाई जा सके तो विज्ञ पाठक भी अपना दिमाग़ लड़ा देखें !

अमरचन्द्रिकाके इसी प्रश्नोत्तरका भाव हरिकविने अपने अर्थान्तरमें प्रकारान्तरसे लिखा है। और लल्लूलालजी मालूम होता है इससे ही गड़बड़ा गये हैं—इसे स्पष्ट करके नहीं लिख सके हैं।

१६
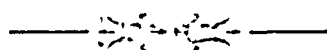
पार्‌यौ सोरु सुहाग कौ इन बिन ही पिय नेह।
उनदौंहीं अँखियां ककै कै अलसौंहीं देह॥

अर्थ—सपत्नीकी सखीसे नायिकाकी सखीका वचन—(इन बिन हो पिय नेह, सुहागको सार पार्‌यो)—इसने विना ही प्रियके स्नेहके सुहागका शोर मचा रक्खा है। [अंखियां उनदौंही ककै, देह अलसौंहो कै]—आँखें उनींदी— रात्रि जागरणके कारण जिनमे नींद भरी है—कर करके, और देह आलस भरी बनाकर।

अभिप्राय यह कि सखीके सुहागको किसी सौतकी नजर न लग जाय। या वे डाहसे जलकर उसपर कोई अभिचार-क्रिया न करने लगें, इसलिये सौतकी सखीसे सौभाग्यवती नायिकाकी सखी कहती है कि इसने [मेरी सखीने] झूठमूठ ही अपनेको सौभाग्यवती—पतिकी विशेष प्रेमपात्र, (जिसे पति चाहे वही सुहागन!)— प्रसिद्ध कर रखा है, इसकी नीद भरी अँखियो और अलसानी देहसे यह न समझना चाहिये कि यह दशा सौभाग्य-सूचक प्रियसम्भोगजन्य रात्रिजागरणके कारणसे है, किन्तु यह वैसे ही अपने सुहागकी शोहरतके लिये यह बनावटी हालत बनाए रहती है!

अथवा— सखी नायिकाके सुहागको इस बहानेसे और शोहरत देना चाहती है, प्रकटमे तो कहती है कि यह नायककी प्रेमपात्र नही है। पर ऐसा कहना सुहागकी प्रसिद्धिका दूसरा ढंग है। जैसे किसी प्रसिद्ध धनाढ्यका मुनीब कहे कि— "अजी हमारे सेठके यहां इतना ख़ज़ाना कहाँ है! वैसे ही शोहरत उड़ा रक्खी है"— तो यह भी शोहरतको तरक़्क़ी देनेका एक दूसरा तरीक़ा या ढंग है।

किसी छलसे या दूसरे ढंगसे इस प्रकार काम निकालनेके वर्णनका नाम 'पर्यायोक्ति' अलंकार है। सो यहाँ दोनो दशाओमें 'पर्य्यायोक्ति' है। यदि कहनेवालीका पहला अभिप्राय है ता सखीको सौतोकी बदनज़रसे बचाना उसका इष्ट है,जिसे इसप्रकार –सुहागकी बातको झूठ बतलाकर–सिद्ध करना चाहती है। यदि दूसरा मतलब है, तो सखीके सुहागकी सुप्रसिद्धि इष्ट है, जिसे इस ढग से सिद्ध करना चाहती है।

अथवा— यदि इसे सपत्नीकी सखीका वचन मानें, तो 'अमर्ष सञ्चारी' भाव व्यङ्गय है। कहनेवालीका अभिप्राय यह है कि नायककी प्रेमपात्र तो मेरी सखी है, इसे तो वह पूछता भी नही, इसने वैसे ही सौभाग्यके कृत्रिम चिह्न प्रकट करके झूठ मूठ ही अपने सुहागका ढोल पीट रक्खा है! इस अर्थमें 'विभावनालंकार' है।—

"विभावना विनापि स्यात् कारण कार्यजन्म चेत्।"

—अर्थात् जहां विना कारणके ही कार्योत्पत्ति दीखे वह 'विभावना' है। जैसे यहाँ, प्रियस्नेह, सौभाग्यका कारण है, उसके विना ही सुहागका शोर जो 'कार्य' है, नायिकाने प्रकट कर रक्खा है।

हरकविके कथनानुसार इस दोहेमें "सन्देहसंकर" अलंकार भी है—

"नीरक्षीरन्यायेनास्फुटभेदालंकारमेलनं संकरः ।"

(अलङ्कारसर्वस्व)

—जहां अलंकार, दूध पानीके मेलकी तरह आपसमें इस प्रकार मिले रहें कि उनके भेदकी स्फुट प्रतीति न हो, वहां "संकर" होता है। जैसे यहां 'विभावना' और 'पर्यायोक्ति' इस प्रकार मिले हुए हैं कि वे पृथक् प्रतीत नहीं होते, सन्देह है कि यह सपत्नीकी सखीकी उक्ति है या नायिकाकी सखीकी? यदि पहली बात है तो "विभावना" है। दूसरा है, तो 'पर्यायोक्ति' है। 'विभावना' और 'पर्यायोक्ति' दूधपानीकी तरह मिले हुए हैं। अतः 'सन्देह-संकर' है। 'सोर सुहाग' में 'छेकानुप्रास' भी है।

इसी भावकी एक 'आर्या' 'आर्यासप्तशती'मे भी है—

" स्वाधीनैरधरव्रण-नखाङ्क-पत्रावलोप-दिनशयनैः ।

सुभगा सुभगेत्यनया सखि ! निखिला मुखरिता पल्ली ॥" ६१३॥

❀ ❀ ❀

सपत्नी-द्वेषदुःखिता नायिकासे सखी कहती है कि—"सखी ! सुनती है ! तेरी इस सपत्नीने अपने आप अपने शरीरमें अधरव्रण, नखक्षत, पत्रावली-मार्जन इत्यादि रति-चिह्न बना बनाकर और दिनमें सो सोकर—(मानो रात-भर रतिकेलिमें जगी है !)— सारे गांवमे अपने सुहागकी योंही धूम मचा रक्खी है !" वास्तवमे यह पतिप्रिया और सौभाग्यवती नहीं है, अपने सौभाग्यका सिक्का बैठानेके लिये इसने यह माया रची है, गांवको इसके छल छिद्रकी क्या ख़बर, उसने भी वैसे ही इसे "सुभगा सुभगा" कहना शुरू कर दिया ! इसलिये तुझे इससे ईर्ष्या और पतिसे मान न

करना चाहिये। अथवा—यह आर्या नायिकाकी सखीकी उक्ति 'पर्यायोक्ति' भी हो सकती है।

मुग्धा-वयःसन्धि-वर्णन

१७

छुटो न सिसुताकी झलक झलक्यौ जोबन अंग।
दीपति देह दुहून मिलि दिपति ताफता रंग॥

अर्थः— नायकसे सखीका वचन—

(सिसुता की झलक न छुटी, जोबन अंग झलक्यौ) —लड़कपनकी झलक नहीं छुटी— लड़कपन जा चुका है, पर पूरी तरहसे नही गया, उसकी झलक अभी बाक़ी है—और यौवन (जवानी) अङ्गमें झलकने लगा है—अभी सिर्फ़ झलका है अच्छी तरह आया नही है— (दुहून मिलि, देह दीपति, ताफता रंग दिपति) —दोनोंके—लड़कपन और जवानी-के—मेलसे—वयःसन्धिके संयोगसे—चमकते हुए ताफ़ते*के रंगकी तरह देहकी दीप्ति—कान्ति—दिप रही है, चमक रही है— सुशोभित हो रही है।

---

* ताफता— एक रेशमी कपड़ा है, जिसका ताना एक रग और बाना एक रग। उसमें दोनों रगकी झलक मारती है, उसे 'धूपछाँह' भी कहते है।" (लालचन्द्रिका) —"दोइ रग सो मिलिकै 'ताफता' रेसमी कपरा (डा) होत है कोई वाको "देवांग" कहै हैं।" (हरिप्रकाश) —"ताफ्ता, ता (र गरभ सूती कपरा है। सूतको और रेसमको मिलकर चमक अच्छी होती है।" (रसचन्द्रिका)—

'वय:सन्धि'का इससे सुन्दर वर्णन अन्यत्र कम मिलेगा। 'ताफ़ते'के रंगकी चमकने लड़कपन और जवानीके मेलको चमका दिया है! बड़ी अनुरूप उपमा है! धूपछाँह (ताफ़ते) के ताने बानेकी अलग अलग निराली शानकी चमक दमकमें और लड़कपन-मिली जवानीकी झलकमें, हृदयाकर्षक सादृश्य है। 'ताफ़ते'के 'धूपछाँह' नाम और सूती और रेशमी मिलावट-के—ताने बानेके—काम पर दृष्टि डालकर इस उपमाकी ओर देखा जाय तो एक और भी सौन्दर्यमिश्रित सूक्ष्म सादृश्यकी झलक आँखोंमें फिर जाती है! "धूपछाँह"मेंकी 'छाँह' तो सीधी सादी शिशुता—भोला भाला लड़कपन—है, जिसमे छायाके समान शान्ति है, 'शिशुता' कामादि-सन्ताप-के वेगसे रहित है। 'धूप' जवानीकी चमक है, जिसमें कुछ उष्णता (हरारत) भी मिली है!

—वय:सन्धिके ताफ़तेमे 'सूती' भाग—लड़कपनकी सादगी है। रेशमकी चमक, जवानीकी झलक है!

"वाचकलुप्तोपमा" अलङ्कार है:—

—'देह' उपमेय है, 'ताफता' उपमान है। 'दिपना' (चमकना) साधारण धर्म है। उपमावाचक शब्द—"ऐसे, जैसे" इत्यादि लुप्त है—नहीं है। दकारकी आवृत्तिसे 'वृत्त्यनुप्रास' भी है।

"अनवरचन्द्रिका"मे "दिपति ताफता रंग"की जगह, "मनहु ताफता रंग" पाठ है। इसलिये उसके मतमें 'उत्प्रेक्षा' है। 'रसचन्द्रिका'में भी "... मनहु ..." पाठ है। पर उसके यहां अलङ्कार फिर भी 'उपमा' ही है (!)

१८

तिय-तिथि तरनि-किसोरवय पुन्य काल सम दौन।
काहू पुन्यनि पाइयत वैस - सन्धि - संक्रौन ॥

अर्थ—नायकसे सखीका वचन। (तिय-तिथि)—नायिका तिथिरूप है। (तरनि-किसोर वय)—किशोरावस्था तरणि=सूर्य्य है। (पुन्य काल सम दौन)—दोनों—(जाने और आनेवाली) अवस्थाओं—शिशुता और जवानी—का संयोग—वय:सन्धि—पुण्यकालके समान हैं! (काहू पुन्यनि)—किन्ही बड़े पुण्योंसे (वैससन्धि-संक्रौन पाइयत)—वय:सन्धिरूप सक्रान्ति मिलतो है। कोई बड़भागी पुरुष बड़े पुण्यों करके इसे पाता है।

सखी नायिकाकी वय:सन्धिको"सक्रान्ति"का रूपक देकर नायकको उससे मिलाना चाहती है। 'संक्रान्ति' किसो तिथिमे होती है सो नायिका ही वह 'तिथि' है। जब सूर्य एक राशिको छोडकर दूसरी राशिमे जाता है तब संक्रान्ति होती है। सूर्य्यके-संक्रमण कालको— उस अन्तरको जो सूर्यको एक राशिसे दूसरी राशि तक जानेमे लगता है, "संक्रान्ति" कहते हैं। सो यहाँ किशोर वय—वाल्य और तारुण्यकी सन्धि—ही सूर्य है। वह वाल्यावस्थारूप एक राशिको छोड़कर तारुण्यावस्थारूप दूसरा राशिमे संक्रम (प्रवेश) कर रहा है, यह वय:सन्धि ही यहां संक्रान्ति है।

संक्रान्तिका समय वडा माहात्म्यपूर्ण और पुण्यप्राप्य माना गया है, और वह वहुत थोड़ी देर रहता है, इस कारण सर्वसाधारणके लिये उसका पाना वहुत दुर्लभ है। कोई चतुर सुजान ही अपने सुकर्मोंसे इसे पाता है।

—यहां "समस्त वस्तु-विषय सावयव रूपक" अलंकार है ।

"समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा ।" (काव्यप्रकाश)

—जिसमें उपमेय—'आरोपविषय'के समान ही उपमान—'आरोप्यमाण'—सब शब्दोपात्त हों(कोई अर्थ गम्य न हो)वह समस्त-वस्तुविषय है । "समस्तं वस्तु—आरोप्यमाणं, विषय:—शब्दप्रतिपाद्यो यत्र"। प्रधान—(अङ्गी)—के साथ उससे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य अङ्गोंका भी जहां निरूपण हो वह 'सावयव रूपक' कहाता है ।

—सो यहाँ आरोपविषय—उपमेय, (किशोरवय,तिय आदि) और आरोप्यमाण—उपमान—(तरणि, तिथि आदि) सब शब्द निर्दिष्ट हैं । किशोरवय-'अङ्गी' है, संक्रमण' उसका 'अङ्ग'—(आरोपका कारण)है† ।

इस रूपकमे 'संक्रान्ति'के साथ 'वय:सन्धि'की पूरी संगति मिलानेके लिये प्राय: सब टीकाकारोंने भिन्न भिन्न

---

† वय:सन्धिनिरूपण-परक एक यह संस्कृत पद्य भी "समस्तवस्तुविषय सावयव रूपक"का अत्युत्कृष्ट उदाहरण है । यथा:——

"उदयति तरुणिम-तरणौ शैशव-शशिनि प्रशान्तिमायाते ।

कुच-चक्रवाकयुगल तरुणि-[णी]-तटिन्यां मिथो मिलति ॥"

अर्थ—"शैशव-(लड़कपन) रूप चन्द्रमा के छिप जानेपर और तारुण्य-(जवानी) रूप सूर्यके उदय होनेपर, तरुणी-[युवति]-नदीपर कुचरूप चकवी चकवेका जोड़ा, आपसमें मिल रहा है ।"

यहां, १-तरुणिमा, २-शैशव, ३-कुच, ४-तरुणी—इन उपमेयोंके समान ही ये सब उपमान— १-तरणि, २-शशी, ३-चक्रवाक और ४-तटिनी भी शब्द-निर्दिष्ट हैं । 'कुच' 'अङ्गी' है । 'मिथोमिलन 'अङ्ग' है ।

प्रकारकी व्याख्याएँ की हैं। उनका संक्षिप्त भाव यह है:—

"यहाँ सूर्य तो किशोर वय है पर केवल एक उसीसे सक्रान्तिकी ममता नहीं बनती, क्योकि जब सूर्य दो राशियोका स्पर्श करता है, तब सक्रान्ति होती है। किशोर-वय रूप सूर्य्यके इधर उधर दो राशियोंकी स्थानापन्न दो अवस्थाऐं और होनी चाहियें, सो यहा शिशुता और यौवनावस्थारूप दो राशियोके मध्यमें किशोरवयोरूप सूर्य्य स्थित है। ऐसा समझना चाहिये।" —यह 'अमरचन्द्रिका'के प्रश्नोत्तरोका सार है।

'लालचन्द्रिका'में, "तरुण अवस्थाको सूरज" ठहराकर उसे बाल्यावस्थारूप राशिसे मिलाया है, और फिर स्वयं ही आगे चलकर —"इन दोनों अवस्थाओकी सन्धि (उसके बीचमें जो चमक हुई) उस सूरज कह वर्णन किया।"— ऐसा लिखा है! लल्लूलालजीकी यह संगति मूलके विरुद्ध है। क्योंकि मूलमें स्पष्ट "तरनि—किशोरवय।" है अर्थात् किशोरावस्था सूर्य्य है! तरुणावस्था (सूर्य्य) नहीं।

'रसचन्द्रिका'मे इस गड़बड़से बचनेके लिये दोहेके पूर्वार्द्धका पाठ ही बदल दिया है।——

—"तिय-तिथि तरुन-किसोरवय पुन्य काल सम दौन।"

'तरनि' (सूर्य)का 'तरुन' (तारुण्य) पाठ करके यह व्याख्या की है कि—"तारुण्य और किशोरकी जो समता है वही पुण्यकाल है, और यह जो इन दोनों अवस्थाओंकी सन्धि है वही सक्रौन—सक्रान्ति है। जो दो वयस मिलें तो सन्धि (वयःसन्धि) होती है, सो विहारीने जो शिशुताकी सन्धि न ली सो इसवास्ते कि शिशुतामे यौवन नही आता, न उस (शिशुता)में तेज ही होता है जो किशोरकी उपमा दी जा सके (?) किशोर और यौवन दोनों जगह तेज है, इसमें किशोर तरुणकी और सक्रान्तिकी उपमा दी है।"—

—"और शिशुतामें तथा तरुण, किशोर अवस्थाकी सक्रान्तिकी सन्धि

ठहरावें तो नहीं हो सकती, क्योंकि किशोरवय ११—से १४ वर्ष तक तीन वर्ष रहती है, और सक्रान्तिका समय इतना सूक्ष्म है कि पाना दुर्लभ है"— (रसचन्द्रिका)

—परन्तु यह कल्पना 'समस्त वस्तु विषय'—रूपकका रूप विगाड़ती है। 'तरणि'को जगह 'तरुण' (तारुण्य) पाठ रक्खा जाय तो "तरणि"—(सूर्य) 'अर्थगम्य' हो जायगा, 'शब्दोपात्त' न रहेगा, इसलिये 'समस्त-वस्तु-विषय' रूपक भी न रहेगा 'एकदेशवर्ति' हो जायगा, जो सब टीकाकारोंके मतके विरुद्ध होगा। सबने (स्वयं रसचन्द्रिकाने भी) यहां 'समस्त-वस्तु-विषय' रूपक माना है। इसके अतिरिक्त "किशोरावस्था ३ वर्ष तक रहती है इसलिये 'बाल्यावस्था'से तरुणताकी सन्धिको संक्रान्तिका रूपक नहीं दे सकते, क्योंकि दोनोंके बीचमें ३ वर्ष रहने वाली किशोरावस्थाका अन्तर है" —यह शङ्का भी व्यर्थ ही है। क्योंकि कविने स्वयं इससे पहिले १७वें दोहेमे 'शिशुता'की बांह सीधे 'जोवन'को पकडायी है मध्यस्थ (बिचौलिया) किशोरको नही पूछा! कविता कोई गणित-शास्त्र नही है, जिसमे उपमेय और उपमानके घंटे मिनट और सेकेंड तकका टोटल ठीक बराबर बैठे, तभी रूपक बने! कवि लोग वियोगके एक क्षणको कल्प बराबर, और संयोगकी एक रात्रिको क्षणसे भी बहुत कम, वर्णन करते हैं,* इसपर कोई गणितज्ञ स्लेट पेन्सिल लेकर इसका हिसाब जोड़ने बैठ जाय तो बडा फ़र्क निकले! गणितके हिसाबसे कवि अपने कथनको किसी प्रकार भी सिद्ध नही कर सकता,

* एक उर्दू कविने १६-वर्षसे ३०-वर्षतक रहनेवाले "शबाब" (यौवन) को कैसा दृष्टनष्ट बतलाया है :—

"न जाने बर्क़की चश्मक थी या शररकी लपक।
जरा जो आँख झपक कर खुली शबाब न था!!"

बर्क़की चश्मक—बिजलीकी कौंद। शररकी लपक—चिनगारीकी चमक।

वह इस सवालमें साफ़ फ़ेल हो सकता है। परन्तु भुक्त-भोगी सहृदय समाज जानता है कि कवि जो कुछ कहता है, 'एक हिसाबसे' बिलकुल ठीक कहता है। उसे इसमें अधिक नहीं तो पूरे नंबर ज़रूर मिलने चाहियें! कुछ इनाम भी दे दिया जाय तो परीक्षककी क़द्रदानी है!

किसी अत्युत्कृष्ट दुर्लभ पदार्थकी प्राप्तिके लिये जब किसीको उत्तेजित किया जाता है तो यही कहा जाता है कि —"लेना है तो फ़ौरन ले लो, अभी मौक़ा है, फिर न मिलेगी"! (फिर चाहे वह चीज़ 'तीन बरस' नहीं 'छे बरस' तक वैसेही धरी रहे!) किसीने क्या ख़ूब कहा है:—

" लेनी है जिन्स-दिल तो जालिम! तू आज ले चुक।
पड़ जायगा वगरना फिर इसका कलको तोड़ा।"

हरि कविने, दूसरी तरह संगति मिलायी है और अच्छी मिलायी है। यथा:—

"बारह महीने के बारह सूर्य्य हैं, माघमें अरुण नामक सूर्य्य तपता है, फाल्गुनमें 'सूर्य' नामक सूर्य तपता है और चैत्रमें 'वेदांग' सूर्य तपता है—इत्यादि। ऐसा 'आदित्य-हृदय' ग्रन्थमें लिखा है। सूर्यमण्डलमें कोई स्थानविशेष है, वहां मास पूर्ण होनेपर कोई सूर्य उठता है कोई बैठता है, इसीका नाम "संक्रमण" है वह अतिसूक्ष्म और पुण्यकाल है।"

—"तिथिमें संक्रान्ति होती है, सो नायिका 'तिथि' है, किशोर जो वय-सन्धि है वह तरणि—सूर्य है। सो 'शैशव' नामक सूर्य बैठता है और किशोरनामक

सूर्य उठता है (आता है)। यह अर्थ न करें तो आगे "वयस सन्धि" पद नहीं लगेगा,क्योंकि दो वयः क्रम हो तब सन्धि (वयः सन्धि) कहना बन सके।"

"पुन्य—काल समदोन"—का अर्थ —

—'दोन' दोनो अर्थात् एक अवस्था (शिशुता)का जाना, दूसरी (कैशोर) अवस्थाका आना, सूर्यके पुण्यकालके समान हैं, अनिगक्ष्य और प्रशस्त हैं। 'काहू पुन्यनि'—कोई बड़े पुण्यसे पाता है, वयसकी सन्धि और सक्रान्ति (वयः सन्धिरूप सक्रान्ति!)।"

इसके आगे हरि कविने 'पुण्य पुण्य'को पुनरुक्ति मानकर उससे बचनेके लिये अर्थान्तर कल्पना भी की है। यथा:—

"'पुण्य पुण्य'की पुनरुक्ति मिटानेको ऐसा अर्थ करना चाहिए—हे पुण्य! हे सुन्दर! (अनेकार्थ कोशमें पुन्य नाम सुन्दर, सुकृत और 'पावन'का है) 'काल सम दोन'-अर्थात् सक्रमणका काल और वय सन्धिका काल दोनों सम है। किंवा, हे पुन्य! यह जो वय सन्धिका काल है, उसे "सम दो न"—विदा मत दो–हाथसे मत जाने दो–!, "पुन्य पुन्य"में 'आवृत्ति दीपक' है, (पुन्य) पदकी आवृत्ति है, अर्थ भिन्न है।"　　　　(हरिप्रकाश)

इसी विषयपर सुरतिमिश्रकी-"वार्ता"———

'पुन्य काल' एक ही शब्दमें द्वै भाव कहे:—

" पुन्य काल सक्रमन तिय पुन्य उदै को काल।
जिहि की पिय कै लालसा तक्यौ करत दुति बाल ॥"

(अमरचन्द्रिका)

अकुरित-यौवना मुग्धा-वर्णन

१६

लाल ! अलौकिक लरकई लखि लखि सखी सिहांति।
आज कालिह में देखियत उर उकसौंहीं भांति॥

अर्थ— नायकसे सखीका वचन—

हे लाल ! (अलौकिक लरकई)—(उसका) लोकोत्तर-दुनियासे निराला, असाधारण-लड़कपन, (लखि लखि, सखी सिहाँति †)—देख देखकर सखियां प्रसन्न होती हैं। या परस्पर सराहती हैं—प्रशंसा करती हैं। (आजकाल्हिमें उर, उकसौंही भांति, देखियत)—आज कल (उसकी) छाती, उकसी हुईसी, उभरी हुईसी—उठी हुईसी—दीखती है !

इसकी और अधिक व्याख्या क्या की जाय ! वर्णनीय विषय (वस्तु) स्वयं अङ्कुरित है, कुछ कुछ ऊपरको उभरा हुआ है, जरा ध्यानसे देखनेपर साफ़ दीख जायगा !

---

† सिहाँति—बनारसके आस पासकी पूर्वीहिन्दीमें 'सिहाँना' ईर्ष्याके अर्थमें बोला जाता है. इसलिये कोई 'सिहाँति'का अर्थ ईर्ष्या करना—करते हैं। —कोई 'सिहाँति' को 'स्पृहयति' का अपभ्रंश मानकर इसका अर्थ-स्पृहा रम्य-करना कहते हैं।

परन्तु ब्रजभाषाके अहले-जबान 'सिहाँति'का ईर्ष्या अर्थ किसी प्रकार स्वीकार नहीं करते। यह शब्द अबतक ब्रजभाषा-भाषियोंमें प्रसन्न होनेके अर्थमेंही व्यवहृत है। लल्लूलालजी आदिने भी इसका यही अर्थ प्रसन्न होना किया है, और फिर इस दोहेमें प्रसङ्गानुसार भी 'ईर्ष्या' का अवकाश नहीं—सखी, सखीकी उठती जवानी देखकर प्रसन्न होंगी, खुशीसे फूलेंगी, या सपत्नीके समान ईर्ष्यासे जलेंगी !

"लोकोक्ति" अलङ्कार है। पूर्वार्द्ध में 'लकार' की आवृत्तिसे 'वृत्त्यनुप्रास' भी स्पष्ट है। अनवरचन्द्रिका, तथा प्रताप-चन्द्रिकाने यहां "उत्प्रेक्षालङ्कार" (?) माना है।

"लोकप्रवादानुकृतिर्लोकोक्तिरिति भण्यते।
सहस्व कतिचिन्मासान् मीलयित्वा विलोचने॥" (कुवलयानन्द)

जहां किसी लोकोक्ति(कहावत को पद्यमें जड़ दिया जाय, वह 'लोकोक्ति' अलङ्कार है। जैसे उक्त संस्कृत पद्यके उत्तरार्ध में "आंखें मीचकर दो एक महीने काटदो" यहां आंख मीचकर कहावत है। और प्रकृत दोहेमें 'आजकलमें' लोकोक्ति है।

नवयौवना मुग्धा-वर्णन

२०

अपने अंगके जानि कै जोवन-नृपति प्रवीन।
स्तन* मन नयन नितम्बको बड़ौ इजाफा कीन॥

अर्थ:— सखी 'नवयौवन-भूषिता' नायिकाकी प्रशंसा नायकसे करती है।

—(प्रवीन जोवन-नृपति)—परम चतुर यौवनरूप राजाने, (अपने अंगके जानि, कै†)—अपने पक्षके समझकर,

---

* कई पुस्तकोंमें 'स्तन'की जगह "तन" पाठ है। यथास्थित 'स्तन' शब्दके प्रयोगको कुछ लोग 'कर्णकटु' कहते हैं! उन्हे 'थन'में माधुर्य प्रतीत हो तो उसका उपयोग करे! प्राचीन प्राकृतमें (थण) स्तनमात्रके लिये और आजकल गाय, भैंस, बकरी आदिके स्तनमें (थन) व्यवहृत भी है। पर 'स्तन'के अर्थमें 'तन'का प्रयोग और वह भी 'मन'के साथ, सारे शरीरपर अधिकार कर लेता है!

† "कै" यहाँ पृथक् पद, उत्प्रेक्षावाचक "किधौं"का पर्य्याय है।

मानो (स्तन, मन, नयन, नितम्ब को, बड़ौ इजाफा, कीन)—कुच, मन, नेत्र और नितम्बका बहुत इजाफ़ा कर दिया, इन्हें बहुत तरक्की दे दी ! इनके पदकी, मर्यादासे अधिक वृद्धि कर दी—इन्हें हदसे बहुत आगे बढ़ा दिया !

जब कोई 'प्रवीण'—स्वपक्ष परपक्षको पहचानने वाला और गुणज्ञ—राजा अधिकारारूढ़ होता है, तो अपने तरफ़-दार और सहायक अधिकारियोंकी यथेष्ट पदवृद्धि करता है। उनमेंसे किसीको मन्त्री, किसीको दीवान, किसीको सेनापतिका पद देकर अपनी कृतज्ञता और गुणग्राहकताका परिचय देता है।

सो यहां यौवनरूप राजाने 'बाला'के 'अङ्गदेश'पर अधिकार पाकर मानो नेत्रादि अपने सहायकोंकी पदवृद्धि की है—साधारण वृद्धि नहीं, "बड़ा इजाफा" किया है— मर्यादासे अधिक उन्नतिका पद दिया है। स्तन—जो अबतक बेर, आँवलेके बराबर सकुचित दशा और गुमनामीकी हालतमें थे, वे अब 'मत्तेभकुम्भ' और 'कनकाचल' की समताको पहुंचेंगे। मन—जो अज्ञातदशामें हृदयकी छोटीसी कुटियाके कोनेमें बन्द दिन काट रहा था! अब नाना प्रकारकी इच्छाओं और विविध संकल्पोंके मैदानमें मनोरथके घोड़े दौड़ाता फिरेगा, उसका अधिकार इतना बढ़ जायगा कि एक क्षणके लिये उसे अवकाश न मिलेगा, मिनटभर निचला न बैठ सकेगा!

नयन तो यौवननृपतिका मुख्य अङ्ग है। सबसे पहले श्रीमान् महाराजाधिराज यौवनदेवके दर्शन इसी 'झरोखा दर्शन'के द्वारा होते हैं. वह तो यौवननृपतिका प्रधान सेनापति ठहरा! फिर

उसकी श्रीवृद्धिका क्या ठिकाना है ! निस्सीम अधिकार-वृद्धिके साथ लज्जा, चञ्चलता, कटाक्ष, इत्यादि अमोघ अस्त्र भी उसे इनाममें मिले हैं, जिनके सहारे वह एक दिन त्रिभुवनविजयीका पद पायगा !

रहा नितम्ब, सो यौवन-नृपतिका स्वर्णपीठासन (सोने-की चौरस चौकी) और मन्मथके रथको चलानेवाला "चक्र" वही तो होगा !

'नयन'के सम्बन्धमें 'इज़ाफ़े'—(वृद्धि)का अर्थ आकार-वृद्धि नहीं,—प्रत्युत यौवनके सम्पर्कसे उनमे सरसता, चञ्चलता,कटाक्षविक्षेप इत्यादि शोभावृद्धि समझना चाहिये। क्योंकि "जन्मके पीछे पहलेही वर्षमे आँखकी जो वृद्धि होनी होती है हो चुकती है। एक वर्षके बाद फिर आंख नही बढ़ती" ऐसा डाक्टर मानते हैं। नेत्र आकारमे 'कभी नहीं बढ़ते' ऐसा सुश्रुतमे लिखा है-

"दृष्टिश्च रोमकूपाश्च न वर्धन्ते कदाचन ।
ध्रुवाण्येतानि मर्त्यानामिति धन्वन्तरेर्मतम् ॥"

(सुश्रुत शारीरस्थान)

—अर्थात् मनुष्योंकी दृष्टि और रोमकूप कभी नही बढते—दृष्टि और रोमकूपोंका आकार निश्चित और निश्चल है— यह धन्वन्तरिजीका मत है ।

कोई 'दृष्टि'का अर्थ 'आंखकी पुतली' करते हैं—कहते हैं कि पुतली नही बढ़ती, बाकी आंख बढ़ती है ! यह पिछला पक्ष ठीक हो तो 'नयनके इज़ाफ़े'का अर्थ—'आंखकी आकारवृद्धि'— संगत हो सकता है। पर पुतली तो अक्सर नेत्ररोगमे फैलकर बढ़ जाती है ! ख़ैर जो कुछ हो, जवानीमे आंखकी आकार वृद्धि चाहे होती हो या न होती हो, पर उसकी शोभा-वृद्धिमे तो सन्देह नही !

इस दोहेका अनुवाद 'यशवन्तयशोभूषण'में 'प्रत्यनीक' लङ्कारके उदाहरणमें यों है:—

" प्राज्ञो यौवन-भूपालः स्वांगबुद्ध्या तवांगने !

स्तनौ नेत्रे नितम्बे च विवर्धयति सादरम् ॥"

*　　　*　　　*

इस दोहेमें 'अमरचन्द्रिका' तथा 'हरिप्रकाश'के मतमें हेतूत्प्रेक्षा'और 'रसचन्द्रिका'के मतसे "फलोत्प्रेक्षा" अलङ्कार है।

यौवनावस्थामें स्तनादि अङ्गोंकी स्वभावसिद्ध वृद्धिमे "मानो पने अङ्ग (पक्ष)के जानकर"–इस अहेतुको हेतु मान लिया या है। और वृद्धिके 'आस्पद' कुचादि हैं, इसलिये 'सिद्धा-पदा' भी है।

—फलोत्प्रेक्षा' भी इसलिये कह सकते हैं कि स्तनादि-ा बढना यौवननृपतिके अङ्ग (पक्ष) होनेका, फल नहीं , स्वभावसिद्ध है, पर अफलमे फलकी कल्पना कर ली गयी।

—"काव्यलिङ्ग" भी है। स्तनादिकी वृद्धि, यौवन नृपतिके ङ्ग होनेकी युक्तिसे दृढ़ की गयी है।

'जोवन-नृपति में "रूपक" है। और "तुल्ययोगिता" भी , क्योंकि स्तन, मन आदि सवका एक धर्म—"बढौ इज़ाफा ीन" वर्णित है।
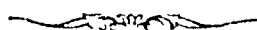
२१

नव नागरि-तन-मुलक लहि जोवन आमिल जौर।
घटि बढ़ितें बढ़ि घटि रकम करी औरकी और॥

अर्थ—सखी नायिकाके नवयौवनकी प्रशंसा करती है:—(नव, नागरि तन-मुलक, लहि)—नवीन नागरी—प्रवीण नायिकाके—शरीररूप देशको पाकर—उसपर दख़ल और क़ब्ज़ा करके—(जोवन आमिल जौर)—यौवनरूप हाकिमने जौर*—ज़ुल्म या बलात्कारसे (रकम, बढ़िते घटि (करी) घटि (ते) बढ़ि (करा))—जो रकम (वस्तु) बढ़ी हुई थी, वह घटादी—कम करदी—जा घटी हुई थी, वह बढ़ा दी। (और की और करी)—इस प्रकार कुछ की कुछ कर दी।

---

* जौर—शब्दका अर्थ फारसीमें ज़ुल्म—'अन्याय'—अत्याचार है। यह 'भाववाचक' शब्द है। किसीने हिन्दीमें इसे 'विशेष्य' और 'विशेषण'वाचक समझकर 'जालिम-पापी' अर्थ किया है, और किसीने 'जोर' समझकर 'ज़ोरावर—ज़बरदस्त' अर्थ किया है। पर यह दोनों पक्ष ठीक नही। 'ज़ोर' बल- ताकत)—वाचक शब्द और है, "जौर' जो ज़ुल्मका पर्याय है, और है। 'जौर ज़ुल्म' बोला जाता है। यहाँ यही- जौर- चाहिये, 'ज़ोर' नहीं। क्योंकि उत्तरार्द्ध में "और" है, "ओर" नहीं। किसीने 'जोर'के साथ जोड़ी मिलानेको "और"का भी 'ओर' कर दिया है!

'इज़ाफ़ा' 'रकम' 'आमिल' 'जौर'—इत्यादि शब्दोंके यथास्थान प्रयोगसे जाना जाता है कि विहारीलालजीको फ़ारसीमें भी अच्छा उस्तादाना दख़ल था।

जब किसी देशपर नवीन राजा अधिकार पाता है, तो उसके अत्याचारी हाकिम, बलात्कारपूर्वक देशदशामें परिवर्त्तन करके कुछका कुछ कर देते हैं। 'भूमि'का नये सिरसे बन्दोबस्त होता है। कही का कर (लगान) बढ़ाया जाता है, कहीका कम किया जाता है— कहीं 'इजाफ़ा' होता है, कही 'तख़फ़ीफ़' होती है। पहले अधिकारियोमेसे कोई निर्वासित कर दिया जाता है, कोई मार दिया जाता है। उनमेसे—(पहले अधिकारियोमेंसे) जो नवीन परिवर्त्तनके अनुकूल पक्षमे होते हैं, वे यथेष्ट और आशातीत उन्नति पा जाते हैं। ऐसे परिवर्त्तनका देशके आचार विचार और व्यवहारपर भी अवश्य प्रभाव (असर) पड़ता है।

—यहाँ, 'बाला' के 'शरीर-देशपर' 'काम-नृपति' का अधिकार हुआ है। उसका (काम बादशाहका) सूबेदार (गवर्नर) 'जोबनखां' प्रबन्ध और शासनके लिये आया है। उसने आते ही एकदम 'अङ्ग' की काया पलट कर दी। जिस (जोबन) का आश्रय पाकर तुच्छ प्राणी तक अभिमानके मदमें चूर होकर कुछका कुछ कर बैठता है। फिर साक्षात् उसके जुल्मका क्या ठिकाना है! उसने पहले ही आक्रमणमें पहले अधिकारी "शैशव-कुमार" को सदाके लिये शान्त कर दिया! कमर—(कटि) बेचारीका नामनिशान मिटाकर काम ही तमाम कर दिया! जिनसे नवीन राज्यस्थापनामें सहायता मिली थी—जिन्होंने नवीन परिवर्त्तनका खुले दिलसे स्वागत किया था— उन स्तन, नितम्ब, केश, नेत्र और चातुर्य्यादिको यथेष्ट उन्नति दे दी!

—गति, भाषण, आचार, विचार, देखना, सुनना, आदि सब व्यवहारोंमे बड़ा परिवर्तन हो गया। सचमुच, ज़ालिम

२१

नव नागरि-तन-मुलक लहि जोबन आमिल जौर।
घटि बढ़िते बढ़ि घटि रकम करी औरकी और॥

अर्थ—सखी नायिकाके नवयौवनकी प्रशंसा करती है:—
(नव, नागरि तन-मुलक, लहि)—नवीन नागरी—प्रवीण नायिकाके— शरीररूप देशको पाकर—उसपर दख़ल और क़ब्ज़ा करके—(जोबन आमिल जौर)—यौवनरूप हाकिमने जौर*—ज़ुल्म या बलात्कारसे (रकम, बढ़िते घटि (करी) घटि (ते) बढ़ि (करा))—जो रकम (वस्तु) बढ़ी हुई थी, वह घटादी— कम करदी—जा घटी हुई थी, वह बढ़ा दी। (और की और करी)—इस प्रकार कुछ को कुछ कर दी।

---

* जौर—शब्दका अर्थ फारसीमें जुल्म—'अन्याय'—अत्याचार है। यह 'भाववाचक' शब्द है। किसीने हिन्दीमें इसे 'विशेष्य' और 'विशेषण'वाचक समझकर 'जालिम-पापी' अर्थ किया है, और किसोने 'जोर' समझकर 'जोरावर—ज़बरदस्त' अर्थ किया है। पर यह दोनों पक्ष ठीक नही। 'जोर' बल- ताकत)—वाचक शब्द और है, "जौर' जो जुल्मका पर्याय है, और है। 'जौर जुल्म' बोला जाता है। यहाँ यही- जौर- चाहिये, 'जोर' नहीं। क्योंकि उत्तरार्द्ध में "और" है, "ओर" नहीं। किसीने 'जोर'के साथ जोड़ी मिलानेको "और"का भी 'ओर' कर दिया है!

'इज़ाफ़ा' 'रकम' 'आमिल' 'जौर'—इत्यादि शब्दोंके यथास्थान प्रयोगसे जाना जाता है कि विहारीलालजीको फ़ारसीमें भी अच्छा उस्तादाना दख़ल था।

जब किसी देशपर नवीन राजा अधिकार पाता है, तो उसके अत्याचारी हाकिम, बलात्कारपूर्वक देशदशामें परिवर्त्तन करके कुछका कुछ कर देते हैं। 'भूमि'का नये सिरसे बन्दोवस्त होता है। कही का कर (लगान) बढ़ाया जाता है, कहीका कम किया जाता है— कही 'इजाफ़ा' होता है, कही 'तख़फ़ीफ़' होती है। पहले अधिकारियोमेसे कोई निर्वासित कर दिया जाता है, कोई मार दिया जाता है। उनमेसे—(पहले अधिकारियोंमेंसे) जो नवीन परिवर्त्तनके अनुकूल पक्षमें होते हैं, वे यथेष्ट और आशातीत उन्नति पा जाते हैं। ऐसे परिवर्त्तनका देशके आचार विचार और व्यवहारपर भी अवश्य प्रभाव (असर) पड़ता है।

— यहाँ, 'बाला' के 'शरीर–देशपर' 'काम-नृपति' का अधिकार हुआ है। उसका (काम बादशाहका) सूबेदार (गवर्नर) 'जोवनखां' प्रवन्ध और शासनके लिये आया है। उसने आते ही एकदम 'अङ्ग' की काया पलट कर दी। जिस (जोवन) का आश्रय पाकर तुच्छ प्राणी तक अभिमानके मदमें चूर होकर कुछका कुछ कर बैठता है। फिर साक्षात् उसके जुल्मका क्या ठिकाना है! उसने पहले ही आक्रमणमें पहले अधिकारी "शैशव-कुमार" को सदाके लिये शान्त कर दिया! कमर—(कटि) बेचारीका नामनिशान मिटाकर काम ही तमाम कर दिया! जिनसे नवीन राज्यस्थापनामें सहायता मिली थी—जिन्होंने नवीन परिवर्त्तनका खुले दिलसे स्वागत किया था— उन स्तन, नितम्ब, केश, नेत्र और चातुर्य्यादिको यथेष्ट उन्नति दे दी!

—गति, भाषण, आचार, विचार, देखना, सुनना, आदि सब व्यवहारोंमें बड़ा परिवर्तन हो गया। सचमुच, ज़ालिम

जोबनने कुछका कुछ कर दिया ! 'बाला' की हालत ही बदल दी ! काया ही पलट दी !

दोहेमें "समस्त वस्तु विषय (सविषय) सावयव-'रूपक" और "छेकानुप्रास" अलङ्कार है ।

२२

ज्यौंज्यौं जोवन-जेठदिन कुच-मिति अतिअधिकाति ।
त्यौंत्यौं छनछन कटि-छपा छीन परति नित जाति ॥

लक्षितयौवना नायिकाकी सखीका कथन नायकसे या सखीसे :—

अर्थ:— (जोवन-जेठदिन) यौवनरूप जेठ— ज्येष्ठमासके दिनमें (ज्यौं ज्यौं, कुच-मिति, अति अधिकाति,) जैसे जैसे कुच-मिति=कुचरूप दिनमान, अत्यन्त बढ़ता है (त्यौं त्यौं नित कटि-छपा, छिनछिन, छीन, परति जाति)= वैसे वैसे, नित्यप्रति, कटि-रूप क्षपा-(रात्रि)-क्षण क्षणमें क्षीण होती जाती है !

क्या सुन्दर रूपक है ! जेठमें दिनमान प्रतिदिन बढ़ता है और अन्य महीनोंकी अपेक्षा बहुत बढ़ता है । वह तीस घड़ीसे आगे निकलकर बढ़ता बढ़ता बढ़नेकी अन्तिम सीमा तक पहुंच जाता है । और रात घटते घटते, नाममात्रको-कुछ योंही-रह जाती है ।

—यौवनमें 'कुच' और 'कटि'की भी ठीक ऐसी ही दशा होती है ।

यौवन की गर्मी (मदनोष्मा) और ज्येष्ठ की कड़कड़ाती धूपके सादृश्यसे भी यह 'रूपक' घटनानुरूप है! सर्वथा "ताद्रूप्य" है! †

अलंकार—'रूपक'। 'छकार'से वृत्त्यनुप्रास। और किसीके मतमें 'दीपक' भी।

२३

बाढत तो उर उरजभर भरतरुनई विकास।
बोझनि सौतनिके हिये आवत रूँधि उसास॥

'यौवन-भारावनता' नायिकासे सखी कहती है—

अर्थ:— (भर तरुनई विकास)= (तेरी) तरुणताका भार (आधिक्य) और विकास है, अथवा भरजवानी=पूर्णतारुण्यका विकास है, जवानीकी बहार खिल रही है। तथा, (तो उर, उरजभर, बाढ़त)= तेरी छातीपर कुचोंका भार बढ़ रहा है। और, (बोझनि, सौतनिके हिये, उसास, रूँधि आवत)=बोझ-से सपत्नीके हृदयसे साँस, रुक कर–घुट कर– आता है।

---

† जवानीके गरम मौसममें इश्क़की लूएँ चलनेका वर्णन उर्दूके महाकवि 'अकबर'ने भी अच्छे ढगसे किया है:—

"खुली जो आंख जवानीमें इश्क़ आ पहुँचा,
जो गरमियोंमें खुले दर तो क्यों न लू आए!"

कुचोंका भारी भार, तो तेरी छातीपर पड़ा है, जो बराबर बढ़ रहा है, और उसके वोझसे साँस सपत्नीका घुट घुटकर निकल रहा है! जिसपर भार पड़े उसीको रुककर सांस भी आना चाहिये! यहाँ, भार कहीं और वोझ कहीं! छातीपर भार कोई उठाए हुए है और उसके वोझसे दम किसीका घुट रहा है! कैसी बेमेल बात है! क्या अच्छी "असङ्गति" है!

—नायिकाके वर्द्धमान सौन्दर्य्यको देखकर, बढ़ी हुई ईर्ष्या-से सपत्नीका सांस घुटा जा रहा है! यह विचित्र भाव!

कारण 'भार उठाना'—कहीं है, कार्य— वोझसे दबकर 'दम घुटना'—दूसरी जगह है। इसलिये "असङ्गति" है। पूर्वार्द्ध-में 'भार' और उत्तरार्द्धमें 'वोझ' है, दोनोंका अर्थ एक है। इस कारण "अर्थावृत्ति दीपक" भी है।

यहाँ "भार" और "वोझ"के अर्थमे भेद है। पर आपाततः 'भार' 'वोझ'— पर्य्यायसे एक— 'पुनरुक्तवत्' प्रतीत होते हैं, इस-लिये किसीकी सम्मतिमे—"पुनरुक्तवदाभास" भी है। "भार"का अर्थ 'भारवद्वस्तु। और "वोझ"=गुरुत्व—भारवद्वस्तुका दबाव। जैसे—"भारके वोझसे देवदत्त दवा जाता है।" ऐसा वोला जाता है।

——*——

ज्ञात-यौवना-मुग्धा-वर्णन

२४

भावक उभरौहौं भयौ कछुक पर्‌यौ भरु आय ।
सीपहराके मिस हियौ निसि दिन हेरत जाय ॥

अर्थः—सखीका वचन नायकसेः—

(भावक, उभरौहौं भयौ,)= एक तरहसे—ज़रासा, उभार सा (अर्थात् कुचोंका) हुआ है, ठीक उभार नहीं, उभार होनेके समान कुछ हुआ है। (कछुक भरु, आय पर्‌यौ)=(उसका) कुछ एक— थोड़ासा, भार (छातीपर) आ पड़ा है। सो (सीपहराके मिस, हियो हेरत निसिदिन जाय)= सीपके हारको (देखनेके) बहानेसे, छाती देखते ही रात दिन बीतता है! जब देखो, तब उसे ही देख रही है, और कुछ काम ही नहीं!

—अभी यो ही जरा एक उभार सा हुआ है, कुचोंने कुछ कुछ कोर निकाली है, उठनेको ज़रा सिर उभारा है, इसीका थोड़ासा भार है! जो उभारकी याद दिलाता रहता है। सो गर्दन झुकाए उस उभारकी जगहको देखनेमें ही दिनरात कटता है! कोई पूछे, तो छातीपर पड़े सीपके-(या सीपके मोतियोंके-) 'हार' देखनेका बहाना है!

"क्यों री! इस ज़रासे उभारपर इतनी खुर्दबीनी! हरवक्त उसीपर नज़र है—"

"वाह! तुम क्या समझती हो! ख़ूब, मैं तो अपने इस 'हार' को देख रही हूं!—"

बहाना भी बहुत अच्छा—'पर्यायोक्ति'— भी बड़ी बढ़िया:—

"छलकर साधिय इष्ट जहँ "पर्यायोक्ति" विशिष्ट ।
सीपहराके मिस दियौ लखति सुगाधन इष्ट ॥" (अमरचन्द्रिका)

'भावक' और "कछुक" दोनोंका अर्थ एक है, इससे 'अर्थावृत्ति दीपक' भी अपना मन्द प्रकाश डाल रहा है।
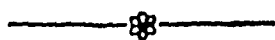
नवोढ़ा मुग्धा-वर्णन

२५

देह दुलहिया की बढ़ै ज्यौं ज्यौं जोबन जोति ।
त्यौं त्यौं लखि सौतैं सबै बदन मलिनदुति होति ॥

अर्थ:— सखीका वचन सखीसे या नायकसे:—

(दुलहिया की देह)—दुलहिन—नववधूकी देहमें (ज्यौं ज्यौं जोबन जोति बढ़ै)- जैसे जैसे जोबनकी ज्योति (चमक) बढ़ती है, या जोबन और जोति बढ़ती है, (त्यौं त्यौं लखि सबै सौतैं)- तैसे तैसे, देखकर सब सौतें (बदन, मलिन दुति होति) मुखके विषयमें मलिनकान्तिवाली होती जाती हैं। अथवा— हे सखि ! तू देख, सब सौतों के मुख मैले होते जाते हैं !

—नववधूकी दिन दिन जगमगाती जोबन जोतिके सामने सब सपत्नियोंके मुखकी कान्ति मलिन पड़ती जाती है, चेहरे तरते जाते हैं, रँग उड़ता जाता है !

यहाँ 'उल्लासालङ्कार' विस्पष्ट चमक रहा है:—

"एकस्य गुणदोषाभ्या-'मुल्लासो' ऽन्यस्य तौ यदि ॥" (कुवलयानन्द)

"गुन औगुन जब एकतें और धरे 'उल्लास' ।" (भाषाभूषण)

—जहां एकके गुणसे गुण, या दोषसे दोषको, अथवा दोषसे गुण या गुणसे दोषको, दूसरा धारण करे, वहाँ 'उल्लास' होता है। यहां दुलहीके 'सौन्दर्य्यप्रकाश'—गुणसे सौतोंमे 'मुखमालिन्य'—दोष, हुआ। तथा— अकारण 'जोवन-जोति'से मलिनदुति-'कार्य'की उत्पत्ति हुई, इसलिये चौथी विभावना, या ज्योतीरूप विरुद्ध कारणसे मालिन्यरूप कार्य वर्णन किया। इसलिये पांचवी विभावना भी हो सकती है।

'अनवरचन्द्रिका' तथा 'प्रतापचन्द्रिका' मे इसपर 'विभावनालङ्कार' लिखकर लिखा है कि—

["रूपकातिशयोक्ति"]

—"जो रूपकातिशयोक्ति, कीजै तो विशेष चमत्कार होइ"—पर यहां 'रूपकातिशयोक्ति' कैसे कीजै? यह किसीने नहीं लिखा। 'प्रतापचन्द्रिका'ने सिर्फ एक यह दोहा लिख दिया है, लक्षणसमन्वय नहीं किया—

"उपमान कि उपमेयतें उपमान कि उपमेय।
ग्रहन करो तहा रूपका-अतिशयोक्ति लखि लेय॥"

'रूपकातिशयोक्ति'का लक्षण और लक्ष्य, कुवलयानन्द-के अनुसार यह है:—

"रूपकातिशयोक्तिः स्यान्निगीर्याध्यवसानतः।
पश्य नीलोत्पलद्वन्द्वान् निःसरन्ति शिताः शराः॥"

—अर्थात् जहां उपमेयकी प्रतीति उपमानहीके द्वारा करायी जाय—केवल उपमानवाचक शब्दोंका प्रयोग हो, 'उपमेय' स्ववाचक शब्दसे उपात्त न हो— वह उपमानके अन्दर तद्रूप होकर दबा रहे,—जहां—उपमानसे उपमेयमे अप्रकृत तादात्म्यका आरोप किया जाय—वह 'रूपकातिशयोक्ति' है।

जैसे— "देखो ! दो नील-कमलोंसे तीक्ष्ण बाण निकल रहे हैं !"

— यहां (उपमानवाचक) नीलोत्पलसे (उपमेय) नेत्रका और उपमान— 'शर' शब्दसे उपमेय— कटाक्षका ग्रहण है। इसे ही यदि यों कह दिया जाय कि— नेत्ररूप नीलोत्पल-से कटाक्षरूप बाण निकल रहे हैं ! तो 'रूपक' है। इसी वाक्यमेंसे 'नेत्र' और 'कटाक्ष' इन (उपमेयों) का साक्षात् इनके वाचक शब्दोंसे कथन न करके केवल उपमानवाचक —(नीलोत्पल) और 'बाण' शब्दोंसे ही उनका बोध कराया जाय तो वह 'रूपकातिशयोक्ति' है।

भाषाभूषणमें सीधा लक्षण यह है :—

"रूपक—अतिशयोक्ति तहँ, जहँ केवल उपमान ।
कनकलतापर चन्द्रमा धरै धनुष द्वै बान ॥"

यहां—(भाषाभूषणके उदाहरणमें) केवल उपमानवाचक शब्द हैं, उनसे ही उपमेयोंका बोध होता है। जैसे—'कनक-लता'से नायिकाका, 'चन्द्रमा'से मुखका, 'धनुष'से भौंहोंका, और 'द्वै बान'से नेत्रोंका—(तीरेनज़रका)-बोध होता है।

"रूपकातिशयोक्ति"का यह लक्षण सर्वसम्मत है कि जहां उपमेयको तद्वाचक शब्दसे न कहकर उपमानवाचक शब्दसे ही उसका बोध कराया जाय, वह "रूपकातिशयोक्ति" है।

'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण'मे 'रूपकातिशयोक्ति,' 'अतिशयोक्ति'का प्रथम भेद है। वहां "रूपकातिशयोक्ति" यह पृथक् नामनिर्देश नहीं है।

—परन्तु, 'अनवरचन्द्रिका' यह कहकर कि "जो रूपकातिशयोक्ति कीजे तो विशेष चमत्कार होइ"— और 'प्रतापचन्द्रिका' रूपकातिशयोक्तिका एक 'अस्पष्ट' सा लक्षण लिखकर, 'रूपकातिशयोक्ति' के एक दूसरे भेदकी कल्पना करना चाहते हैं ! यहां

यदि रूपकातिशयोक्ति मान ली जाय तो 'उपमेय' वाचक शब्दसे 'उपमान' का बोध कराना होगा। 'प्रतापचन्द्रिका' के उक्त दोहेका भी यही भाव मालूम होता है कि जहां उपमानसे, उपमेयका या उपमेयसे उपमानका ग्रहण कराया जाय वह "रूपकातिशयोक्ति" है। —

—इस दशामें "जोबन जोति" (उपमेय) से (उपमान)—सूर्यका प्रकाश, (उपमेय)—सौतोंके मुखसे (उपमान)—कुमुदावलिका अर्थ समझना चाहिये। सूर्यके प्रकाशमें कुमुदावलि लुकड़ जाती है। या 'जोति'का अर्थ ज्योत्स्ना—चांदनी—लें तो सपत्नीके वदन (मुख) को कमल समझें। चन्द्रोदयमें कमल मलिनमुख हो जाते हैं! अभिप्राय यह कि नायिकाके यौवनसूर्यके प्रकाशमे, सपत्नी-कुमुदिनियाँ हतप्रभ हो गयीं! या नायिकाके यौवन-चन्द्रकी चांदनीमें सपत्नियोंके-मुख-कमल विच्छाय होकर बन्द हो गये! मैले हो गये—प्रकाशहीन हो गये!

—इस दशामे—रूपकातिशयोक्ति मानकर इसप्रकार अर्थ करनेमे—चमत्कार तो बेशक विशेष हो गया, परन्तु उपमेयवाचक शब्दसे उपमानका बोध कराया जाकर, "रूपकातिशयोक्ति" होती भी है या नही, यही विचारणीय है! क्योंकि प्रसिद्ध साहित्य-ग्रन्थोंमे रूपकातिशयोक्तिके जो लक्ष्य लक्षण मिलते हैं, उनमें 'उपमान' ही 'उपमेय'—वाचक शब्दको निगलकर, अर्थमें उसे उगलता है। यह देखा जाता है—

"निगीर्याध्यवसानं तु प्रकृतस्य परेण यत् ॥"

"उपमानेनान्तर्निगीर्णस्योपमेयस्य यदध्यवसानं सैका—

—(अतिशयोक्तिः)"

(काव्यप्रकाश)

—परेण—उपमानेन, निगीर्य—कवलीकृत्य, (पृथगनिर्दिश्य) यत् प्रकृतस्य—उपमेयस्य, अध्यवसानम्—आहार्याभेदनिश्चयः, सा एका (प्रथमा) अतिशयोक्तिर्विज्ञेया।" (काव्यप्रकाशटीका)

यही कुवलयानन्दकी "रूपकातिशयोक्ति" है। अस्तु।

—यदि इस दोहेमें अनवरचन्द्रिका और प्रतापचन्द्रिकाकी बात मानकर 'रूपकातिशयोक्ति' मानें तो 'उपमेय'से 'उपमान'का बोध कराना होगा। जो काव्यप्रकाशादिके इन लक्षणोंसे विरुद्ध है।

२६

मानहु मुख दिखरावनी दुलहिनि करि अनुराग।
सास सदन मन ललन हू सौतिनि दियो सुहाग॥

अर्थः— सखीकी उक्ति सखीसे। नवोढा नयिकाका रूप, गुण और चातुर्य्य व्यङ्ग्य।

(दुलहिनि, अनुराग करि)=दुलहनमे प्रीति करके, (मुख-दिखरावनी)— मुंहदिखाईकी रस्ममे, (मानहु) मानो (उसे) (सास सदन)— सासने घर दिया, (मन ललन)— पतिने मन दिया,(सौतिन हू सुहाग दियो)— सपत्नीने भी सुहाग दे दिया।

जब नयी वहू घर आती है, तो सास, ससुर आदि घरके स्त्री पुरुष उसका मुंह देखकर उसे कुछ देते हैं। यह 'मुंह दिखाई-की रस्म' कहलाती है। जैसी देवता वैसी ही उसकी पूजा! जैसा अनुराग वैसाही प्रणयोपहार। प्रदर्शनीमे जो चीज़ सबसे अधिक

सुन्दर और उत्कृष्ट जँचती है, उसके लिये इनाम भी वैसाही सबसे बढ़िया मिलता है। इस लोकोत्तर-सौन्दर्य्य-शालिनी नवोढा नायिकाका मुख-चन्द्र असाधारण 'अर्घ'—चाहता है। इसके अनुपम रूप, गुण और चातुर्य्यका पुरस्कार रुपये या अशरफ़ी नहीं हो सकते। इसलिये मुखदेखनेवालोंमें जो चीज़ जिसके पास सबसे अधिक प्यारी और क़ीमती थी, वही उसने भेंट करदी। सासने धन धान्य आदिसे भरपूर घर उसके सपुर्द करदिया! कोई सास, चलते हाथ पाँव अपनी ख़ुशीसे बहूको घर सौंप दे, इससे अधिक असामान्य 'आत्मत्याग' उस (सास) के लिये और क्या होगा! प्यारे 'ललन' (पति)के पास मुंहदिखाईमे देनेके लिये 'मन'से बढ़कर और क्या पदार्थ हो सकता है! सो वही उसने भेंट कर दिया! 'सौत' वेचारीके पास सिर्फ़ 'सुहाग' ही एक चीज़ थी, जिसे वह अपना कह सकती थी। घरपर या घरके किसी पदार्थ-विशेष पर तो सासकी विद्यमानतामें उसका कुछ अधिकार ही न था। 'शरीर' और 'मन' भी उसके नहीं थे, उनपर पतिका आधिपत्य था। केवल 'सुहाग'—रत्न जो उसे प्राणाधिक प्रिय था, उसके पास था, वही 'मुंह दिखरावनी'में उसने इस नयी देवतापर चढ़ा दिया! इन्साफ़से देखा जाय तो जो सम्मान नयी बहूका इस सपत्नीने किया वह इनमेंसे किसीने भी नहीं किया। 'सास' घर देकर सारे झंझटोंसे छूट गयी, 'ललन' साहबको तो इस सौदेमें दुगुना लाभ हुआ। एक 'मन' देकर तन मन धन सब कुछ लेलिया! पर सपत्नी ग़रीबने तो सौभाग्य-दानके स्वरूपमें मानो अपना सर्वस्व ही दे डाला, अपने आपको ही दुलहिनपर निछावर कर दिया!

—दोहेमें जो "करि अनुराग" पद है—इसपर प्रायः टीकाकारोंने शङ्कासमाधान करके कुछका कुछ अर्थ किया है। यह

शंका उठाकर कि—"सपत्नी" 'दुलहिन'से क्यों अनुराग करेगी?— इसका यह उत्तर दिया गया है कि 'करि अनुराग 'का अन्वय 'सास' और 'ललन'के ही साथ है, सपत्नीके साथ नहीं। 'ललन' के आगेका 'हु'पद अनुरागके अधिकारकी- अन्वयकी- अवधि पूरी कर देता है। 'रसचन्द्रिका'में लिखा है कि—

—"यदि 'हु'न होता तो—"सौतोंका किया अनुराग भी लगता, इसीलिये यहां बिहारीने 'हु पद रक्खा है। और कोई यों भी कहते हैं कि यहां 'हु'का अर्थ अनुरागकी हद (सीमा) है।"—

'प्रतापचन्द्रिका'में इस प्रकार अर्थ बैठाया है —

- "सास और ललनका अनुराग देखि सौतिन हूँ, सुहाग दीनो। हमारे भागनवारो या पै (दुलहिनपै) ग्म होयगो, या तें।" —

'हरिप्रकाश'में दोहेको इस प्रकार लगाया है—

—"मानो (मानहु) - अर्थ 'तुम जानो' (नायिकाका सौन्दर्य्य व्यङ्ग्य) ऐसी सुन्दरी नायिका है कि नायक आसक्त होकर, घरका कार्य इसे ही देगा, "दियो" का अर्थ यहां लक्षणा करके 'गया' जानिए, सदन सासमें गया, मन, ललनमें गया, और सुहाग सौतसे गया।"—

हरि कविके मतमें यही प्रधान अर्थ है, और "पर्य्यायोक्ति" अलङ्कार है। दूसरा अर्थ उन्होंने उत्प्रेक्षापरक यह भी किया है:—

—" किंवा, " मानो " मे उत्प्रेक्षा जानिए, और तरहको और तरहकी सम्भावना कीजिए, मानो, "नायिकाने मुँह दिखरावनीमें सासको सदन दिया है, मन ललनको दिया है, (सौति न दियो सुहाग)- परन्तु सौत को सुहाग न दिया " !!

—यह सर्वथा उलटी कल्पना भी केवल "अनुराग"का अन्वय सौतसे दूर करनेके लिये ही की गयी मालूम होती है। पर 'मुंह-दिखाई'में जिसका मुंह देखा जाता है, वह तो किसीको कुछ नहीं दिया करती, उलटा उसीको देखने वालोंकी ओरसे पारितोषिक दिया जाया करता है! यदि 'उत्प्रेक्षा' के बलसे ऐसी विपरीत कल्पना ठीक हो सकती है तो फिर 'अनुराग'का अन्वय सौतके साथ करनेमें क्या काठिन्य है!—"मानो नवोढ़ाके अलौकिक रूप, गुणपर मुग्ध होकर सपत्नीने भी अपना सुहाग उसे दे दिया!—" 'हू'का सम्बन्ध "सौतिन"के साथ रहे तो और अच्छा हो। इसीमें चमत्कार है! स्नेहशील सास और 'ललन'ने जो प्रीति-दायमें नवोढाको घर और मन दिया सो ठीक ही किया (यह तो कोई इतने आश्चर्य्यकी बात नहीं!) पर सौतने भी ख़ुशीसे सुहाग उसकी नज़र कर दिया! यही तो ख़ास बात है! शत्रु भी जिससे ऐसा स्नेह करे फिर उसकी सौभाग्यशालितामें क्या सन्देह है!

—इसी अर्थमें उत्प्रेक्षा अधिक चमत्कारिणी है—

"*इति निमीलितलोचन विचारयन्तु साहित्यमर्मज्ञाः सहृदयधौरेयाः।*"

अलकार—"सिद्धास्पदा हेतूत्प्रेक्षा"। 'दियौ' इस एक क्रियासे "तुल्ययोगिता" भी है। "अनवरचन्द्रिका"के मतमे 'उत्प्रेक्षा' और 'पर्यायोक्ति' अलंकारकी 'संसृष्टि' है।

कुछ इसी भावका एक उर्दू कविका यह शेर है —

"हटावो वस्लमें रुखमार-अनवरसे दुपट्टेको,
दिले-मुश्ताक़ देता हू मैं तुमको 'रूनुमाई'में।"

महाकवि 'शम्भु' और कविराज 'शंकर' महाराजने भी रूप-गर्विता नवोढाके मुखसे, उसकी मुख-प्रदर्शनीका—मुंहदिखाईका—वर्णन दूसरे ढंगपर धूमधामसे कराया है.—

घनाक्षरी—"आज हो गई थी " शम्भु " न्यौते नन्दगाव, व्रज
सारति बड़ी है रूपवती वनितान की,
घेर लीनी तियन तमासो करि मोहि लखैं.
गहि गहि गुलुफ लुनाई तरवान की।
एकै वलि बोल बोल ओंगनि बतावे. रीझ-
रीझ कुँवराई अरुनाई मोरे पान की.
घूंघट उघारि मुख लखि लगि रहे एकै
एकै लगी नापन बड़ाई अँखियान की॥"
(महाकवि शम्भु)

रूप-घनाक्षरी— " सासुने बुलाई घर बाहरकी आई-
सो लुगाइनकी भीर मेरो घूँघट उघारै लगी,
एक तिनगेंनी तिन [तृण] तोरि तोरि डारै लगी
दूसरी सरैया राई नोनकी उतारै लगी।
'शंकर' जिठानी वारवार कछु वारै लगी
मोद मढ़ी ननदी अटोक टोना टारै लगी,
आली! पर सांपिनिसी सौति फुसकारै लगी
हेरि मुख 'हा! कर' निसा[शा] कर निहारै लगी॥"
(कविराज 'शंकर' महाराज)

२७

निरखि नवोढा-नारि-तन छुटत लरकई-लेस।
भौ प्यारौ प्रीतम तियन मानहुँ चलत विदेस॥

अर्थः— सखीका वचन सखीसे। नायिका लक्षित-यौवना। शङ्का और ईर्ष्या सञ्चारी भाव व्यङ्ग्य।

(नवोढा नारि तन)—नवोढ़ा नारीके शरीरसे (लरकई-लेस, छुटत निरखि)— लड़कपनका लेश—अवशेषांश या (श्लेष) लगाव, छुटता देखकर (तियन, प्रीतम प्यारो भयो)—स्त्रियों (अन्य सपत्नियों) को प्रीतम (ऐसा) प्यारा हुआ, (मानहु विदेस चलत)– मानो वह परदेशको जा रहा है!

नवोढा नायिकाके शरीरपर लड़कपनका लेश (अंश) जो कुछ अब तक बाक़ी बचा हुआ था, वह भी अब विदा हुआ जा रहा है, यह— (लड़कपन) क्या जा रहा है मानो सपत्नियोंका प्रिय पति ही उनसे विदा होकर परदेशको जा रहा है! "इस (नवोढा) के अद्भुत नवयौवन की अमलदारीमे पति हमें क्यों पूछेगा, इससे इसका लड़क-पन क्या चला मानो पति ही हमारे हाथसे चला!" इस शङ्कासे चिन्तित हो वे पतिको उस प्यारसे देख रहीं हैं जो प्रियके परदेश जाते समय चिन्ता, शङ्का सहित हृदयमें उमड़ा करता है। "आगतयौवना" नायिकाकी सपत्नियाँ 'प्रवत्स्यत्पतिका'सी हो रही हैं! बड़ा ही सुन्दर भाव है।

—नवोढा नायिकाकी हृदयाकर्षक अपूर्व नवयौवनश्री, पतिकी उसमे भाविनी अत्यासक्ति, सपत्नियोंकी शङ्का, ये सब भाव अनूठे ढंगसे इस उक्तिमें व्यञ्जित हैं!

—अलङ्कार हरिकविके मतमे 'चलत है मानो' में क्रियासे 'मानो'का अन्वय है, इससे असिद्धास्पदा वस्तूत्प्रेक्षा है। 'अमरचन्द्रिका'के मतसे हेतूत्प्रेक्षा। नकारकी आवृत्तिसे वृत्त्यनुप्रास भी है।

इस दोहेसे मिलती हुई गोवर्धनाचार्य्यकी एक "आर्य्या" है—

"अतिवत्सला सुशीला सेवाचतुरा मनोऽनुकूला च।
अजनि विनीता गृहिणी सपदि सपत्नीस्तनोद्भेदे ॥२॥

❀ ❀ ❀

—सपत्नीके स्तनोद्भेद होते ही 'गृहिणी' (पहली घरवाली) अत्यन्त स्नेह करनेवाली, अच्छे स्वभावकी, सेवा करनेमें चतुर, पतिके मनके अनुकूल चलनेवाली और विनम्र हो गयी।

अर्थात् गृहिणी जो पतिके दूसरा विवाह कर लेनेपर रुष्ट होकर, मन्दस्नेह, बुरे स्वभावकी, सेवा न करनेवाली, प्रतिकूल वर्ताव रखनेवाली और उद्धत स्वभावकी होगयी थी, उसे सपत्नीके स्तनोद्भेदने सीधा कर दिया।

भाव बिलकुल एक ही है। परन्तु "भौ प्यारौ पीतम तियनि मानो चलत बिदेस"—की मनोहारिणी उत्प्रेक्षा-के कारण दोहा 'आर्या'से आगे बढ़ गया है। विहारीने गोवर्धनाचार्यसे मज़मून छीन लिया है!

२८

ढीठौ दै बोलति हँसति प्रौढ विलास अप्रौढ।
त्यौं त्यौं चलत न पिय नयन छकए छकी नवौढ॥

अर्थ—सखीका वचन सखीसे। मुग्धा नायिकाकी मद्य-पानजन्य चेष्टा और नायकका हर्ष सञ्चारी भाव।

(ढीठौ दै बोलति, हँसति)—(ज्यौं ज्यौं) ढिठाई देकर—धृष्टता धारण करके—ढिठाईसे—बोलती है और हँसती है, (अप्रौढ, प्रौढ़ विलास—(करति))—अप्रौढा (मुग्धा) होकर भी प्रौढाकेसे विलास (लीला) करती है, (क्योंकि), (नवोढ, छकी*) नवोढा मस्त हो रही है। (त्यौं त्यौं छकए, पिय नयन, न चलत)—त्यौं त्यौं, उसके विलासासवसे मस्त हुए प्रियके नेत्र नहीं चलते। उसकी लीला देखनेमें मस्त हैं, इधर उधर नही हटते, एकटक उसीकी लीला देखनेमे लगे हैं!

छाक—नशा। छकी—नशे में मतवाली मस्त। छकए—मादक पदार्थ या मादक द्रव्य से मस्त हुए। छकना—(मस्त होना)

श्रीलल्लूलालजीने इस दोहेका शीर्षक "विश्रब्ध नवोढ़ा वर्णन" लिखा है और नवोढ़ा को किसी मादक द्रव्यके नशेसे नहीं किन्तु जोवन-रूप नशे मे मतवाली बनाकर प्रौढ़ा की सी लीला करवायी है। परन्तु 'छकए' और 'छकी' पद मादक द्रव्यका ही बोध कराते हैं। इसके अतिरिक्त अप्रौढ़ा नवोढ़ा को विश्रब्ध होनेपर भी जोवनरूपका नशा इतना नहीं चढ सकता कि वह उससे इतनी मस्त होजाय जो लज्जा, शंका आदि अपने मौग्ध्य स्वभावको छोड़कर प्रौढ़ाकीसी लीलाए दिखाने लगे।

अन्य टीकाकारोंने मादक द्रव्यके सेवनसे ही ऐसा होना सम्भव समझा है। यथा:—

"छकी नवोढ़ाको स्वभाववर्णन" (रसचन्द्रिका)।

"नायिका मुग्धा, मद्यपानमें चेष्टा।" (प्रतापचन्द्रिका)

"मादक वस्तु खिआय कैं (खिलाकर) छकाई है, तासों छकी है—मस्त भई है।" (हरिप्रकाश)

—नायकने नवोढाको लज्जा संकोच दूर करनेके लिये उसे कुछ नशा पिला दिया है। जिससे मस्त होकर वह ऐसी चेष्टा कर रही है जो उसकी दशा (मुग्धात्व)के अनुरूप नहीं है, ढिठाईसे बोलती है, और लज्जा छोड़कर हँसती है, प्रौढा नहीं है पर प्रौढा जैसी लीलाएँ दिखला रही है, यह नया तमाशा छोड़कर प्रियके नेत्र कहां जा सकते हैं! वे भी तमाशा देखनेमें मस्त हैं! मतवालीकी इस लीलाने प्रियके नेत्रोंको भी मतवाला बना दिया!

अलङ्कार —"स्वभावोक्ति" स्पष्ट है।

'प्रतापचन्द्रिका'में "ढीठयौ" क्रियाका हँसने बोलने आदि सबके साथ योग करके 'तुल्ययोगिता' भी मानी है। और विना प्रौढाके प्रौढाकीसी चेष्टा कर रही है, इसलिये "पहली विभावना" भी बतलायी है।
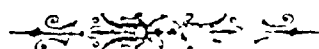
२६

चालेकी बातें चली सुनति सखिनके टोल।
गोयेहू लोयन हँसति विहँसत जात कपोल॥

अर्थ — सखीकी उक्ति सखीसे—

(सखिनके टोल, चली चालेकी बातें सुनति)—सखियोंके समूह (गोष्ठी)में चली (अपने) चाले— (द्विरागमन—गौने)की बातें सुन रही है†। (लोयन) नेत्रोंको (गोये हू हँसति)— छिपाकर भी हँसती है, पर (कपोल विहँसत जात)— कपोल मुसकरा रहे हैं— उनपर हँसीकी झलक

† "छलिताकामा मुग्धा वर्णन"—(लल्लूलालजी)। 'मुदिता मध्या'

आ रही है! त्रपा, हर्ष, सञ्चारी भावसे नायिका—लज्जामदन-मध्यस्था 'मध्या' व्यञ्जित है।

सखियोंकी टोलीमें नायिकाके चालेकी चर्चा चल रही है नायिका भी उसमें एक ओर बैठी सुन रही है, और मनमे प्रसन्न हो रही है। लज्जाके कारण हर्षका प्रकाश प्रकट नही करना चाहती, आंखोंके दर्पणसे सखियां उसकी (हर्षकी) झलक न पा जायँ, इसलिये आंखें सामने नहीं करती, आंखें चुरा रही है, तौ भी कपोलोंपर मुस्कराहट आ रही है! आंखोंमे छिपायी तो कपोलोंपर हँसीकी झलक आयी!

अलंकार— "स्वभावोक्ति"। सखियोंका टोल, और गोये लोयन, इन दो प्रतिवन्धकोंके रहते भी, हँसीको झलक आयी, इससे "तीसरी विभावना"। 'हँसति विहँसत'से 'अर्थावृत्ति दीपक"।

लज्जाप्रियामध्या-वर्णन

३०

लखि दौरत पिय-कर-कटक बास छुड़ावन काज।
बरुनी-बन दृग-गढनि में रही गुढौ करि लाज॥

अर्थः— सखीकी उक्ति सखीसे।

—(पिय-कर-कटक)— प्रियके हाथरूपी कटक—लश्करको (बास छुडावन काज)— वास— वस्त्ररूप निवासस्थान-को छुडानेके लिये, (दौरत लखि)— दौड़ता हुआ—अपनी ओर आता हुआ देखकर (बरुनी-बन)— बरौनी—(पक्ष्म-

पलक)— रूपी वनमें, और (दृग गढ़नि)—आंखरूप गढ़ों (क़िले)में, (लाज गुढौ† करि रही)—लज्जा छिपकर बैठ गयी !

—नायकमें चपलता, नायिकामें लज्जा सञ्चारी भाव। स्पर्श अनुभाव। संयोग शृङ्गार। नायिका मध्या।

रतिके समय नायकने, नायिकाके अङ्गसे वस्त्र उतारनेको हाथ बढ़ाया है। लज्जाने देखा कि अब ख़ैर नहीं, यह स्थान भी छिना ! सो वह बेचारी आंखोंके क़िलेमें, जिसपर वरौनियोंका वन छाया हुआ है, आ छिपी है !

जब किसी निर्बलपर, शत्रुकी फ़ौज आक्रमण करनेको बढ़ी चली आ रही हो, और वह उसका सामना करनेकी शक्ति न रखता हो तो अपनी जान बचानेको किसी सुदृढ़ गढ़का आश्रय ढूंढता है।

—नायिकाके सारे शरीर-देशपर लज्जा-रानीका राज्य था। सो उसपर ग़नीम (नायक)ने वाह्यरति-सङ्गरमें अपना अधिकार कर लिया। वहांसे लज्जाकी अमलदारी उठ गयी ! केवल उसका निवास "पट-मण्डप"मे—साड़ीकी छोलदारीमे—रह गया था— बेचारी वस्त्रोंके नीचे जैसे तैसे आपा छिपाये छिपी पड़ी थी, उसने देखा कि अब उसे छीननेको भी "कर-कटक" —दस्तदराज़ीका लश्कर— बढ़ा आ रहा है, अब यहां भी रक्षा नहीं। सो वह वस्त्ररूपी वास-स्थानको छोड़कर आंखके सुदृढ़ गढ़मे जाकर छिप गयी ! कुल-बाला-की आंख, लज्जाका प्रधान स्थिति-स्थान है, वहांसे उसे हटाना ज़रा टेढ़ी खीर है !

† "गूढौ—'मवास', वह स्थान जिसे कोई जीत न सके" (हरिप्रकाश)

१—'कर' २—'बल्ली' ३—'दृग' आदि उपमेय। और 'कटक' 'वन' 'गढ़' आदि उपमान। 'वास छुड़ाना' 'अङ्ग'-सहित, सब साथ मौजूद हैं, सो "समस्त वस्तु विषय सावयव रूपक अलङ्कार" है। 'वास'—(वस्त्र और निवास स्थान)—मे "श्लेष" भी है। 'करकटक'का आक्रमणरूप कारण रहते भी "लाज रही"— 'लाज जाना'—रूप कार्य्य न हुआ, इससे "विशेषोक्ति" भी है।

३१

दीप उजेरेहू पतिहिँ हरत बसन रति काज।
रही लपटि छबिकी छटनि नैको छुटी न लाज॥

अर्थ— सखीका वचन सखीसे :—

—(दीप उजेरे हू)— दीपके उजालेमे ही (पतिहि)— पतिको (रति काज, वसन हरत)— रतिके लिये वस्त्रोंको हरता (देखकर), (छविकी छटनि लपटि रही)—अपने अङ्गकी कान्तिकी छटा—चाकचिक्य—चकाचौंधमे लिपट रही, (नैको लाज न छुटी)— ज़रा भी लज्जा नहीं छुटी।

—दीपके प्रकाशमें, वस्त्र हर लेनेपर भी, लज्जा न छूट सकी, निरावरणकाय-कान्तिकी ,छटा ऐसा छा गयी कि उसने अनावृत अङ्गको ढांप लिया! कान्तिकी छटा हो दीखती है, उसकी चकाचौंधमे शरीर नज़र नहीं आता!—"प्रभामात्रं हि तरलं दृश्यते न तदाश्रयः!"—लज्जा छुड़ानेका बहुत यत्न किया, पर तो भी वह न छूट सकी, छवि-छटाने उसे बचा लिया!

कारण— 'प्रकाशमें वस्त्रहरण'के रहते भी, कार्य—'लज्जा-त्याग'—न हुआ, अच्छी "विशेषोक्ति" रही।

—"निलज करनके यतन किय तऊ न छूटी लाज"—(अमरचन्द्रिका)

'प्रतापचन्द्रिका'के मतमें, (यदि उनकी 'वार्ता' ठीक मानी जाय तो) यहां द्वितीय "पूर्वरूप" अलङ्कार भी है।

"पूर्वावस्थानुवृत्तिश्च विकृते सति वस्तुनि।
दीपे निर्वापितेप्यासीन् काञ्ची-रत्नैर्महन्महः ॥" (कुवलयानन्द)

"दूजे, जब गुन ना मिटै किये मिटनके हेत ॥"
"दीप मिटाये हू कियो रसना-मनि ज्योत।" (भाषाभूषण)

—मिटानेका यत्न करनेपर भी पहले गुणका न मिटना, 'पूर्वरूप'का दूसरा भेद है। दीप बुनाकर 'प्रकाश' —गुण मेटना चाहा, पर अँधेरा नहीं हुआ।

"तृतीय विभावना" भी संभव है। पतिकृत वस्त्राहरण-रूप प्रतिबन्धके रहते भी लज्जालुत्व—कार्य-की उत्पत्ति हो गयी।

—"विभावना तृतीया स्यात्सत्यपि प्रतिबन्धके।" (कुवलयानन्द)

'लालचन्द्रिका' और 'रसचन्द्रिका'में ऐसा अर्थ किया है कि—

"पतिने रतिके लिये दीपकका उजाला भी हरा (दीपक बुताया) और वस्त्र भी हरा-(उतारा) पर तो भी छविकी ज्योतिके कारण (अँधेरा न हुआ) लाज न छुटी, सो पतिसे लिपट गई।"—

पर यह कल्पना ठीक नहीं, क्योंकि ऐसे समय पतिका स्वयं दीपक बुताना रसिक नायकोंके अनुभवविरुद्ध बात है। वह बुतावेगा या उस वक्त बुतते हुएको और चमकावेगा! काव्योंमें ऐसे अवसरपर नायिका ही सर्वत्र दीप बढ़ानेकी चेष्टा करती सुनी गयी है।

—'प्रतापचन्द्रिका'ने भी इसपर ऐसी ही अंधेरभरी "बार्ता" लिखी है :—

—"दीप-उजेर हू को हरत है अरु वसन हू हरत है, तऊ लाज न छुटी, अर्थ यह कि ॲध्याहारे (अन्धेरे) हू में लजाति है।"

—अर्थात् ऐसी लज्जाशीला है कि ॲधेरेमे भी लजाती है! इस प्रकार लज्जातिशयताद्योतनके लिये यह कल्पना की गयी है, पर जब छविकी छटासे ॲधेरा ही न रहा तो यह बात (ॲधेरेमे लजाना) भी न रही और यदि सचमुच ही "ॲधेरा हो गया" तो 'छविकी छटा'के साथ कविताका चमत्कार भी उड़ गया! इसलिये यह 'वार्त्ता' कुछ अच्छी नही रही!

समानलज्जाकामा-वर्णन

३२

समरस समर[1] सकोच-बस, बिबस न ठिकु ठहराय।
फिरि फिरि उझकति फिरि दुरति दुरि दुरि उझकति जाय॥

सखीका वचन सखीसे:—

अर्थ—(समर, सकोच)—स्मर—काम और सकोच—लज्जा (दोनों), (समरस)—बराबर हैं, (उनके)–(बस)—वशमें होकर (बिवस)—विवश—बेक़ाबू हुई, (ठिकु न ठहराय)—एक

1 "समरु समरु" व्रजभाषामें (बहुधा) अकारान्त शब्द मय उकारान्त है, 'समरु' स्मर- काम और 'सकोच' दोऊ सम, 'अरु' के अर्थमें 'रु' है, काम और सकोच (सम) बरोबरि है"— (हरिप्रकाश)

ठिकाने, ठीक तौरपर ज़रा नहीं ठहरती, (फिरि फिरि उझकति)–बार बार,रहरहकर उचकती है–देखनेके लिये ऊपरको उभरती है, (फिरि दुरति)–फिर छिप जाती है, (दुरि दुरि उझकति जाय)—छिप छिकर उचकती जाती है!

चपलता, औत्सुक्य और त्रपाकी सन्धि।

—"समानलज्जाकामा" नायिका छिपकर नायकको देख रही है, प्रेम उकसाता है तो देखनेको उचकती है, लज्जा दबाती है–(नायक न देख ले या उसे देखते कोई और न देख ले) तो नीचेको झुक जाती है, इसलिये बार बार उभरती है और बार बार छिपती है, न अच्छी तरह देखते ही बनता है, न बिना देखे ही रहा जाता है!

—यहाँ (हरिकविके मतसे) इतने अलङ्कार हैं —

'विवशता'से एक ठौर ठीक न ठहरनेको—बेक़रारीको—दृढ़ किया, इससे 'काव्यलिङ्ग'। भिन्नार्थक "समरस समरस" 'पदकी आवृत्तिसे 'यमक'। फिरि फिरि इत्यादिमें 'लाटानुप्रास'— (शब्द और अर्थ वही हों, भाव कुछ भिन्न हो, वह 'लाटानुप्रास') —इसप्रकार काव्यलिङ्ग, यमक, और लाटानुप्रास अलङ्कारोंकी 'संसृष्टि' है। जहां अलङ्कार एक दूसरेकी अपेक्षा नहीं करते, निरपेक्ष भावसे रहते हैं—'तिलतण्डुलवत्'-आपसमें मिले रहते है—वहाँ 'संसृष्टि' होती है। 'फिरि फिरि'- इत्यादि पदोंमें" आवृत्ति दीपक"का सन्देह है तो "सन्देह-संकर" भी है। 'फिरि फिरि' उझकति'में "कारक दीपक भी" है—

"उपकारक द्वै एक को जहँ सन्देह लखाय।
इक पद में भूषन बहुत 'संकर' सो कहि जाय॥"

—इसप्रकार "सङ्कर" के तीन भेद हैं:—

१—जहाँ एक अलंकार एकको पुष्ट करे।

२—जहाँ सन्देह हो कि यहां यह अलंकार है या यह है।

३—और जहां एक पदमे दो तीन अलंकार हों।

'प्रतापचन्द्रिका' ने "स्वभावोक्ति" और 'सकार रकारकी' आवृत्तिसे 'वृत्त्यनुप्रास' भी गिनाया है।

इसप्रकार यह दोहा अनेक शब्दालकारों और अनेक अर्थालंकारोंसे आक्रान्त और सर्वाङ्ग समलंकृत है।

३२

करे चाह सों चुटकि कै खरे उड़ौहैं मैन।
लाज नवाये तरफरत करत खूंद सी नैन॥

अर्थ—(मैन)—कामने—कामदेवरूप; चाबुक सवारने, (चाह सो चुटकि* के)—प्रीतिरूप चाबुकसे मारकर, (खरे उड़ौहैं करे)—अच्छे तेज उड़नेवाले किये। और (लाज नवाये तरफरत)—लज्जारूप बागसे खिंचे, तड़फड़ाते हुए (नैन, खूंद सी करत)—नेत्र, खूंद† सी कर रहे हैं—नाच से रहे हैं।

---

* चुटकि कै—कोड़ा मार कर।

† 'खूंद" लघुद्रुतगतिसे जमीनको काटते हुए चलना, जहाँसे पांव उठाया है फिर वहीं रखना।

—"चुटकना—मारनेको कहते हैं, और 'खूंद' घोड़ेके नाचनेको—(लल्लूलालजी)

—"खरे उड़ौहैं—मैन, चाहरूपी जो छड़ी, तासों मारिकै अति-उड़ौहैं किये।" (हरिप्रकाश)

ठिकाने, ठीक तौरपर ज़रा नहीं ठहरनी, (फिरि फिरि उझकति)-वार वार, रहरहकर उचकती है-देखनेके लिये ऊपरको उभरती है, (फिरि दुरति)-फिर छिप जानी है, (दुरि दुरि उझकति जाय)—छिप छिकर उचकती जाती है!

चपलता, औत्सुक्य और त्रपाको सन्धि।

—"समानलज्जाकामा" नायिका छिपकर नायकको देख रही है, प्रेम उकसाता है तो देखनेको उचकती है, लज्जा दबाती है-(नायक न देख ले या उसे देखते कोई और न देख ले) तो नीचेको झुक जाती है, इसलिये वार वार उभरती है और वार वार छिपती है, न अच्छी तरह देखते ही बनता है, न विना देखे ही रहा जाता है!

—यहाँ (हरिकविके मतसे) इतने अलङ्कार हैं—

'विवशता'से एक ठौर ठीक न ठहरनेको—वेक़रारीको—दृढ़ किया, इससे 'काव्यलिङ्ग'। भिन्नार्थक "समरस समरस" पदकी आवृत्तिसे 'यमक'। फिरि फिरि इत्यादिमें 'लाटानुप्रास'—(शब्द और अर्थ वही हों, भाव कुछ भिन्न हो, वह 'लाटानुप्रास')—इसप्रकार काव्यलिङ्ग, यमक, और लाटानुप्रास अलङ्कारोंकी 'संसृष्टि' है। जहां अलङ्कार एक दूसरेकी अपेक्षा नहीं करते, निरपेक्ष भावसे रहते हैं—'तिलतण्डुलवत्'-आपसमें मिले रहते है—वहाँ 'संसृष्टि' होनी है। 'फिरि फिरि'- इत्यादि पदोंमें "आवृत्ति दीपक"का सन्देह है तो "सन्देह-संकर" भी है। 'फिरि फिरि' उझकति'में "कारक दीपक भी" है—

"उपकारक द्वै एक को जहँ सन्देह लखाय।
इक पद में भूषन वहुत 'संकर' सो कहि जाय॥"

—इसप्रकार "सङ्कर" के तीन भेद हैं:—

१—जहाँ एक अलंकार एकको पुष्ट करे।

२—जहाँ सन्देह हो कि यहां यह अलंकार है या यह है।

३—और जहां एक पदमे दो तीन अलंकार हों।

'प्रतापचन्द्रिका' ने "स्वभावोक्ति" और 'सकार रकारकी' आवृत्तिसे 'वृत्त्यनुप्रास' भी गिनाया है।

इसप्रकार यह दोहा अनेक शब्दालकारों और अनेक अर्थालंकारोंसे आक्रान्त और सर्वाङ्ग समलंकृत है।

३२

करे चाह सों चुटकि कै खरे उड़ौहैं मैन।
लाज नवाये तरफरत करत खूंद सी नैन॥

अर्थ—(मैन)—कामने—कामदेवरूप चाबुक सवारने, (चाह सों चुटकि* कै)—प्रीतिरूप चाबुकसे मारकर, (खरे उड़ौहैं करे)—अच्छे तेज उड़नेवाले किये। और (लाज नवाये तरफरत)—लज्जारूप वागसे खिंचे, तड़फड़ाते हुए (नैन, खूंद सी करत)—नेत्र, खूंद† सी कर रहे हैं—नाच से रहे हैं।

---

* चुटकि कै—कोड़ा मार कर।

† "खूंद" लघुद्रुतगतिसे जमीनको काटते हुए चलना, जहाँसे पांव उठाया है फिर वहीं रखना।

—"चुटकना—मारनेको कहते हैं, और 'खूंद' घोड़ेके नाचनेको—(लल्लूलालजी)

—"खरे उठौहैं—मैन, चाहरूपी जो छड़ी, तासों मारिकै अति-उठौहैं किये।" (हरिप्रकाश)

—अभिलाषा और त्रपा भावकी सन्धि। समान-लज्जा-मदना मध्या नायिका।

कामरूपी चाबुक सवारने प्रेम की चाबुक मारकर ऊँचे उठा दिये और लज्जा की बाग से खींच कर नीचे झुका दिये, इस प्रकार तड़फड़ाते नेत्र रूप घोड़े मानो खूंद सी कर रहे हैं !

—जब, बछेरेको 'औंघी' मे फेरते वक्त, चाबुकसवार उसके चाबुक या कोड़ा मारता है, तो वह ऊपरको उछलता और फांदकर भागना चाहता है, परन्तु बागें खिंची रहनेके कारण भाग नही सकता, झुककर वहीं आ रहता है। चञ्चल घोड़ेकी इस दशाकी उपमा कविने चाहका चाबुक खाए हुए और लाजकी बागसे खिंचे हुए नेत्रोंसे दी है।

"उपमान-लुप्तोपमालंकार" है। नैन उपमेय हैं, 'सी' वाचक, और 'खूंद' धर्म, है पर 'हय' उपमान—लुप्त है।

"'नैन' यहा उपमेय है, 'सी' वाचक परमान।
'खूँद' धर्म, 'हय' ना कह्यो लुपा यह उपमान॥"

(अमरचन्द्रिका)

हरि कविके मतसे "अनुक्तास्पदा वस्तूत्प्रेक्षा" है, यथा:—
"..   खूंद क्रिया है, ता के आगे 'सी' वाचक है, जहां क्रियाके आगे वाचक, तहाँ "अनुक्तास्पदा वस्तूत्प्रेक्षालंकर जानिए"।

(हरिप्रकाश)—

उत्तरार्द्ध में रकारकी आवृत्तिसे "वृत्त्यनुप्रास" भी है।
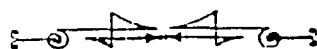
३४

छुटै न लाज न लालचौ प्यौ लखि नेहर गेह ।
सटपटात लोचन खरे भरे सकोच सनेह ॥

अर्थः—(प्यौ, नेहर† गेह लखि)—पतिको प्यौसालमें देख-कर, (न लाज, न लालचौ, छुटै—(न लज्जा छूटती है, न प्रियसे मिलनेका लालचही छूटता है । (सकोच सनेह भरे)—संकोच-लज्जा-और स्नेहसे भरे नेत्र (खरे सटपटात)—बहुत सटपटा रहे हैं—व्याकुल हैं—कि क्या करें कैसे मिलें !

नायिका, अपने पीहरमे है, वहीं नायक-देव पधारे हैं, नायिका मिलना चाहती है, पर नहीं मिल सकती । उसकी आँखोंमें प्रियसे मिलनेका लालच और पीहरकी लाज दोनों भाव बराबर भरे हैं । न वह लालच ही छूटता है, न यह लाजही छूटती है । और न इस दशामे व्याकुलता ही कम होती है !

"हया हटने नहीं देती इरादा नौ-जवानी का ।
इशारा होके रह जाता है हमपर महरबानी का !"

प्रीति और लज्जाभावकी —सन्धि है, इसलिये 'भाव-सन्धि' अलङ्कार है । प्रीति और लज्जा नायकविषयक भावके अङ्ग हैं । दोनोंका बराबरीका जोड़ है, न प्रीति ही कम, न लज्जा ही कम । नायिकाको दोनोका आस्वाद बराबर है, न इसे ही छोड़ सकती है न उसे ही !

"पर्याय" अलंकार भी है—

"एकस्मिन् यद्यनेक वा "पर्यायः" सोपि सम्मतः ।" (कुवलयानन्द)

—जहाँ एक (आधार)मे अनेक (आधेय) रहें, वह भी 'पर्याय' कहलाता है !

---

† 'नेहर'= प्यौसाल=पीहर=मायका= ये सब स्त्रीके पितृगृहके नाम हैं ।

—"एक विषे जहँ बहु धर्म सो 'पर्याय' प्रकास।
लोचन थलमें मटपटी मकुच नेहको बास।" (अमरचन्द्रिका)

जैसे यहाँ नेत्रमें, लज्जा, प्रीति और तज्जन्य व्याकुलताका वास है।

'प्रतापचन्द्रिका' के मतसे उत्तरार्द्धमें 'छेकानुप्रास' और "तुल्ययोगिता" भी है।

"भाव-सन्धि:— "एककालमेव तुल्यकक्षयोरास्वाद:, समकालमेव विरुद्धयोरपि तुल्यकक्षयोरास्वादो वा सन्धि:"

(काव्यप्रकाशटीका)

—एक ही साथ तुल्यरूप दो विरोधी भावोंके आस्वादको "भाव-सन्धि" कहते हैं।

"भावसन्धि वाको कहिए जहाँ दोइ सञ्चारी भाव होंय।"
(प्रतापचन्द्रिका)

३५

पिय बिछुरन कौ दुसह दुख हरष जात प्यौसार।
दुरजोधन लौं देखियत तजत प्रान इहिं बार॥

सखीका वचन सखीसे—

अर्थ:—(पिय बिछुरनको दुसह दुख)=प्रियके बिछड़नेका दुःसह दुःख है, और (प्यौसार जात, हरष)=प्यौसाल–पीहर जानेका हर्ष है। (इहिं बार, दुरजोधन लौं, प्रान तजत देखियत)=यह बाला (नायिका) दुर्योधनके समान प्राण छोड़ती दीखती है।

पितृगृह-गमनोद्यता नायिका। हर्ष विषादकी 'भावसन्धि'।

नायिकाको उसका भाई लेने आया है, वह सुसरालसे अपने प्यौसाल जा रही है, वहाँ जानेका उसे जितना अधिक हर्ष है, प्रियसे बिछड़नेका उतना ही असह्य विषाद है। यह देखकर सखी कहती है कि इस दशामें कहीं यह दुर्योधनकी * तरह प्राण न तज दे।

'वार'का अर्थ 'र' 'ल'की एकतासे बाल (ला) है। और 'हरिप्रकाश'में 'वार'का यह भी अर्थ किया है कि——

"हे सखि! यह नायिका प्राण छोड़ती है, इस तू 'वार' वरज, रोक— प्रान मत छोड़ने दे—अथवा 'इहि वार' इसदिन—प्यौसाल जानेके दिन"।

"पूर्णोपमालङ्कार"— दुर्योधन—उपमान। बाला —उपमेय। "लौं"—वाचक। "प्राण तजना" —धर्म।

—यहां लल्लूलालजीने 'इहिँ वार' के दो अर्थोंसे, उपमाके भी दो भेद दिखला दिये हैं। यथा - "इहि वार" में दो अर्थ-'इस समैं' और 'यह बाल'। रकार लकार एक है। पहले अर्थ —इस समयमें— 'उपमेयलुप्ता' और दूसरे —यह बाल— में पूर्णोपमालङ्कार है।"— 'अमरचन्द्रिका'में —'वार' का केवल 'समय' ही अर्थ मानकर 'उपमेयलुप्तालंकार' कहा है। यथा— "दुरजोधन लौं तजत प्रान। नायिका नहीं"— उन्हें (सुरतिमिश्रको) 'वार' के श्लेषमें छिपी (उपमेय) —नायिका नज़र नहीं आती!

---

* कहते हैं दुर्योधनको शाप था कि जब तुम्हें एक साथ हर्ष शोकका आवेग बराबर होगा तब प्राण निकलेंगे। वह भीमकी गदाके प्रहारोंसे विक्षताङ्ग रणभूमिमें पड़े सिसक रहेथे, जब "सौप्तिक पर्व"में अश्वत्थामा पाँचों पाण्डव-पुत्रोंके सिर काटकर उनके पास लाये तो उन्होंने दूरसे देखकर समझा कि यह पांचों पाण्डवोंके सिर उतार लाये हैं, इसलिये हर्ष हुआ, पर पास आनेपर देखा कि हा! पाण्डु-पुत्र नहीं किन्तु 'पाण्डव-पुत्र' मारे गये! इसी हर्ष शोककी सन्धिमें दुर्योधनके प्राण निकल गये॥

हरखि। प्यौसाल। दुरजोजन। बाल। इति पाठान्तराणि।

—"प्रतापचन्द्रिकामें" यहां "दृष्टान्तालंकार" माना है। और यह टिप्पनी चढ़ायी है—"दृष्टान्तालङ्कार। दुरजोधन कूँ प्रान तजती बेर हरप शोक भयो– तैसो याको हरप शोक भयो, इहा प्रान तजिबो नहीं लीजे। वैधर्म्य।" — (वैधर्म्य दृष्टान्त)

इस दोहेका यह अनुवाद संस्कृत–"यशवन्तयशोभूषण"में 'भाव-शवलता' के उदाहरणमें है—

"भर्तुर्वियोग-भावि दुःख, हर्षः पितुर्गृह गतुम्।
दुर्योधनवद् बाला प्राणवियोगं समाप्स्यति॥"

न्यूनलज्जा मध्या-वर्णन

३६

पति रतिकी बतियां कही सखी लखी मुसकाय।
कै कै सबै टलाटली अली चली सुख पाय॥

सखीका कथन सखीसे—

अर्थ—(पति रतिकी बतियां कही)—पतिने (नायिकासे) रतिकी बात कही, उसने (मुसकाय सखी, लखी)—मुसकराकर, सखीको देखा। अथवा–'नायक' अर्थाक्षित। 'पति-रति' समस्तपद। पति-रति की—पतिकी तरह रति करने–(पुरुषायित)–की बात नायिकासे (नायकने) कही। (मुसकाय सखी लखी)—नायिकाने मुसकराकर सखीको देखा। या—सखीने नायिकाको मुसकराकर देखा! (सबै अली, टलाटली कै कै)— सब

सखियां टलाटली † करके– वहाने वना वनाकर (सुख पाय चली)—सुख पाकर चल दीं।

नायिकाके पास कुछ सखियां बैठीं इधर उधरकी बातें कर रही थीं। नायकने वहां पहुचकर नायिकासे चुपकेसे एक गुप्त प्रस्ताव कर दिया, जिसका भाव समझकर चतुर सखियां वहाने वना वनाकर वहांसे उठ खड़ी हुईं— मकान खाली कर गयी!

'पर्य्यायोक्ति' अलंकार है —

"पर्य्यायोक्तन्तदप्याहुर्यद्व्याजेनेष्टसाधनम्।" (कुवलयानन्द)

"छल कर साधिय इष्ट जहँ पर्यायोक्ति सुगाय।
उठिगो इष्ट सु मिसनिसो उठीं यहा यह भाय॥" (अमरचन्द्रिका)

पूर्वार्द्धमे "छेकानुप्रास," और उत्तरार्द्धमे "वृत्त्यनुप्रास" है।

यदि 'मुसकाय' का सम्बन्ध, 'सखी' से समझा जाय अर्थात् 'सखीने मुसकराकर देखा'—ऐसा अर्थ किया जाय—तो परमानन्द कविके मतमें यहां 'पिहित' अलङ्कार होगा.—

" पिहित परवृत्तान्तज्ञातुः साकूत-चेष्टितम्। "
"प्रिये गृहागते प्रातः कान्ता तल्पमकल्पयत्।" (कुवलयानन्द)

"पिहित, छिपी पर बातको जानि दिखावे भाय।
प्रातहि आये पीयको [मज पिय] हँसि दावत तिय पाय॥"

(भाषाभूषण)

—दूसरेकी छिपी वातको किसी भावसे जता देना 'पिहित' अलकार है। सखीने 'मुसकराकर' नायिकाको जता दिया

† टलाटली—टाल मटोल करना—वहाना बनाना।
"टलाटली कै कै—एकको, एकने धक्का दिया एकको एकने धक्का दिया—ऐसे टलाटलीके छल से घर सूना करना इष्ट साधा।" (हरिप्रकाश)

कि हम तुम्हारे नये प्रस्तावको समझ गये हैं । लो मौज करो, हम जाते हैं ।

इसी विषयका यह एक पद्य 'अमरुक-शतक'में है : —

"त्वं मुग्धाक्षि ! विनैव कञ्चुलिकया धत्से मनोहारिणीं,
लक्ष्मीमित्यभिधायिनि प्रियतमे तद्वीटिकासंस्पृशि ।
शय्योपान्तनिविष्टसस्मितसखीनेत्रोत्सवानन्दितो,
निर्यातः शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः ॥"

—हे सुन्दरनयने ! तू विना चोलीके ही मनोहारिणी शोभाको धारण करती है—(अर्थात् वैसे ही अच्छी लगती है, इसे उतार दे)—यह कहकर प्रियतम (खोलनेके लिये) चोलीकी घुन्डी छूने-टटोलने-लगा । नायिका जो चारपाईसे लगी बैठी थी, उसने मुसकराई हुई दृष्टिसे सखियोंकी ओर देखा, जिससे प्रसन्न हो, सखियां बहाने बना बनाकर, शनैः शनैः एक एक करके वहांसे खिसक गयीं !

—अमरुकके इस श्लोकका और विहारीके दोहेका भाव एक ही है । दोहेमे पति "रतिकी बतियाँ" कहता है, (खुलासा या इशारोंमें छिपा कर, यह छिपा हुआ है !) और पद्यमे वह खुल्लम खुल्ला चोली उतारनेपर उतारू है ! वहां भी १-सखी (नायिका) अपनी आलियोंको ओर मुसका-कर देखती है जिससे वे (२–अली) सुख पाकर और ३-"टलाटली" करके (बहाने बना बना कर) चल दी हैं। यहांभी · · १-"सस्मितसखीनेत्रोत्सवानन्दित·" २-आलीजन , ३-"अलीक-वचनोपन्यासम्, शनकैर्निर्यात· ।" ये वाक्य इन्हीं बातोंको जता रहे हैं। तद्यथा:—"अलीकवचनोपन्यासम्" और "टलाटली" एक ही बात है। "आलीजनो निर्यातः" और "अली चली"— में भी कुछ भेद नहीं है। एवं "सखी लखी मुसकाय" तथा "सुखपाय" का भाव " · · ··सस्मितसखीनेत्रोत्सवानन्दित·" इस एक समस्त वाक्यमें आ गया है। इतना होने पर भी 'विहारी' पीछे नहीं रहे,

उन्होंने अमरुकके "शार्दूलविक्रीडित"का दोहेकी दुनाली (बन्दूक) से अच्छा मुक़ाबला किया है! जो बात अमरुकने इतने लम्बे छन्दमें कही है, वही बिहारीने छोटेसे दोहेमें बड़ी सफ़ाईसे कह दी है!

३७
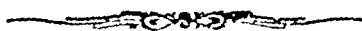
सकुच सुरत आरंभ ही बिछुरी लाज लजाय।
ढरकि ढार ढुरि ढिग भई ढीठ ढिठाई आय॥

सखीका वचन सखीसे—

अर्थः—(सुरत आरंभ ही)— सुरतके प्रारम्भमें ही (सकुच, लाज लजाय, बिछुरी)— नायिकाका संकोचभाव या सुकड़ना—अङ्गोंको समेटना— वदन चुराना—सो मानो लज्जासे लजाकर बिछड़ गया—विदा हो गया! लज्जा भी लज्जित होकर चलती बनी! यह भाव। (ढीठ ढिठाई आय)— और, ढीठ जो ढिठाई है सो, आकर (ढार * ढुरि † ढरकि ढिग भई)— ढार— अच्छी तरह ढुरि— प्रसन्न होकर, ढरकि— लुढ़ककर— सरककर-ढिग भई— समीप आ गयी! लज्जाके दूर होते ही ढिठाई पास सरक आयी!

—स्वयं लज्जाका लज्जित होकर चल देना और ढिठाई-का ढीठ बनकर आ मौजूद होना, लज्जाके अभाव और

* ढार- यह वस्तु सुढार है, सुन्दर है। † ढरि-'ढरिबो' राजी होना— "जापै दीना नाथ ढरैं" (हरिप्रकाश)

धृष्टताकी सर्वतोमुखी प्रभुताके साथ नायिकाकी प्रौढता और 'रतिकोविदता'को प्रकट करता है। उत्प्रेक्षा-व्यञ्जक 'इव' आदि शब्दके न होनेसे यहां "गम्योत्प्रेक्षा" है। यथा:—

"नहि वाचक 'मानो' 'किधौं' सभावन सु लखाय।
'गम्योत्प्रेक्षा' कहत तहँ जे पण्डित कविराय॥"

वर्णमैत्री रूप 'वृत्त्यनुप्रास' भी स्पष्ट ही है।

"वृत्त्यनुप्रास हु जोइ, वर्णमित्रता होइ।" (अनवरचन्द्रिका)

तथा 'पर्य्याय'का द्वितीय भेद भी है। यथा—

"एकस्मिन् यद्यनेक वा 'पर्यायः' सोऽपि सम्मत।"
"अधुना पुलिन तत्र यत्र स्रोतः पुराऽजनि॥" (कुवलयानन्द)

सो, लज्जा गयी ढिठायी आयी—लज्जाके स्रोतकी जगह ढिठाईका विपुल पुलिन दिखाई देने लगा! कैसा अच्छा 'पर्याय' है!

परमानन्द कविने उक्त दोहेका यह अनुवाद किया है:—

"संकोचः सकुचित इव त्रपाऽभवत् त्रपितेव।
सुरतारम्भे धृष्टता परिपुष्टा मुदितेव॥"

—" 'सकोच '— सुरताभिलापेऽपि लज्जाधीनतयाऽनाश्लेष म तु सकुचित इवाभवत्। वदनानुद्‌घाटनरूपा 'त्रपा' तु स्वयमेव त्रपिना इवाभत्। किन्तु तर्हि मुदिता सुप्रसन्नेव सती केवल "धृष्टता"— सर्वाङ्गश्लेपरूपा परितः पुष्टाऽभवदित्यर्थः।" (शृङ्गारसप्तशती)

यहाँ 'हर्ष' सञ्चारी भाव, आलम्बन—चेष्टारूप 'उद्दीपन विभाव' और 'केलि' संज्ञक हाव-विशेष, रति स्थायी भावके पोषक हैं।

एक संस्कृतकविने भी ऐसे मौकेपर 'लाजके लजाने'-का 'नोटिस' लिया है—

"प्रेयसि प्रणयलालनापरे, नीविबन्धमथ मोक्तुमिच्छति ।
निर्गते परिजने नतभ्रुवो लज्जयेव निरगामि लज्जया ॥"

—प्यारे-ललन लाड दुलार करते करते जब कपडे उतारने-(नीविबन्ध-मोक्ष)-पर उतारू होगये तो पहले वहासे शरमाकर सखियां खिसकीं फिर पीछेसे लज्जित होकर लज्जा भी चल दी !
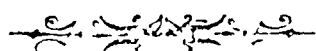
"समस्तरस[रति]-कोविदा-प्रौढा वर्णन"

३८

सब अँग करि राखी सुघर नायक-नेह सिखाय।
रस-जुत लेत अनन्त गति पुतरी-पातुर राय ॥

सखीका वचन नायकसे :— ❀

अर्थ:— (नायक-नेह)— स्नेहरूप नायक† = 'उस्ताद'ने (सब अङ्ग सिखाय, सुघरि, करि राखी)— नाचनेके सब अङ्ग सिखलाकर सुघड— चतुर— कर रखी है, ऐसी जो

❀ नायिका "वासकसज्जा" उसकी चंचल दृष्टि देख सखी नायकसे कहती है' (हरिप्रकाश)। "वासकसज्जा नायिकाकी दूती, नायकसे नायिका-की उत्कण्ठा कहती है"—(प्रतापचन्द्रिका)। "सखी नायकसे नायिका-के नेत्रकी पुतलियोंकी शोभा कहती है"। — (लालचन्द्रिका)
† 'नायक'का अर्थ यहाँ नाच सिखाने वाला 'उस्ताद' है।

(पुतरी-पातुरराय)— पुतली-रूप पातुरराय— नाचनेवाली स्त्रियोंकी सरदार है, वह (रसजुत अनन्त गति लेति)—रस-युक्त होकर अनन्त गति लेती है— थिरकइयां अर्थात् तोड़े ले रही है।

—पुतली मानो एक पातुरराय है— साधारण पातुर नाचनेके एक आध अङ्ग ही जानती हैं, यह सब अङ्गोंमें निपुण होनेसे 'पातुरोंकी सरदार' है! इसे सिखाने वाला 'उस्ताद' भी कोई साधारण व्यक्ति नहीं है, स्वयं 'स्नेह'ने इसे बड़े ही स्नेहसे शिक्षा दी है। जिसे ऐसे कामिल उस्तादने सिखाया हो, उसके 'पातुरराय' होने और रसयुक्त अनन्त गति लेनेमें क्या सन्देह है! (गतिसे अभिप्राय यहां नाचने-की 'उरप तिरप' आदि गतियों, और पुतलीके फिरनेसे है)

सखी नायकसे कहती है, कि नायिकाके नेत्रकी नृत्यशालामें पातुरराय—पुतली रसमें मस्त हुई नाच रही है, चल कर देखिए तो!

हरि कविने लिखा है कि—

"—नाचनेके चार अङ्ग है—नाचना, गाना, बजाना और भाव बताना। 'पुतली'के पक्षमें चार अङ्ग- कहना, नटना, (मुकरना), रीझना (प्रसन्न होना) और खीझना (नाराज होना) ये दृष्टिकी चेष्टा-विशेष समझनी चाहियें।"

भारतेन्दु श्रीहरिश्चन्द्रजीने अपनी "नाटक" पुस्तकमें 'नृत्त'-के विषयमें लिखा है कि :—

"'नृत्त'के शास्त्रोंमें १०८ भेद लिखे हैं और लागडाट, उरप, तिरप, हस्तक भेद, इत्यादि इसके अङ्ग हैं।"

अलङ्कार— समस्तवस्तुविषय सावयव "रूपक" है।

—यहाँ 'पुतरी-पातुर' इस एक पदमें 'अनुप्रास' और 'रूपक'का प्रवेश (मेल) होनेसे "एकवाचकानुप्रवेश"-"संकर" अलङ्कार भी है।

—जहां एक पदमे 'शब्दालङ्कार' और 'अर्थालंकार'का मेल हो, वहां "एकवाचकानुप्रवेश"—"संकर" होता है। जैसे यहां "पुतरीपातुरराय" इस एक पदमे 'छेकानुप्रास' शब्दालङ्कार और 'रूपक' अर्थालंकारका मेल है।

किसीके मतमे केवल अर्थालंकारोंका भी "एकवाचकानुप्रवेश-संकर" होता है।

मदन-मत्ता-प्रौढा-वर्णन

३९
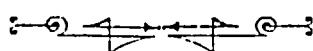
बिहँसि बुलाय बिलोकि उत, प्रौढ तिया रस घूमि।
पुलकि पसीजति पूत को, पिय-चूम्यौ मुख चूमि॥

सखीका वचन सखीसे—

अर्थ—(प्रौढ तिया)—प्रौढा नायिका, (रस घूमि)-रससे घूमकर—झूमकर—अनुरागमे मस्त होकर (बिहँसि बुलाय)—हँसकर और (पुत्रको पास) बुलाकर (उत बिलोकि)—उधर-पतिकी ओर-देखकर, (पूतको पिय चूम्यौ मुख चूमि)—पुत्र (सपत्नी-पुत्र) के पतिसे चूमे हुए मुखको चूमकर, (पुलकि पसीजति)— पुलकित हो पसीजती है।

मदनाधिका प्रौढा नायिकाके पतिने उसके सामने अपनी दूसरी पत्नीके पुत्रका मुख चूमा है, सो पतिके चूमे हुए

उस पुत्र-मुखको चूमकर मदनान्धा नायिकाको सात्विक भाव (रोमाञ्च, प्रस्वेद) प्रकट हो आया। साहित्यदर्पणकारने—

"जृम्भते स्फोटयत्यङ्ग बालमाश्लिष्य चुम्बति"—

—जँभाई लेना, अँगड़ाई तोड़ना, किसी बच्चेको लिपटाकर चूमने लगना, इत्यादि चेष्टाओंको अनुराग-सूचक अनुभावोंमें गिनाया है। और यही प्रकरण कामसूत्रमें भी आया है—

"बालस्यांकगतस्याऽऽलिंगन चुम्बनञ्च करोति।"

यहां (दोहेमें) 'मद'संज्ञक सञ्चारी भाव और 'हेला' हाव है। मद्य-पानसे या कामावेश आदिसे उत्पन्न आनन्दमिश्रित मस्तीको "मद" कहते हैं। अत्यन्त बढ़े हुए रसावेशको प्रकट करनेवाली चेष्टा, 'हेला' कहलाती है। यथा—

"सम्मोहानन्दसम्भेदो मदो मद्योपयोगजः।" (साहित्यदर्पण)

"विवेकहर उल्लासो 'मदः' स द्विविधो मतः।
मधुपानभवोऽनङ्गभूतविद्याभवोऽपि च॥"
"'हेला'ऽत्यन्तरसावेशप्रकाश-करणात्मिका।"

अलंकार—"असङ्गति" का दूसरा भेद है:—

"अन्यत्र करणीयस्य ततोऽन्यत्र कृतिश्च सा।" (कुवलयानन्द)
"और ठौर ही कीजिए और ठौरका काम।" (भाषाभूषण)

प्रियका मुख चूमना चाहिये, लड़केका ही चूमने लगी!

सोरठा—"मन मनमथमद धारि चहिए प्रियमुख चूमिबौ।
चूम्यो सुतमुख नारि सु "असगति" यह जान चित॥" (अमरचन्द्रिका)

पूर्वार्द्धमे 'चकार' और उत्तरार्द्धमे 'पकार' की आवृत्तिसे "वृत्त्यनुप्रास" भी है—

—"वृत्य (वृत्ति-अनुप्रास) एक वहु वर्न की वहुबिर समता मानि।"(अ०च०)
परमानन्द कविके मतसे यहां "स्वभावोक्ति" अलंकार भी है।

४०

सोवत लखि मन मान धरि ढिग सोयो प्यौ आय।
रही सुपनकी मिलन मिलि पिय हियसों लपटाय॥

(सखीका वचन सखीसे)

अर्थ—(मन मान धरि)—मनमें मान धारण किए (नायिकाको) (सोवत लखि)—सोती देखकर, (प्यौ ढिग आय सोयो)—प्रिय—नायक, पास आ सोया,(सुपनकी मिलन मिलि)—सुपनेके मिलनेके ढगसे वह—नायिका-(पिय हिय सों लपटाय रही)—प्रियतमकी छातीसे लिपट गयी !

—नायिका मान किए सो रही थी, नायक भी पास आकर पड़ रहा, मान मनमें था, प्रकटमें नहीं, नायक इस बातको समझ गया। प्रकाशरूपसे मनानेमें कदाचित् मान और बढ़ जाय, इसलिये उसने छेड़ा नहीं, वैसे ही आकर चुपचाप लेट गया। नायिकाने भी प्रकाशरूपसे मान छोड़नेमें अपनी 'मानहानि' समझी, सो सुपनेके बहानेसे सहजमें करवट बदलकर लिपट गयी! 'अवहित्था' की चतुराईसे आन्तरिक भावको छिपाकर काम निकाल लिया ! मान भी बना रहा, काम भी बन गया। न उसे मनाना पड़ा, न इसे स्वयं मान छोड़कर हलका होना पड़ा, दोनो की बात रह गयी !

अलंकार—"पर्यायोक्ति" स्पष्ट है —

"सुपन मिलन मिस धारि, इष्ट सिद्ध किय नारि ।" (अमरचन्द्रिका)

—विना यत्नके वाञ्छितार्थकी सिद्ध—मानकी मुक्ति और प्रियोपभुक्ति—प्राप्त हो गयी, इससे "प्रहर्षण" अलंकार भी है।

"उत्कण्ठितार्थसंसिद्धिर्विना यत्नं प्रहर्षणम् ।" (कुवलयानन्द)

"तीन "प्रहर्षण" जतन बिन वाछित फल जो होय ।" (भाषाभूषण)

"तिय हिय"में 'छेकानुप्रास' भी है।

संयोग शृङ्गार- स्थायी भाव। अवहित्था और चपलता सञ्चारी भाव। पूर्ण त्रपा—अनुभाव। ईर्ष्या भावकी शान्ति। हर्ष भावका उदय।

इस दोहेके भावसे मिलती एक प्राकृत "गाथा" है। :—

"भरिमो से सअणपरम्मुहीअ विअलन्तमाणपसराए ।

कइअवसुत्तव्वत्तणथणकलसप्पेल्लणसुहेल्लिम् ॥"

(गाथासप्तशती)

("स्मरामस्तस्याः शयनपराङ्मुख्या विगलन्मानप्रसरायाः ।
कैतवसुप्तोद्वर्त्तन-स्तनकलश-प्रेरण-सुखकेलिम् ॥" ४।९८)

× × ×

—मान धारण किए मुह फेरे लेटी हुई उसने, मानका वेग कम होनेपर स्वप्नके बहाने करवट बदलकर स्तन-कलशकी जो टक्कर लगायी है—धरकर धकेला है—उस मजे की कैफियत नहीं भूलती, अवतक याद है ! —

परकीया-वर्णन

४१

त्रिवली नाभि दिखायकै सिर ढकि सकुचि समाहि।
गली अलीकी ओट ह्वै चली भली विधि चाहि॥

(सखीका वचन सखीसे) ❀

अर्थः— (सिर ढकि)– सिर ढककर–सिर ढकनेके बहाने-से, (त्रिवली, नाभि दिखायकै)– त्रिवली–पेटकी सलवटों और नाभिको दिखला कर, (सकुचि, समाहि)–फिर, संकोचमे आकर कृत्रिम लज्जासे युक्त होकर। या 'समाहि' समाहित हो–सँभलकर (भली विधि चाहि)– अच्छी तरहसे (नायकको) देखकर, (†अलीकी ओट ह्वै, गली, चली)– सखीकी ओटमे होकर गलीमें चली गयी।

नायकके सामने होकर सखीके साथ परकीया क्रिया-विदग्धा नायिका जा रही थी, सो उसने नायकको एक ढंग (अदा)से त्रिवली आदि दिखलाकर अपना अनुराग व्यञ्जित किया!

केश और वस्त्र सँभालनेके बहानेसे नाभि आदिका दिखाना नायिकाके अनुरागेङ्गित प्रकरणमें साहित्य-ग्रन्थोंमे गिनाया है। —

❀ "नायककी उक्ति होइ तो स्मृति गुण-कथन ते पूर्वानुराग व्यङ्ग्य। नायिका 'क्रियाविदग्धा' है। अथवा जिन सखीने लखी है सो सखी सखी सो कहति है, तं लज्जिता परकीया। 'स्वभावोक्ति' अलकार।" (अन० चन्द्रिका)

†"अली अलीकी ओट ह्वै" अली- नायिका—भली तरह चाहिके—देखिके—अली— सखीकी ओट ह्वै के चली।" (हरिप्रकाश)।

" 'चाह'का अर्थ देखना है।' (रसचन्द्रिका)

"कापि कुन्तलसव्यानसंयमव्यपदेशतः ।
बाहुमूलं स्तनौ नाभि-पङ्कजं दर्शयेत्स्फुटम् ॥" (साहित्यदर्पण)

"स्वभावोक्ति" और 'वृत्त्यनुप्रास' अलङ्कार हैं। यदि वक्ता इस कथनद्वारा अपने पूर्वानुभूत साक्षात्कारका वर्णन कर रहा है, तो 'भाविक' अलङ्कार भी है:—

"भाविकं भूतभाव्यर्थसाक्षात्कारस्य वर्णनम् ।" (कुवलयानन्द)

४२

देखत कछु कौतुक इतै देखौ नेक निहारि ।
कब की इकटक डटि रही टटिया अँगुरिनि फारि ॥

(सखीका या दूतीका वचन नायकसे)†

अर्थः— (देखत कछु कौतुक)– तुम कुछ तमाशा देखते हो? (इतै नेक, निहारि देखो)– ज़रा इधर निहारके–ध्यानसे देखो। (टटिया अँगुरिनि फारि)–टट्टीको उँगलियोंसे फाड़कर, (कबकी इकटक डटि रही)– कबकी एकटक हो डट रही है— टकटकी लगाए ध्यानसे खड़ी देख रही है!

टट्टीकी ओटमें खड़ी नायिका, नायकको देख रही है, नायकने उसे नहीं देखा, सखी कहती है कि तुमने यह नया तमाशा भी देखा? ज़रा इधर तो देखो, यह कौन कितनी देरसे नजर जमाए देख रही है! तुम्हारा ध्यान कहां है, ज़रा देखो तो! क्या तमाशा है!

---

† नायिका पूर्वानुरागमें नायकको देखे है, तब दूती नायकसों कहति है— "एकटक होयके डटि रही है- अटकर खरि निहारि रही है यह अर्थ।" (हरिप्रकाश)

"क्या तमाशा है कि चिल्मनसे लगे बैठे हैं।
साफ छिपते भी नहीं सामने आते भी नहीं॥"

"स्वभावोक्ति"। तथा 'देखौ' 'निहारि' में "अर्थावृत्ति दीपक" भी है।

एक "आर्या" भी कुछ इससे मिलती जुलती है:—

"त्वयि सर्पति पथि दृष्टिः सुन्दर! वृतिविवरनिर्गता तस्याः।
दरतरल-भिन्नशैवल-जाला शफरीव विस्फुरति ॥२६७॥"

(आर्यासप्तशती)

—हे सुन्दर! जब तुम मार्गमें चलते हो तो उस (नायिका)की दृष्टि तुम्हें देखनेको बाड़के छिद्रमेंसे निकली हुई ऐसी चमकती है जैसे सिरवालके जालको फाड़कर उसमें फँसी मछली चमकती है।

"वृतिविवरनिर्गता' —"टटिया अँगुरिनि फारि"—"कचकी इकटक डटि रही"—"दरतरलभिन्नशैवलजाला"—आर्या और दोहेके इन पदोंमे सादृश्य है।—सिरवालके जालमें फँसीहुई मछली भी "दरतरल"—चञ्चलता छोड़कर स्थिरसी हो जाती है— चञ्चलतापूर्वक तड़पना भूल जाती है—चञ्चल दृष्टि भी रूपजालमें अटकी इकटक हो डट रही है।

परकीया प्रथम मिलन वर्णन

४३

भौंहनि त्रासति मुख नटति आँखिन सौं लपटाति।
ऐंचि छुरावति कर इँची आगे आवति जाति॥

(सखीका वचन सखीसे) *

अर्थः— (भौंहनि त्रासति)=भौंहोंसे डराती है, (मुख नटति)=मुंहसे इन्कार करती है, (आँखनि सौं लपटाति †)= आंखोंसे लिपटती जाती है। (ऐंचि कर छुरावति)=खींचकर- झटककर- हाथ छुड़ाती है, पर (इँचो आगे आवति ‡ जाति) आप खिंचो हुई सी आगेको (नायकके पासको) आती जाती है।

"स्वभावोक्ति"का उत्तम उदाहरण है। घटना-विशेषका बड़ा सुन्दर शब्द-चित्र है। 'त्रासति' 'नटति' आदि कई क्रियाओं- का एकही कर्त्ता कारक (नायिका) है, इससे "कारकदीपक" भी अपना स्वच्छ प्रकाश सारे दोहेपर डाल रहा है, जिसमें अनेक भाव भासित हो रहे हैं—

—"कारकदीपक एकमें क्रमतें भाव अनेक"—

तीसरी "विभावना" का भी अच्छा नमूना है—

"प्रतिबाधकके होत हू कारज पूरन होइ।
तीजो भेद विभावना यह जानत सब कोइ॥"

—सो देखिए यहाँ "कारक दीपक"के प्रकाशमें एक नहीं कितने ही प्रतिबन्धकोंके होते हुए 'कारज पूरन' हो गया!

---

* "नायककी उक्ति सखीके प्रति, रतिकोविदा प्रौढ़ा। (प्रतापचन्द्रिका)

† "आंखनि सौं लपटाति जाति है—प्रीतिसो देखति है।" (हरिप्रकाश)

‡ "आवत जाति"— कहैं हौले हौले आती है।" (लल्लूलालजी)

कितनेही प्रतिबन्धक हुआ करें, कैसेही "दीपकका प्रकाश" हो, स्वाभाविक घटना कभी रुक सकती है! 'दीपक' के प्रकाशमें क्या, दिनमे गाड़ियां लड़ जाती हैं!

—भौंहोंका डराना, मुंहका मना करना, हाथका झटकना, ये सब बाधक देखते ही रह गये और काम होगया! बेचारोंनि अपनी ओरसे बहुत ज़ोर लगाया, पर एक 'आंखोंके लिपटने'ने सबको लपेट रक्खा! इस Tug of war में आंखें अपनी पार्टी (गोल)को छोड़कर यदि प्रतिद्वन्द्वीकी ओर न जा मिलतीं— उधरको न खींचतीं— तो ऐसा कभी न होता जैसा यह हुआ! अन्धेरकी बात है 'आंख' अपनी 'भौंह'का साथ छोड़कर उधर जा मिले! कोई किसका विश्वास करे! स्वार्थ बुरी बला है, यह आपसमे फूट डलवा ही देता है!

इस मामलेकी कृष्णकविने जो कैफ़ियत लिखी है, उससे वारदातका पूरा पता चल जाता है:—

कवित्त—

"प्यारे पानि गह्यो आनि भौनमे अकेली जानि,
नैनन चढायके सलोनी ससिरात है।
नैनन हँसौंहें दीठि राखत है सोंहैं,
मुसकाय कै लजौहैं अङ्ग अङ्ग टहरात है।
भयो मन भायो ज्यों सुरत सुख पायो,
हिये आनँद बढायो नेक नेकनि डरात है।
झटकि छुड़ावै बाहि मिल्यो चाहै मन माहिं,
करै नाहीं नाहीं याही मिस नियरात है॥"

बिहारीके इस दोहेके उत्तरार्धको थोड़े हेर फेरसे 'रत्नाकर'ने "कुट्टमित" हावके उदाहरणमें मिला लिया है। यथा:—

"कर ऐंचत आवत ईंची तिय आपहि पिय ओर।
झूठि हुँ रूठि [सी]रहै छिनक छुवत छराको छोर॥"
(जगद्विनोद)

—(इसपर भूमिका भाग पृ०११६ पर लिखा जाचुका है)

४८
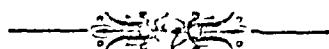
देख्यौ अनदेख्यौ कियौ अँग अँग सबै दिखाय।
पैठतिसी तनमें सकुचि बैठी चितै लजाय॥

(सखीका वचन सखीसे)※

अर्थः—(सबै अँग अँग दिखाय)—(नायिकाने) अपने सब अंग अंग नायकको दिखलाकर, (देख्यौ अनदेख्यौ कियौ)— नायकके देखनेको अनदेखा कर दिया! (चितै‡ लजाय)— फिर लज्जित हो देखती है, और (सकुचि, तनमे पैठतिसी बैठी)— संकोचसे अपने शरीरमे मानो घुसती हुई सी बैठ गयी !

—लज्जासे ऐसी सिमटकर —सुकड़कर— बैठ गयी मानो शरीरमे घुसी जाती है !

※"यह नायिका परकीयाको चितैकै लाज करिबो, (देखकर लज्जा करना) देखो, (देखा) सो नायक सखी सो कहत है।" (कृष्णकवि)

‡यहाँ अङ्ग अङ्ग—'वीप्सा'की विद्यमानतामें 'सबै'को शायद व्यर्थ समझकर हरिकविने 'सबै'का अर्थ 'समानवयस्का' सखीका संबोधन किया है—"हे सखी!"। फिर यह भी लिखा है— "सब अङ्ग अङ्ग "ऐसे भी कहत हैं।" ‡"चितै लजाय" का अर्थ किया है—"अपने चित्तमें लजाय कै"। यह भी सम्भव है, पर यहाँ "चितै"का अर्थ 'देखती है'—यही अच्छा मालूम होता है।

नायक नायिकाकी ओर देख रहा है, उसने भी यह देख लिया है, पर 'अनदेखा' करके— मानो कोई देख ही नहीं रहा!— एक ढंगसे नायकको अङ्ग दिखला दिये, जब जान लिया कि हाँ, उसने अब अच्छी तरह सब अङ्ग अङ्ग देख लिया है, तो उधर नजर उठा कर देखा, आँख-से आँख मिल गयी—

—अब इसे भी छिपाने और यह भाव जतानेको कि मुझे यह मालूम न था सामनेसे कोई देख रहा है, मालूम होता है कि तुमने मुझे इस दशामें देख लिया है! लज्जासे ऐसी सुकड़कर बैठ गयी मानो अपने शरीरमें (कछुवेकी तरह!) धसी जाती है!

बहानेसे एक एक करके सारे अङ्गोंकी प्रदर्शनी करा-कर, 'क्रियाविदग्धता'का परिचय दे दिया, फिर लज्जित हो सुकड़कर ऐसी बैठ गयी मानो यों ही अचानक धोखेसे यह इस अनावृत दशामें देख ली गयी है! पहलेसे मालूम होता कि कोई सामने खड़ा देख रहा है तो यों सुकडकर बैठती जैसे अब बैठी है! —"चितै लजाय"— लजाकर देखनेसे यह भाव अभिव्यक्त कर रही है!

"स्वभावोक्ति" है। और वह भी "पैठति सी तनमें,"में बहुत अच्छी! —इसी "पैठति" से 'अमरचन्द्रिका'वाले सिर्फ 'स्वभावोक्ति' और हरिकवि— "पैठति सी" पैठति क्रिया है, ताके आगे 'सी' वाचक है, याते "अनुक्तास्पदा वस्तूत्प्रेक्षा" —निकाल रहे हैं। प्रतापचन्द्रिकावाले —"नहीं हेत फल सम्भवै क्रियसों वाचक जोग।" 'पैठति' क्रिया 'सी' वाचक के जोग है।"— टिप्पनी चढ़ाकर " हरिकवेः (?)"

की पुष्टि कर रहे हैं। 'देख्यो(अन !)देख्यो' में लाटानुप्रास (!) और 'अङ्ग अङ्ग'में (वीप्सा) भी गिना रहे हैं !

तथा परमानन्द कवि यहां 'पर्यायोक्ति' भी बतला रहे हैं, कि इस बहानेसे अङ्गप्रदर्शनरूप अपने इष्टकी सिद्धि नायिकाने की है। सो यह भी सही।

इसी भावकी एक "आर्या" गोवर्धनाचार्यकी है। यथा—

"दृष्टमदृष्टप्रायं दयितं कृत्वा प्रकाशितस्तनया।
हृदयं करेण ताडितमथ मिथ्या व्यञ्जितत्रपया ॥२८॥"

—प्रियको देखा अनदेखा करके, स्तन दिखलाकर पीछेमे मिथ्या लज्जा जतलातीहुईने छातीपर हाथ दे मारा ! जल्दीमे छाती ढक ली !

"दृष्टं अदृष्टप्रायं कृत्वा"—"देख्यो अनदेख्यो कियौ"—"प्रकाशितस्तनया"—"अंग अंग सबै दिखाय"—। इस प्रकार यहां तक तो स्पष्ट ही शब्दार्थगत सादृश्य है। उत्तरार्ध—'पैठतिसी तनमें' इत्यादिमें—विहारी कुछ बढ़ गये हैं।

आकृतिगुप्ता-वर्णन

४५

कारे बरन डरावनो कत आवत इहिँ गेह।
कै वा लख्यौ सखी ! लखै लगै थरथरी देह ॥

(सखीका वचन सखीसे)

अर्थः—(कारे बरन डरावनो)—काले रंगका डरावना (यह कृष्ण!) (कत इहिं गेह आवत)—क्यो इस घरमें

आता है ! (कै वा लख्यौ)— कई वार देखा, (सखी ! लखै)— हे सखी ! इसे देखनेसे (देह थरथरी * लगै)— शरीरमें कँपकँपी आजाती है।

नायिकाके पास कोई वहिरङ्ग † सखी वैठी है, वहाँ नायक (कृष्ण कन्हैया) भी किसी कामसे आ निकले, उन्हें देखकर नायिकाको आलिङ्गनेच्छाजन्य थरथरी चढ़ आयी, इसे छिपानेके लिये वात वनाती है कि यह काला रंग ऐसा डरावना है जिसे देखकर मुझे कँपकँपी आजाती है। कई वार ऐसा हुआ है, जव देखा तभी डरसे शरीर काँपने लगा ! न जाने क्यों यह डरानेके लिये इधर आ-जाते हैं !

"व्याजोक्ति" अलङ्कार है—

"व्याजोक्तिरन्यहेतूत्तया यदाकारस्य गोपनम् ॥" (कुवलयानन्द)

"व्याजोक्ति कछु और विधि कहै दुरै आकार।"

—जहां कुछका कुछ कारण वतलाकर वहानेसे किसी आकार-चेष्टा-को छिपाया जाय, वहां 'व्याजोक्ति' अलङ्कार होता है।
—जैसे यहाँ सात्त्विक—आलिङ्गनेच्छाजन्य कम्प—का कारण भयको वतलाकर असली सवव छिपा दिया।

"व्याजोक्ति, कछु कहि जहा लेत अकार दुराय।
सात्विक दुरयौ कहि इहा स्याम वरन डर लाय ॥" (अमरचन्द्रिका)

---

* "अथ कम्प सात्त्विक वर्णनम्।" (प्रतापचन्द्रिका)

† "ऊपरी (वहिरग) कोई स्त्री बैठी है तहाँ नायक आयो है नायिकाको कम्प सात्त्विक भयो है, ताको छिपावती है।" (हरिप्रकाश)

—"यह नायिका परकीया, 'हेतुगुप्ता' नायकको देख सात्त्विक भयो है तिसको सखीसे दुराइवेको कहति हैं।" "परकीया वाग्विदग्धा" (कृष्णकवि

हरिकविने श्लेषके बलसे इसका यह भी अर्थ किया है। यथा:—

"(कारे -वर)=जितने काले उपमान—मेघ, नीलोत्पल और अतसीकुसुम आदि हैं तुम उन सबसे 'वर' श्रेष्ठ हो, और अन्य काले वर्ण डरावने होते है, तुम "न डरावने" डरावने नहीं आनन्दप्रद हो। 'कत आवत इहिं गेह' 'इहि गेह' पदसे यह ध्वनि निकलती है कि आप यहां क्यों आये! यहांतक आनेका कष्ट उठानेकी आवश्यकता न थी, कुञ्जभवनमें चलो, वहीं हम आते हैं। सखीको यह सुनाकर कि हे सखी! कईवार मैंने देखा है, इन्हें देखनेसे कँपकँपी हो आती है। नायकको सुझाती है कि आप ऐसे श्यामसुन्दर हैं कि तुम्हें देखकर हमारे शरीरमें सात्त्विक कम्प हो जाता है।—"

—इस अर्थमें "श्लेषालङ्कार" है—

"श्लेष अलङ्कृति अर्थ बहु जहा शब्दमें [एक शब्दतें] होय॥" (भाषाभूषण)

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

४६

देवर फूल हने जु सिसु उठे हरषि अंग फूल।
हँसी करत औषधि सखी देह ददौरनि भूल॥

(पड़ौसिनका वचन किसी स्त्रीसे) *

अर्थ—(देवर जु 'फूल' हने)—देवरने जो फूल मारे, उनसे (अंग हरषि फूल उठे)—अंग हर्षसे फूल उठे!— सात्त्विक रोमाञ्च हो गया। (सिसु, सखी, देह ददौरनि भूल)—नायिकाकी 'सिसु'—नासमझ सखी, देहपर ददौड़ोंकी भूलसे (औषधि

---

* "नायिकाकी पड़ौसिनका वचन निज सखीसे॥"(लालचन्द्रिका)
"यह नायिका सुरता (?) देवर सों आसक्त है, सखीको वचन सखी सों हर्ष अरु हास्य सचारी—" (कृष्णकवि)

करति)—औषध करती है। उसे ऐसा करता देख, (हँसा)—पड़ौसिन हँसी !

नायिका जिस देवरसे आसक्त है उसने फूल मारे, जिससे नायिकाको सात्त्विक * रोमाञ्च हो गया। नासमझ सखी यह समझकर कि इसकी देहपर ददौड़े हो गये हैं, ददौड़ोंकी दवा करने लगी ! यह देखकर भेद जाननेवाली पड़ौसिन उसकी इस मूर्खतापर हँसने लगी कि यह बावली क्या कर रही है ! दर्द कुछ दवा कुछ !

हरिकविने 'अमरचन्द्रिका' के "धर्मविरोध" वाले प्रश्नके उत्तरके आधारपर यह अर्थ किया है—

—"कहनेवाली सखी कहती है —नायिका मेरे देवर सों आसक्त है' सो मेरे देवरने वा नायिका को हठि के फूल मारे (जिससे) नायिकाके अंग हरषिके फूल उठे देहको ददोरा सो भूलकर सखी (नायिकाकी सखी) औषध करत है ताकों परोसिन हँसी।" — (हरिप्रकाश)

"सिसु"को देवरका विशेषण माना जाय तो उससे सात्त्विकका होना असम्भव होगा, इसलिये इस दिक्कतसे बचनेके लिये किसीने 'सिसु' का अन्वय फूलके साथ करके 'सिसु-फूल'—"फूलकी कली"—अर्थ किया है !

—कृष्ण कविकी पुस्तकमें 'सिसुकी' जगह "सु सु" पाठ है। इस दशामें जिन जिन अङ्गोंपर फूल मारे "सो सो अङ्ग फूल उठे" यह अर्थ होगा ।

हरिकविने " · हने जु हठि"—पाठ रखकर अर्थ किया है—"हम फूल सों मारेंगे,—ऐसा हठिकें—फूल हन्यो, फूल सो मारयौ"—अर्थात् बढ़कर फूल मारे ।

---

* प्रतापचन्द्रिकाकारने अपनी 'वार्त्ता'में "नायिकाके (की) सुकुमारतातें चिह्न फूलके भये"— लिखा है ! पर इस 'वार्त्ता' से "हरषि" की बात बिगड़ जायगी ! यह खेदकी बात होगी !

एक सङ्गति 'सिसु' पाठकी अमरचन्द्रिकाके आधारपर हरि कविने यह लगायी है कि—

"नायकने पड़ोसिनके "शिशु देवर"के हाथ फूल दिये कि जाकर उस—(नायिका) पर डाल आओ, फूल नायकके छुए हुए थे, इस सम्बन्धसे, उस 'शिशु'—बच्चे के डालनेसे भी नायिकाको सात्त्विक हो गया।"

प्रश्न—१-"सिसुते सात्विक होत नहि, २—देवर धर्म विरुद्ध।"

उत्तर—१-"तहँ 'सिसु-सुमन' विचार कहि 'कली' कठिन मति मुद्ध।"

उत्तर—२-"किहुके देवर किहि सुतिय ऊपर डारे फूल।

निज देवरकी वहु कहति अरु तियकी[सों] रसमूल॥"(अमरचन्द्रिका)

तीसरा प्रकार यह है कि 'सिसु' का सम्बन्ध औषध करनेवाली सखीसे समझा जाय। नासमझीका काम करनेके कारण वह 'युवति' होकर भी "शिशु" ही है। जैसा नैषधमें श्रीहर्षने हंसके मुखसे युवति दमयन्तीको कहलवाया है——

"अहो शिशुत्वं तव खण्डितं न

स्मरस्य सख्या वयसाऽप्यनेन।"

अलङ्कार— "भ्रान्तिमान्"। "अंग देह"मे 'अर्थावृत्ति दीपक'।

इस दोहेके भावसे बिलकुल मिलती हुई एक "गाथा" गाथासप्तशतीमे है। यथा—

"काचिद् दूती नायिकाया देवरानुरक्तत्वेनासाध्यत्व सूचयन्ती जार प्रत्याह—

"णवलअपहरं अंगे जहिं जहि महइ देव-[अ]रो दाउम्।

रोमञ्चदण्डराई तहि तहि दीसइ वहूए॥"

—"नवलता-प्रहारमङ्गे यत्र यत्रेच्छति देवरो दातुम्।

रोमाञ्चदण्डराजिस्तत्र तत्र दृश्यते वध्वा॥" (१।२८)

× × ×

—बहूके जिस जिस अङ्गपर देवर, नवीन लताकी कोमल "कमची" मारना चाहता है—मारता नहीं, मारनेकी चेष्टा करता है— इतनेहीसे बहूके उसी उसी अङ्गपर रोमाञ्चकी "दण्डराजि"—डंडेकी तरह मोटी उभरी हुई पक्ति — दिखायी देने लगती है !

नवीन लताके प्रहारकी चेष्टामात्रसे रोमाञ्चकी "दण्ड-राजि"का उभर आना नायिकाके सौकुमार्य और देवरनिष्ठ रागाधिक्यका सूचक है !

यहां (गाथामें) नवीन लताके प्रहारकी इच्छामात्रसे "रोमाञ्च-दण्डराजि" (बद्धियां) उठ आती हैं, और दोहेमें 'फूलके प्रहार'से हो इतना रोमाञ्च हो आता है कि जिसे देखकर सखीको ददोड़ोंका भ्रम हो जाता है । दोनों जगह सौकुमार्य और अनुरागका "औसत" क़रीब क़रीब बराबर है !

यहा 'गाथा'मे हँसी दिलानेवाली "भ्रान्ति" नहीं है, और रोमाञ्चके कारणको स्पष्ट करनेवाला "हरषि" भी नही है ।

दोहेमे 'भ्रान्ति'वाली वातने 'शृङ्गार' के 'प्रपानक'में हसीकी ज़ाफ़रान मिलाकर एक अद्भुत स्वाद भरा माधुर्य पैदा कर दिया है !

एक ऐसी ही घटनाकी "भ्रान्ति"से हँसी दिलानेवाली आर्या "आर्यासप्तशती" में है।—

"एतस्या पतिरत्यन्तजडोऽस्ति, अतस्त्वया न भेतव्यमिति काचित् कञ्चिद्वक्ति"—

"उपनीय कलमकुडव कथयति सभयश्चिकित्सके हलिकः ।
शोणं सोमार्द्धनिभं वधूस्तने व्याधिमुपजातम् ॥१२०॥"

—एक अञ्जलि धान वैद्यजीकी भेंट करके, बहूकी नयी व्याधिसे डरा हुआ हाली —मूर्ख ग्रामीण— कहता है कि महाराज बहूके स्तनके पास अर्द्ध-चन्द्राकार लाल लाल कुछ रोग * हो गया है ! कृपाकर इलाज बताइए, क्या किया जाय, कैसे उस रोगकी शान्ति हो !

विहारीने इस 'आर्या' के भोले 'हालिक' की 'भ्रान्ति' दर्दीड़ोंका इलाज करनेवाली सीधी सादी सखीमें संक्रान्त (दाख़िल) करदी और इस प्रकार मानो 'गाथा' और 'आर्या'के अर्क़से इत्र निकालकर दोहेकी शीशीमें बन्द कर दिया !

४७

इहि काँटे मो पाय लगि लीनी मरति जिवाय।
प्रीति जनावत भीतिसौं मीत जु काढ्यौ आय॥

(प्रेमगर्विता परकीयाकी उक्ति अन्तरङ्ग सखीसे) †

अर्थः— (इह कांटे)=इस कांटेने (मो पाय लगि)= मेरे पांवमें लगकर, (मरति जिवाय लीनी)= मुझे मरतीको जिला लिया, क्योंकि (प्रीति जनावत)= प्रीति जताते हुए और (भीति सौं) डरसे (मीत जु आय काढ्यौ)=मित्र-नायकने जो आकर (यह कांटा) निकाला !

---

* जारकृत अर्धचन्द्राकार 'नखक्षत' को बेचारा बीमारी समझ रहा है !

† उक्ति नायिकाकी अन्तर्वर्त्तिनी (अन्तरङ्ग) सखी प्रति, उपपतिको प्रेमनिवेदन वचन अनुभाव ते हर्ष सञ्चारी, पूर्वानुराग व्यङ्ग्य । व्याधिको मिलन ।" (अनवरचन्द्रिका)

अनवरचन्द्रिकाके इस "व्याधिको मिलन" कथनसे मालूम होताहै कि नायक कोई पीयूषपाणि सर्जन डाक्टर हैं !

—नायिकाके पांवमे कहीं कांटा लग गया, जिसे नायकने डरते डरते-(निकालनेमें नायिकाको दुःख न पहुचे इस विचारसे) बड़े प्रेमसे- ओह बड़ा गहरा कांटा लगा है- इस सुकोमल पद-पल्लवमे ऐसा कठोर कांटा ! शिव ! शिव ! कहीं निकालतेमें टूट-कर अन्दर न रह जाय, घाव पक न जाय, यह वेदना इस सुकुमारीसे कैसे सही जायगी !- इस प्रकार भय और प्रेम प्रकाश करते हुए निकाला है। सो नायिका उस काँटेका धन्यवाद करती हुई कहती है कि इस कांटेने पांवमें लगकर मुझे मरतीको जिला दिया, जिस चितचोरके दर्शन स्पर्शनको तरस रही थी, इसकी कृपासे उसके पीयूष-पूर्ण पाणिका स्पर्श प्राप्त हो गया ! वियोग-विषसे मूर्छित थी, दर्शन स्पर्शनरूप अमृत मिल गया ! इस काँटेका भला हो, इसकी बदौलत जी मिलो ! न यह लगता, न वह आकर इसे निकालते, न यह जीकी कसक जाती—न मैं जीती !

हरकांतिके मतसे चौथी विभावना—"जबै अकारन वस्तुते कारज परगट होय"। है और अमरचन्द्रिका तथा रसचन्द्रिकाके मतमें ५वीं विभावना—"काहू कारन ते जबै कारज होय विरुद्ध" है। अकारण या विरुद्ध कारण- कांटेसे जीवन कार्य होगया। 'भीत सीत'से 'अनुप्रास' भी है।

लल्लूलालजीने इस दोहेको "सम्यग्वचनविदग्धा हेतुगुप्ता वर्णन" शीर्षक देकर पूर्वार्द्धमें नायिकाका वचन सखीसे, और उत्तरार्द्धमें सखीका वचन सखीसे मानकर अर्थ किया है—

"इस कांटेने मेरे पांवमें लगके मुझे लिया मरते हुए जिवाय ॥
नेह जताती है डरसे, प्रीतमने जो काढा है आके कांटा।"

(लालचन्द्रिका)

—यह अर्थ ठीक समझा जाय तो नायिका "सम्यग्वचन-विदग्धा" और "हेतुगुप्ता" कहाँ रही ? पूर्वार्द्धसे तो प्रतीत होता

है कि वह "प्रेमगर्विता" है, जो कांटे की प्रशंसाके रूपमें नायकका अपने ऊपर प्रेम प्रकट कर रही है, और उत्तरार्द्ध सखी-वाक्यसे जाना जाता है कि वह "लक्षिता" है! सखी उसके प्रच्छन्न प्रेमको ताड़ गयी! इस कारण लल्लूलालजीका यह शीर्षक और पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्धकी पृथक् कथनोपकथनकी कल्पना दोनों ही संगत नहीं।

एक प्राचीन संस्कृत पद्य है:—

"इह स्फुटं तिष्ठति नाथ! कण्टकः शनैः शनैः कर्ष नखाग्रलीलया।
इतिच्छलात्काचिदलग्नकण्टकं पदं तदुत्सगतले न्यवेशयत्॥"

—हे प्रिय! देखिए इस जगह काटा जरूर धँस रहा है, इसे शनैः शनैः (आहिस्ता आहिस्ता-इतमीनानसे जल्दी नहीं!) नाखूनकी नोकसे उभारकर निकालो—इस बहानेसे किसी नायिकाने बिना काटा लगे पांवको ही नायककी गोदमें रख दिया।

उक्त दोहे और इस श्लोकमें बहुत तो नहीं पर इतना साम्य अवश्य है कि कांटा भी वक्तपर काम निकालनेकी एक चीज़ है। जो पाँवमें लगकर कभी कभी दिलकी कसक निकाल दिया करता है!

"स्वयंदूतिका"-वर्णन

४८

घाम घरीक निवारियै कलित ललित अलि पुंज।
जमुना तीर तमाल तरु मिलति मालती कुंज॥

(वाग्विदग्धा स्वयंदूती की उक्ति नायक से)

अर्थः—(जमुनातीर, घरीक, घाम, निवारियै)—जमुनाके किनारे घड़ी एक घाम—धूप-का वक्त, बिताइए, जमुना-

तीर कैसा है— (ललित, अलिपुञ्ज कलित)—सुन्दर है, भौंरों-के झुंडसे युक्त है और जहां (तमालतरु मिलति मालती-कुञ्ज)—तमालवृक्षसे मिलीहुई चमेलाकी कुञ्ज है।

दोपहरका समय है, धूप पड़ रही है, पास ही यमुना वह रही है, स्वयंदूती (मध्याह्नाभिसारिका) नायिका, नायकसे कहती है कि इस वक्त कहां जा रहे हो! ज़रा धूप कम होने दो, देखो सामने जमुना किनारे क्या अच्छा जगह है! तमालपर चमेलीकी वेल (लता) चढ़ रही है, उसकी वह कैसी सुन्दर कुञ्ज है, जहां भौरोंका झुंड गुंजार रहा है! वहीं घड़ीभर वैठकर धूपका वक्त काटो, आराम करो! 'रमणीय' और 'निर्जन' स्थान है! वहां चलकर विहार करो। "तत्र गत्वा मया सह विहरस्वेति ध्वनिः!"

तमालतरुसे मिले मालतीकुंजके कथनमे एक ख़ास बात है– विशेष ध्वनि है—। जैसे 'तमालतरु' और 'मालती-लतिका'का सुन्दर संयोग है ऐसे ही— "आवयोः कृष्णगोप्यो-रपि सुन्दरः संयोगः स्यादित्याकूतम्!"

अलङ्कार— "पर्यायोक्ति" अतिस्पष्ट है। विश्रामके लिये एकान्त मालतीकुञ्ज बतलानेके व्याजसे मिलना इष्ट है।

'अमरचन्द्रिका' आदिके मतसे यहां "गूढ़ोत्तर"अलंकार है।

यथाः— "वचन गूढ निज भाव सौं "गूढोत्तर" कहि ताहि।
द्रुमघन मालतिकुञ्जमें स्वयदूतता चाहि॥" (अमरचन्द्रिका)

अलङ्कारका नाम तो "उत्तर" है, 'गूढ़ोत्तर'—पद तो उसके लक्षण—वाक्यका एक अंश है। यथा—

"किञ्चिदाकूतसहितं स्याद् गूढोत्तरमुत्तरम्।"
यत्रासौ वेतमी पान्थ तस्येय सुतरा सरित्॥" (कुवलयानन्द)

—"किंचिदभिप्रायसहित गूढमुत्तरमुत्तर नामालङ्कारः। "

(अलङ्कारचन्द्रिका टीका)

सो भूलसे लक्षणवाक्यान्तर्गत 'गूढोत्तर'को लक्ष्य—(उत्तरालङ्कार)—का नाम दे दिया गया प्रतीत होता है! आश्चर्य्यकी बात है कि कवि परमानन्दजीने भी—

"किञ्चिदाकूतपिहित स्याद्गूढोत्तरमुत्तर"-मितिलक्षणात्-"गूढोत्तरालङ्कार"— यह लिख दिया है!! अस्तु।

यहां "उत्तरालङ्कार" माने तो प्रश्नकी कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार कि— कोई पान्थ किसी रमणीसे रास्ता पूछता है, वह कहती है कि यह धूपका वक्त है! कुछ आराम कर लो, फिर जाइयो! इस आराम करनेकी तरकीबसे उसका आराम भी मिला हुआ है— उसे— (रास्ता बतानेवालीको)—"घाम घरीक निवारियै"के उपदेशसे अपनी अतनु-तापोपशान्ति इष्ट है—इस उत्तरमे 'गूढ अभिप्राय' छिपा हुआ है। इससे "उत्तर" ("गूढोत्तर" नहीं!) अलङ्कार है।

एक ऐसी ही "स्वयंदूतीकी सुन्दर गाथा "गाथासतशती"मे है। यथा—

स्वयंदूती पथिकमाह—

"थोअ पि ण णीसरई मज्झण्णे उह सरीरतललुका।

आअवभएण छाही वि पहिअ ता किं ण वीसमसि॥"

"स्तोकमपि न निःसरति मध्याह्ने पश्य शरीरतललीना।

आतपभयेन च्छायापि पथिक! तत्किं न विश्राम्यसि॥"(१। ४९।)

❀ ❀ ❀

—धूपसे घबराकर जिस छायाके आश्रयमें पथिक लोग विश्राम लेते हैं, वह 'जड़' छाया भी धूपके डरसे, शरीरके नीचेसे इस समय बाहर नहीं निकलती, फिर हे पथिक! तुम 'चेतन' होकर भी इस वक्त घाममें क्यों घूम रहे हो! क्यों नहीं आराम करते?

'गाथा'की "स्वयंदूती"ने धूपकी प्रचण्डताका डर दिखाकर, पथिकको आराम करनेकी सलाह दी है, और दोहेकी स्वयंदूतीने, घाम वितानेके स्थानकी रमणीयताका लालच दिलाकर काम निकालना चाहा है।

—एक ओर—(गाथामे) जब छाया भी बाहर निकलती डरती है! —घामके डरसे शरीरतलमे सिमटी पड़ी है—तो ऐसेमें और कौन शरीरधारी यहां आने लगा है, जिसकी आशंका हो!, दूसरी ओर—(दोहेमे) तमाल और मालतीकी कुञ्ज ऐसो सघन है कि वहां कोई आ भी निकले तो भी पता नहीं पा सकता— यह भाव व्यङ्ग्य हैं।

"स्वयंदूती"

'स्वयंदूती' या "स्वयंदूतिका" साहित्यकी परिभाषामें उस नायिकाको कहते हैं जो अपने लिये स्वयं दूतत्व करे —वह अपना पैग़ाम— दिलदार— चितचोर— तक खुद पहुचाती है। किसी ढंगसे, किसी अदा या इशारेसे— 'क्रिया-विदग्धताके रूपमें या व्यङ्ग्योक्तिद्वारा वचन-विदग्धता के रूपमे अपना अभिप्राय प्रकट करती है। इसका उदाहरण विहारीका उक्त दोहा और वह प्राकृत गाथा है।

कविराज 'शंकर' महाराजका यह कवित्त- (जो सन्ध्याभिसारिका रूपगर्विता किसी स्वयंदूतीकी उक्ति है)— इसका उत्तम उदाहरण है:—

"आननकी ओर चले आवत चकोर मोर
दौर दौर बार बार बेनी झटकत हैं,
बैठ बैठ 'शवार' उरोजनपै राजहंस
हारनके तार तोर तोर पटकत हैं।
झूम झूम चखन को चूम चूम चचरीक
लटकी लटनमें लिपट लटकत हैं.
आज इन बैरिनसो वनमें बचावे कौन
अवला अकेली मैं अनेक अटकत हैं ॥"

❀ ❀ ❀

खुले शब्दोंमे- नंगे स्वरूपमे— अपना भाव प्रकट करने-वाली स्वयंदूतीके उदाहरणमे यह दोहा प्रसिद्ध है—

"मो ही सों किन भेट ले जौलो मिले न वाम।
सीत-भीत तेरो हियो मेरो हियो हमाम ॥"

वात्स्यायनके कामसूत्रमे—

१—निसृष्टार्था, २—परिमितार्था, ३—पत्रहारी, ४—स्वयंदूती, ५—मूढदूती, ६—मार्यादूती, ७—मूकदूती, ८—वातदूती चेति दूतीविशेषाः।"

—दूतियोंके ये आठ भेद गिनाये हैं, और 'स्वयंदूती'का लक्षण इस प्रकार किया है—

१—"दौत्येन प्रहिताऽन्यया स्वयमेव नायकमभिगच्छेत्-(कामयेत्)- सा" स्वयदूती"।

२—"प्रतिग्रहच्छलेनान्यामभिसंधायास्याः संदेशश्रावणद्वारेण नायक साधयेत् तां चोपहन्यात् सापि "स्वयदूती" ।"

अर्थात् जो किसी (नायिका) की ओरसे दूती बनकर जाय और वहां— नायकके पास— पहुचकर दूतत्वको भूल जाय,— दूतीसे 'नायिका' बन जाय, वह स्वयदूती है । यह वह स्वयदूती है जो दूतत्व स्वीकार करने और नायकके पास पहुचने तक तो नेकनीयत रही हो, पर ऐन वक्तपर बदनीयत बन बैठे !

दूसरे प्रकारकी स्वयदूती वह है, जिसकी नीयत पहलेहीसे खराब हो— जिसने किसीका दूतत्व ही इसलिये स्वीकार किया हो कि इस बहानेसे नायक तक पहुचने और अपनी मन्मथ-व्यथा सुनानेका अवसर मिले। जिसकी दूती बनकर चली है उसका काम बिगाड़कर अपना काम सिद्ध करले—'ता चोपहन्यात्'— नायिकाको चित करके, "नायक साधयेत्"— नायकको सीधा करले !—

क्रियाविदग्धा-वर्णन

४६

हरषि न बोली लखि ललन निरखि अमिल सँगसाथ ।
आंखन हीं में हँसि धर्‌यौ सीस हिये पर हाथ ॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ—(ललन लखि, हरषि)—प्यारे ललनको देखकर

प्रसन्न हुई, पर (अमिल संग साथ* निरखि, बोली न)—बेमेल संग साथ देखकर बोली नहीं, बात न कर सकी, (आंखन ही मैं हँसि)—आंखोंहीमें हँसकर, (सीस हिये पर हाथ, धर्यौ)—सिर और छातीपर हाथ रखा !

नायिकाको कहीं मार्गमें नायक आता मिल गया। संग साथ बेमेल—(जिससे मन नहीं मिला)—है। —ऊपरी आदमी (नायकके) या बहिरङ्ग सखी (नायिकाके) साथमें है, इसलिये कुछ कह सुन न सकी, सो हर्षको तो, आंखोंमें हँसीकी झलक दिखलाकर प्रकट किया और बातचीतका काम—'बोधक हाव'—इशारोंसे निकाला । सिर छातीपर हाथ धरनेका यह अभिप्राय है कि तुम मेरे सिरताज हो, और हृदयमें बसते हो !

इस बोधक हाव—"सीस हिये पर हाथ" रखनेके अनेक भाव हरिकविने निकाले हैं। यथा –

१—"सीसपर हाथ धरा, केश श्याम है, सो जब अंधेरा होगा तब मिलूँगी हियेपर हाथ धरनेसे यह कि 'कुच' को 'शम्भु' कहते हैं (उपमा देते हैं) महादेवको छूकर कहती हूं कि अवश्य मिलूंगी !

२—अथवा, सीसपर हाथ धरा—मणिमय सीसफूल छिपाया, अर्थात सूर्यास्त होनेपर मिलूंगी। और यह बात मेरे हृदयमें बसी है, भूलूँगी नहीं, इसलिये हृदयपर हाथ रखा।

---

* हरिप्रकाश में 'संग साथ' की पुनरुक्तिसे बचनेके लिये..... "संग साथ" पाठकी कल्पना की है और ......"संगसाथ" को पाठान्तर मानकर संग साथ—दोनों शब्दोंको दो ठिकाने लगाया है—नायिकाके संग अमिल सखी है और नायकके साथ अमिल सखा है।" परन्तु संग साथ एक साथ मिलाकर बोलना एक मुहावरा है।

३—अथवा सीसपर हाथ रखकर, 'प्रणाम' किया कि जाती हूँ— (आज्ञा दीजिए) – जाती हू, पर तुम हृदयमें बसते हो, हरवक्त साथ हो ।"

—आजकल स्त्रियोंका पुरुषोंको प्रणाम करना प्रचलित नहीं है—स्त्रियां पुरुषोंको प्रणाम नहीं करतीं—इसलिये कदाचित् किसीको इस तृतीय अर्थकी प्रामाणिकतामें सन्देह हो, इससे हरिकवि लिखते हैं कि "नायिकाको प्रनाम वर्न्यो है"—(नायिकाकृत प्रणाम कहा है) —"न्हाय पहिरि पट डटि (उठि) कियो वेंदीमिस परनाम" (इस अगले दोहेमें)—किंवा—

४—सीस पै हाथ धरा—"सीस" को उलटा पढो तो 'ससी' (शशी) होता है, उसे हाथसे छिपाया, चन्द्रमाके अस्त होनेपर मिलूँगी । हियेपर हाथ धरकर बतलाया कि मतलब समझ गये न ?

'आँखमें हँसने' का भाव हरिकविने यह बतलाया है कि "आंखोंमें हँसकर अपना निश्चय राजीपना (प्रसन्नता) जतलाया, क्योंकि मुहँकी हाँसी झूठी भी है । नेत्रकी क्रिया सब सच्ची, प्रमाण—"झूटे जानि न संग्रहे मनु मुँह निकसे बैन"। (दोहा ४६१)

—अलङ्कार— "सूक्ष्म" या 'पिहित' ।

'प्रतापचन्द्रिका' में "आंखोंके हँसने" से "चौथी विभाना" भी मानी है । "जबै अकारन वस्तु ते कारज परगट होय"—

५०

न्हाय पहिरि पट उठि कियौ वेंदी मिस परनाम।
दृग चलाय घर कौं चली बिदा किये घनस्याम॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ:— (न्हाय, पट पहिरि,)=(नायिकाने) स्नानकर, कपड़े पहन और (उठि *)=उठकर (वेंदी मिस परनाम कियो)= वेंदी लगानेके बहाने, प्रणाम किया, (दृग † चलाय)—आँखे चलाकर (घनस्याम विदा किये)= नायक-शिरोमणि (श्रीकृष्ण) विदा कर दिये, और (घर कौ चली)- (स्वयं भी) घरको चल दी।

घाटपर कोई नायिका न्हाने गयी, वहीं 'घनश्याम' भी आ मौजूद हुए, सो उस क्रियाविदग्धाने प्रणाम करके आँखके इशारेसे जताया कि यहां घाट वाटमे तो कृपा कीजिए, घर चलिए, मै अभी आती हूं, वहीं बातें होंगी !

"सूक्ष्मालंकार" और "पर्यायोक्ति" अलङ्कार। 'छेकानुप्रास और चकारसे "वृत्त्यनुप्रास"।

* "उठि" की जगह- "ढटि" पाठान्तर । ढटिकै—अढकरि करिकै- देखि कै। हरिप्रकाश)

† दृग-की जगह "चष" (प्रतापचन्द्रिका)।

५१

चितवत जितवत हित हिये किये तिरीछे नैन।
भीजे तन दोऊ कँपैं क्यौंहूँ जप निवरै न॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ:— (तिरीछे नैन किये, चितवत)-तिरछे नेत्र किए (एक दूसरेको) देख रहे हैं,(हित, हिये जितवत ।†)-प्रेम हृदयों-को जीत रहा है, अर्थात् दोनोंके मन प्रेमने जीत लिये हैं। (भीजे तन दोऊ कँपै)- भीगे शरीर दोनों काँप रहे हैं, पर (क्यौं हूं जप न निवरै)-किसी प्रकार जप समाप्त होनेमें नही आता।

दोनो —प्रिय और प्रेयसी,- स्नान करके आमने सामने खड़े जप कर रहे हैं। वस्त्र गीले हैं, शरीर भीग रहे है, शीतसे दोनों कांप रहे हैं। शायद माघकी संक्रान्तिका सुपर्व है। तो भी जप समाप्त नही होता, क्योकि तिरछी आंखोंसे एक दूसरेको देख रहे हैं- आपसमे आंखें सेक रहे हैं! प्रेमने हृदयोंको जीत लिया है, फिर शीतका ज्ञान किसे हो! और जपकी समाप्ति कैसे हो!

अलंकार—पूर्वार्द्धमे 'स्वभावोक्ति' है। शीत, जपकी समाप्तिका हेतु है तो भी जप, न समाप्त हुआ, इससे उत्तरार्धमें "विशेषोक्ति"।

"विशेषोक्ति जो हेतु सो कारज उपजत नाहि"

---

† "हिये हित जितवत— हियेमें जो हित है, ताको उत्कर्ष करे हैं, बढ़ावत हैं। किवा, सीतभयो है तासौं हितकौं जितवत हैं-हितसों सीत को दबावत हैं। किवा, हितके हृदय मन ताको बढ़ावत है," हरिप्रकाश

—" और "जितवत"का अर्थ "जिधर"का लीजे तो यों कहिये- "देखते हैं उतै, जितै हियेका हित है।" (रसचन्द्रिका)

तथा जप न समाप्त होनेका समर्थन "हित हिये ज़ितवत" और 'तिरीछे नैन चितवत'से किया, इसलिये 'काव्यलिङ्ग' भी संभव है—

"काव्यलिङ्ग जब जुक्तिसों अर्थ समर्थन कीन।"

—जपके व्याजसे 'देखना' इष्ट सिद्ध किया। इसलिये "पर्यायोक्ति" भी है। 'तकार'की आवृत्तिसे "वृत्त्यनुप्रास"भी है।

इस दोहेके भावसे मिलती हुई गोवर्धनाचार्यकी एक आर्या है। :—

"अन्योन्यमनु स्रोतमसन्यदथान्यतटासतं भजतोः।
उदितेऽर्केऽपि न माघस्नान प्रसमाप्यते यूनोः॥२९॥"

× × ×

— यह जगह न्हानेके लिये अच्छी नहीं, वह अच्छी है, यह भी ठीक नहीं, वह ठीक है—इस प्रकार इस घाटसे उस घाटपर और उस घाटसे इस घाटपर फिरते फिरते, सूर्योदय होगया, पर तोभी युवा और युवतिकी जुगल-जोड़ीका 'माघस्नान' समाप्त नहीं हुआ !

सूर्योदयसे पहले पहले माघ-स्नानकी विधि है। पर इन्हें अपनी धुनमें इस बातकी चिन्ता कहां ! नवयुवक प्रेमी भक्तोंको, 'अदृष्टफल'की अपेक्षा 'दृष्टफल' अधिक प्रिय है ! इसका प्रमाण यह माघस्नायी जोडा है। हाँ यदि दृष्टलाभकी प्राप्ति होती हो तो इसके लिये 'अदृष्ट' साधनोंको भी काममे ला सकते हैं ! इसका उदाहरण वह (५१ वें दोहे की) जप करने वाली जुगल जोड़ी है !
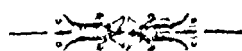
५२

मुंह धोवति एड़ी घसति हँसति अनँगवति तीर।
धसति न इन्दीवर-नयन कालिन्दी के नीर॥

(सखीका वचन, नायिकासे या सखीसे)—

अर्थः—(तीर)—किनारे पर (मुंह धोवति)—मुंह धो रही है, (एडी घसति)—एड़ियाँ रगड़ रही है, और (हँसति)—अकारण हँस रही है। परन्तु (इन्दीवर-नयन, अनँगवति)—नीलकमलके तुल्य आंखोवाली यह 'अनँगवती'—प्रेमपरवशा नायिका, (कालिन्दीके नीर न धसति)—जमनाके जलमें नहीं धसती।

निकटस्थ नायकको देखनेका अच्छी तरह अवसर मिले, इसलिये, स्नानावतीर्णा नायिका, किनारेपर बैठी बार बार मुंह धोने, और एड़ी रगड़नेके बहाने—(एडी बिलकुल साफ़ है, मैलका कहीं नाम नहीं, पर ऐसे रगड़ रही है मानो मैल छुड़ा रही है!)—देर कर रही है, न्हानेके लिये पानीमें नहीं धसती। यह देखकर, उसकी चेष्टाको समझनेवाली सखी, छेड़नेके लिये कहती है कि तू यह क्या तमाशा कर रही है! कभी मुंह धोने लगती है, कभी एड़ी घिसने लगे है, कभी बिना कारण हँसने लगे है! अनङ्गवति!† (चुभता हुआ सम्बोधन!) क्यों इतराती

---

†हरिकविने "अनगवत" पाठ रखकर अर्थ किया है, "……… …और तीरमें 'अनगवति' है विलम्ब करती है। किंवा—तीरमें अनंग कामतुल्य जो है नायक ता को देखिवैं नीर में नाहीं धसति है"—

'प्रतापचन्द्रिका'में— "अनँगवति" इतरावे कौ कहै है"—है!

फिरे है! जमनामें धसकर जल्दीसे न्हा क्यों नहीं लेती!

अलङ्कार—"इन्दीवर-नयन" में "वाचकधर्म-लुप्तोपमालङ्कार।" नयन, उपमेय। इन्दीवर, उपमान। वाचक और धर्म-दोनों लुप्त।

अथवा, एक सखी दूसरी सखीसे नायिकाकी इस चेष्टाका वर्णन कर रही है तो "स्वभावोक्ति" बहुत बढ़िया। और "कारक दीपक" भी बहुत अच्छा।—धोवति, धसति, आदि सब क्रियाओंको एक ही कर्तृकारक (नायिका) प्रकाशित कर रही है। 'तकार'की तकरारसे (आवृत्तिसे) "वृत्त्यनुप्रास" भी है।
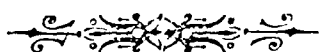
५३

नहि अन्हाय नहि जाय घर चित चिहुंट्यौ तकि तीर।
परसि फुरहरी लै फिरति बिहँसति धसति न नीर॥

(सखीका वचन सखीसे)-

अर्थः—(नहि अन्हाय)—न न्हाती है, (नहीं घर जाय)—न घर जाती है (तीर तकि चित चिहुट्यौ ※) —तीरको ताक कर—तीरस्थ नायकको देख कर—चित्त चिपक गया—आसक्त हो गया। (परसि)—जल छूकर (फुरहरी लै फिरति)—फुरहरी—कँपकँपी लेती फिरती है—उलटे पांव लौटती है—(बिहँसति)—हँसती है, और (नीर न धसति)—पानीमें नहीं धसती।

※ "चुहट्यौ" है—लागि गयो है। (ह० प्र०) तीरस्थ नायकने नायिकाका चित 'चिहुंट लिया'—हर लिया है (रसचन्द्रिका)

इसकी दशा भी बिलकुल वैसी ही है जैसी इससे पहले दोहे वालीकी है। वह मुंह धोने और एड़ी घिसनेके बहानेसे देर लगा रही है यह पानीको छूकर ही काँप रही है, मानो पानी इतना ठंडा है कि छूते ही कपकँपी चढ़ती है— इससे न्हानेकी हिम्मत नहीं पड़ती! पानी छूती है, और काँपकर हँसती हुई पीछे हट आती है!—

(क्रियाविदग्धा) परकीया नायिका। विलास- हाव। अलङ्कार— "स्वभावोक्ति"। "पर्यायोक्ति"। "कारक दीपक"। सब स्पष्ट चमक रहे हैं।

इस दोहेका यह अनुवाद 'यशवन्तयशोभूषण'में "स्वभावोक्ति" के उदाहरण मे है:—

"न स्नाति न गृहं याति, नायकासक्तमानसा।
विशन्तीव परावृत्ता चकिताऽऽपो न गाहते ॥"
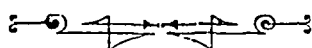
५४

चितई ललचौहैं चखनि डटि घूंघट पट माहिँ।
छलसौं चली छुवाय कै छनक छबीली छाहिँ॥

(नायकका वचन सखीसे)—

अर्थ— (घूंघट पट माहिँ डटि *)— घूंघटकी ओटमेंसे डटकर—अच्छी तरह निगाह जमाकर, (ललचौहैं चखनि चितई)—ललचाई हुई आंखोसे देखा। (छबीली)—छबीली

* "डटि कै"—घ्रट करि कै—हमें लच्छित करिकै। (हरिप्रकाश)

नायिका, (छलसों छनक छाहिं छुवाय के चली)—नहानेसे थोड़ी देरतक अपनी छांह छुवाती हुई चली!

नायक नायिका कहीं रास्तेमें आते जाते मिल गये हैं। और "अमिल संग साथ" है। मिलने भेटनेका मौक़ा नहीं है, तो भी क्रियाविदग्धा नायिकाने घूंघटकी ओटमें ललचौहीं आँखें लड़ा दीं! देखनेका कार्य तो सिद्ध हो गया, आंखें आपसमें मिल लीं। रहा, अङ्गालिङ्गन! सो एक ढंगसे छाँहपर छांह डालकर यह इच्छा भी पूरी करली! 'विम्ब' न मिल सके, 'प्रतिबिम्ब' ही मिल लिये!

छांह छुवानेका यह भाव भी है कि मुझे अपनी छांहकी तरह समझो, जुदा मत जानो। अथवा हमारा-'मन' तुम्हारे तनसे छायाके समान लग रहा है।

नायिकाके क्रियानुभाव और नायकके वचनानुभावसे अभिलाष सञ्चारी।

"क्रियाविदग्धा—और "वचनविदग्धा" नायिका":—

> "वचन क्रियामें चातुरी करै जु प्रीतम हेत।
>
> ताहि विदग्धा कहत हैं वचनरु क्रिया समेत॥"

अलङ्कार— 'स्वभावोक्ति'। 'सूक्ष्म'। 'कारक दीपक'। 'वृत्त्यनुप्रास'।

परापवाद-शंकिता-वर्णन

५५

लाज गहौ बेकाज कत घेर रहे घर जाहिँ ।
गोरस चाहत फिरत हौ गोरस चाहत नाहिँ ॥

(दान-लीला † में गोपीका वचन कृष्णसे)—

अर्थ—(लाज गहो)—लज्जा ग्रहण करो, शरमाओ (बेकाज कत घेर रहे !)—बेकाज क्यो घेर रहे हो ? हटो, (घर जाहिँ)—हम घर जाती हैं। (गोरस चाहत फिरत हो)—तुम 'गोरस'—नेत्ररस—(देखना) या वाणीरस—'बतरस'—चाहते फिरते हो, गोरस—दूध, दही या मक्खन— नहीं चाहते !

किसी गोपीको 'दान' के लिये श्रीकृष्ण घेरे खड़े हैं, वह एक बार दान दे चुकी है, फिर मांगते हैं, या कम बताकर और मांगते हैं, वह कहती है कि तुम्हे लाज नही आती ! एक बार ले चुके फिर मांगते हो ! क्यों व्यर्थ घेरे खड़े हो, परे हटो, घर जाने दो। तुम "गोरस"— दही मक्खन—थोड़ेही चाहते हो, तुम्हें तो गोरस—इन्द्रियोंके रसका चसका है !

अलङ्कार—"पर्यायोक्ति"। पूर्वार्द्ध मे 'अनुप्रास'—उत्तरार्द्ध में 'गोरस-गोरस' यमक।

"न्यारे न्यारे अर्थ पद इकसे "यमक" बखान ।
'गोरस' पद द्वै भिन अरथ वाणीरस-दधि जान ॥" (अमरचन्द्रिका)

---

†"दानलीला"—'दान' का अर्थ यहाँ सम्प्रदान कारकवाला 'दान' नहीं है, किन्तु दान टैक्स (Tax) चुगीके महसूल या राजकीय कर का नाम है। पहले समयमें जो लोग इस कामपर नियुक्त होते थे, वे 'दानी' कहलाते थे। राजपूतानेकी ओर अब तक कुछ लोगोकी यह संज्ञा चली आती है।

हरिकविने इसे नायकके प्रति स्वयंदूतीकी उक्तिमें भी लगाया है । यथा—

'लाज गहो' तुम मोकि मनकी बात नहीं जानत हो, या तें अनभिज्ञताकी लाज गहो (अपनी अनभिज्ञतापर कुछ तो लज्जित हो !) फेरि कछु प्रकट करि कहे है—'बेकाज कत घेर रहे ?' जो कुछ तुम्हें कर्त्तव्य होय सो करो, अर्थात् हमे वनमें ले चलो । या ठौरमें हमें रोको हो, कोई देखे तो "घर जाहि" घर जातो रहैगो, पर हमसे छूटि है । तुम गोरस— दूध दही चाहते फिरत हो, गोरस– इन्द्रियन को रस नहीं चाहत हो । जो इन्द्रियनको रस चाहत हो तो मिलो, यह ध्वनि । जामें ध्वनि होय सो उत्तम काव्य।"

(हरिप्रकाश)

इस विषयपर एक सुन्दर 'सवैया' सुजान "रसखानका" भी सुनने योग्य है :—

"'छीर जो चाहत चीर गहे ए जू ! लेहु न केतक छीर अचैहौ,
चाखनके मिस माखन मागत खाहु न माखन केतक खैहौ ।
जानत हौं जिय की 'रसखानि' सु काहे को एतिक बात बढैहौ,
गोरसके मिस जो रस चाहत सो रस कान्हजू ! नेकु न पैहौ ॥"

५६

सबही तन समुहाति छन चलति सबनि दै पीठि ।
वाही तन ठहराति यह किबलनुमा लौं दीठि ॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थः— (सब हीं तन, छन समुहाति)—सबकी तरफ़

ज़रा देर सामने होती है, (सवनि पीठि दै चलति)—फिर सबको पीठ देकर चल देती है। (क़िबलनुमा लौं)—क़िबलेनुमा की तरह (यह दीठि)—यह दृष्टि, (वाही तन ठहराति)—उसीकी ओर ठहरती है।

बहुतसे आदमियोकी भीड़में— नायिका, नायकको देख रही है, या वह इसे देख रहा है, नज़र जमाकर एकटक देखनेसे प्रेमका भेद न खुल जाय, इसलिये बीच बीचमे इधर उधर भी उड़ती निगाह— ग़लत अन्दाज़ नज़र— डाल ली जाती है, पर और जगह निगाह जमती नहीं, ठहरती है वही आकर्षक-प्रेमपात्र पर आकर। क़िबलेनुमाकी सुईका मुंह घुमाकर चाहे जिधर फेरो, पर वह रुकता है पश्चिमकी ओर चुम्बकके पास ही आकर।

बड़ी ही अद्भुत उपमा है, सचमुच ही "पूर्णोपमा" है।

—"दीठि" (दृष्टि) उपमेय। "क़िबलानुमा" उपमान। 'लौं' वाचक। 'समुहाना' धर्म।

"दीठि जान उपमेय है, 'क़िबलनुमा' उपमान।
"लौ वाचक 'समुहनि' धरम, पूरन उपमा जान।"

(अमरचन्द्रिका)

विहारीकी इस "किबलानुमा"की उपमाको "रतनहजारा" के कर्त्ता "रसनिधि"*ने भी लिया है। यथा:—

"अपनों सो इन पै जितौ लाज चलावत जोर।
क़बलनुमा लौं दृग रहैं निरखि मीतकी ओर॥५५२॥

---

* 'रसनिधि' सेहुडा— (दतिया) के राजा थे। बड़े भक्तजन और कवि थे। इनका रतनहजारा बहुत अच्छा ग्रन्थ है। सतसईके ढंगपर इसमें एक हजार दोहे हैं। सुना है उनका बनाया एक बहुत बड़ा ग्रन्थ "रसनिधि-सागर" भी है।

—परन्तु विहारीके दोहेमे और इसमें उतना ही फ़र्क़ है जितना असली और नक़लीमें होता है।

'रतनहजारा'में और शृङ्गारसप्तशतीमे, विहारी-सतसईके अनेक दोहोंकी इसीप्रकार नक़ल है, जो यथास्थान उद्धृत करके दिखाये जायँगे। विहारीने भी संस्कृत पद्योंकी कहीं कही छाया ली है; पर उन्होंने उस छायाका अपने प्रतिभा-प्रकाशसे ऐसा चमकाया है कि उसके प्रकाशके आगे 'आदर्श पद्य' कहीं कहीं 'छाया' प्रतीत होने लगे है। उनके दोहे प्राय, आदर्श पद्योंसे आगे बढ़ गये हैं। जहां कही आगे नही बढ़े तो वहां पीछे भी नही रहे, परन्तु विहारीके दोहोका हिन्दीके जिस कविने भी अनुकरण किया है, वह उनसे आगे तो क्या, बराबरीको भी नहीं पहुच सका। इसका परिचय कई जगह मिलेगा। अस्तु।

इस दोहेके भावसे मिलती हुई गोवर्धनाचार्य्यकी एक 'आर्या' है :—

"त्वय्येवासक्तास्ति सति सखी नायक वक्ति—"

"एकैकशो युवजन विलङ्घमानाऽऽगनिकरमिव तरला।

निश्राम्यति सुभग! त्वामङ्गुलिरमाप्र मेरुमिव ॥१९४॥"

—हे सुभग! वह नायिका एक एक युवजनको लाघती—छोडती— हुई तुझीपर आकर ठहरती है, जैसे जप करते समय उगली मालाके सब दानों-परसे उतरती हुई सुमेरुपर—मालाके वडे द'ने पर— जाकर रुक जाती है!

—"मेरोरुल्लङ्घन न कार्य्यमिति जापकसम्प्रदाय:।"

—जप करते समय सुमेरुके दानेका उल्लङ्घन न करना चाहिये, अर्थात् सुमेरुके आगे उँगली न बढ़ानी चाहिये, वहीं रोक देनी चाहिये, ऐसा नियम है।

मेरुमणिका उल्लङ्घन, चाहे 'जापकसम्प्रदाय'को न जानने

या न मानने वाली कोई उंगली कर भी जाय, पर "क़िबलानुमा" की सुई अपनी आकर्षणी दिशाको छोड़कर कहीं और नहीं ठहर सकती !

दोहे और इस आर्य्याके भावमे बहुत साम्य है। पर बिहारीने "क़िबलानुमा"की नयी और फड़कती हुई उपमा देकर दोहेमे एक नवीनता और चमत्कृति उत्पन्न कर दी है !

"क़िबलानुमा"—

—एक दिक्-सूचक यन्त्र होता है। उसे "क़ुतुबनुमा"भी कहते हैं। "क़िबलानुमा"का अर्थ है–क़िबलेको दिखानेवाला। मुसलमान लोग क़िबलेकी ओर–(जो पश्चिममें है)– मुंह करके नमाज़ पढ़ते हैं। क़िबलेकी दिशा मालूम करनेके लिये इस यन्त्रको काममें लाते हैं। जिस यन्त्रमे सुईका सिर क़ुतुब–(उत्तर ध्रुव)की ओर रहे, उसे 'क़ुतुबनुमा' (ध्रुव-दर्शक) कहते हैं। 'क़िबलानुमा'मे सुईकी जगह प्रायः एक लोहेकी चिड़िया† लगी रहती है, जैसाकि 'हरिकवि' और 'लल्लूलालजी'ने लिखा है और जैसा उर्दूके महाकवि "सौदा" और 'मीरदर्द'के इन अनुपम पद्योंमे (शेरोंमें) वर्णन है :—

"नावकने तेरे सैद न छोड़ा ज़मानेमे।
तड़पे है मुर्ग़-क़िबलानुमा आशियानेमें ॥" (सौदा)

---

†"क़िबलनुमा—कहे हैं एक लोहेका पक्षी, डिबिया के [या] अगूठीमें होता है। उसे जिधर चाहो, तिधर फेरो, पर वह ठहरता है पश्चिम ही के सन्मुख।" (लालचन्द्रिका)

"क़ीबलनुमा—लोहेकी पूतरी, अँगूठीमें रहति है। पच्छिमकी खानि (ओर) को चुम्बक वामें लग्यो रहत है। कोई तरफ पूतरीको फेरै तौभी पच्छिम तरफकों वाको सिर रहै।" (हरिप्रकाश)

—तेरे 'नायक'—बाण—ने ससारमें कोई "भेद"—शिकार, लक्ष्य—नहीं छोड़ा (सबको तीरे-नज़रसे—नयन-बाण—से बींधकर रख दिया !) यहांतक कि "किबलानुमा"की चिड़िया भी डिबियाके घोंसलेमें पड़ी तड़प रही है !

—किसी धनुर्धारी शिकारीकी प्रशंसामें भी इसे समझ सकते हैं ।

"क्या काम है मुर्ग़े-क़िबलानुमासे य मुर्ग़े-दिल ।

सिजदा उधर ही कीजिए जीधर ये मुँह करे ॥" (दर्द)

५७

खरी भीर हू भेदिकै कित हू ह्वै इत आय ।
फिरै दीठि जुरि दीठि सौं सबकी दीठि बचाय ॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ—(खरी भीरहू भेदिकै)—बड़ी भीड़को भी फाड़कर (कित हू ह्वै)—किधरसे भी होकर—निकलकर—(इत आय)—इधर—यहां नायककी ओर—आकर, (सबकी दीठि बचाय)—सबकी दृष्टि बचाकर, (दीठि)—नायिकाकी दृष्टि (दीठि सौं जुरि फिरै)—नायककी दृष्टिसे जुड़कर—मिल भेटकर—फिरती है ।

सबकी दृष्टि बचाती और जहांसे रास्ता मिला—सीधा या चक्करसे—भारी भीड़को चीरती फाड़ती हुई, नायिकाकी दृष्टि नायककी दृष्टिसे आ मिलती है, और फिर लौट जाती है । सारी भीड़को चीरकर, सबकी नजर बचाकर, अपने लक्ष्यपर आ लगना और फिर साफ़ लौट जाना—किसीको मालूम तक न होना—बड़ी बहादुरी और सफ़ाईका काम है !

क्रियाविदग्धा परकीया नायिका। कटाक्षविक्षेप, अनुभावसे अनुराग व्यङ्ग्य। अलंकार— "विभावना" । और 'दीठि' पद्से 'लाटानुप्रास'—

"काज होत प्रतिवन्ध जहँ प्रतिछ विभावन सोय।
भीर वाधक ही प्रतछ हूँ दरस काज सिध होय॥" (अमरचन्द्रिका)

'रसिकेस' कविने इस दोहेके भावको इस सवैयेके सांचेमें ढाला है—

" भेदिकै भीर इती कित ह्वै कै सु आवत जात न रच लखावै,
आख ये आखन से मिलिकै जन लाखनकी चहु आंख दुरावै।
ह्वै है कहा चतुराई घनी 'रसिकेस' दुहूँ मन मोद वढावै,
दीठि सो दीठि जुरी ही फिरै सव ही की वसीठि लौं दीठि वचावै॥"

५८

कहत नटत रीझत खिझत मिलत खिलत लजियात
भरे भौन में करत हैं नैननि हीं सब बात॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ—(कहत)—कहते हैं, (नटत)—नटते हैं,—मना करते हैं, (रीझत)—रीझते—प्रसन्न होते हैं, (खिझत) खिजते—नाराज़ होते हैं, (मिलत)—मिलते हैं, (खिलत)—खुशीसे खिलते—फूलते— हैं और (लजियात)—लजाते—शरमाते हैं—इस प्रकार (भरे भौन में) —आदमियोंसे— भरे हुए मकानमें, (नैननि ही सब वात करत हैं)—नेत्रोंहीमें सब वातें करते

मकान आदमियोंसे भरा हुआ है, बातचीत करनेका मौक़ा नहीं है, इसलिये नायक नायिका ज़बानका काम आंखोंके इशारोंसे ले रहे हैं। नायक संकेत-स्थलमे चलनेके लिये आंखके इशारेसे कहता है। नायिका मना करती है। वह मना करनेकी अदा (भाव)को देखकर प्रसन्न होता है, इसपर वह कुछ नाराज़ होती है, कि कोई इस इशारेबाज़ीको ताड़ न जाय। फिर आंखे चार होती है, और नायिका लज्जित हो जाती है।

अलंकार—तीसरी विभावना, प्रतिबन्धक भीड़के होते भी बेमालूम बाते हो गयी !

"भरयो भौन बाधक तऊ काज होत सुख बात।"–(अमरचन्द्रिका)

या चौथी विभावना—अकारण—(बात करनेका 'कारण' साधन—वाणी है आंख नही) आंखोसे बातें हो गयी।

पूर्वार्द्धमे कारक दीपक। तकारसे 'वृत्त्यनुप्रास'।

संस्कृत "यशवन्त-यशोभूषण" मे इस दोहेका, यह अनुवाद उसके "प्रतीपालंकार" के उदाहरणमे है:—

"ब्रतो निषेधतश्चैव तुष्यतः कुप्यतस्तथा ।
नयनैरेव कुरुतो वार्तां तौ दम्पती रसात् ॥"

५६

दीठि बरत बांधी अटनि चढ़ि आवत न डरात।
इत उततैं चित दुहिनि के नट लौं आवत जात॥

(सखीका वचन सखीसे)-

अर्थः— (दीठि बरत)- दृष्टिरूप बरत- रस्सी, (अटनि बांधी)- अटारियोंपर बांधी है (चढ़ि आवत, न डरात)- उसपर चढ़कर आते है, डरते नहीं। (दुहुनि के चित)- दोनोंके चित्त (इत उततें)- इधरसे उधरसे— दोनों ओरसे-(नट लौं आवत जात) - नटकी तरह आते जाते हैं।

नायक नायिका आमने सामने अटारियोंपर चढ़े एक दूसरे को देख रहे हैं। इसकी उपमा कवि, "रस्सीपर चढ़कर नटके चलने"- से देता है। नट, एक लंबी बरत (वरत्रा) वृक्षोंमें या ऊँचे बाँसोमे बांधकर उसपर चलते हैं— इस तरह कि एक नट इधरसे जाता है, एक उधरसे आता है! और बेखटके दोनों साफ़ निकले चले जाते हैं! यहां दोहेमें—दोनोंकी दृष्टिही एक बरत है, जिसपर दो नटोंकी तरह दोनोंके, चित्त (मन) इधर उधरसे आते जाते है। नट अपने अभ्यास-बलसे गिरनेसे नहीं डरते। इन्हें भी अपनी मस्तीमे इस बातका डर नहीं, कि इस दशामे कोई देख लेगा तो क्या होगा!

आश्चर्य्य सञ्चारी भाव। अलङ्कारः—दीठि-बरतमे 'रूपक'। 'पूर्णोपमा'-'मन' उपमेय। 'नट' उपमान। 'लौं' वाचक। 'आना जाना'— साधारण धर्म।

'अमरचन्द्रिका'में इस दोहेपर यह प्रश्नोत्तर है —

प्रश्न—"नट आवत फिरि जात नहि जात सु बनत न बात।
उत्तर—मनै मनै आवत सु तिहि कहै सु आवत जात॥
"चित नट लौं आवत। पूर्णोपमा। हरे हरे आवतो जाय है।"

अर्थात्- यहाँ जो नटका 'आना जाना' कहा है, वह नहीं बनता। क्योंकि नट आ तो सकताहै पर उलटा फिर नहीं सकता। इसलिये 'आवत जात'का अर्थ है "शनैःशनैः- हौले हौले-आता है।"

इसपर 'रसचन्द्रिका'मे लिखा है—

—"जो अच्छे नट होइ है, ते आवत भी है और पिछले पाइन जात भी है।"

और फिर यहाँ एक नहीं दो नट हैं— "चित दुहुनिके" से स्पष्ट है कि दो नटोकी तरह दोनोंके चित्त 'इत उत'— इधर उधर— से "आवत जात" है!

यदि दृष्टिकी वरतके समान— (दोनोकी दृष्टिही एक वरत है) दोनोंका चित्त भी कविको एकही कहना अभिप्रेत होता, तो 'दुहुनिके'की जगह 'दुहुनिका' पाठ होता। दो नट एक ही साथ आमने सामनेसे एक वरतपर, शनैः शनैः नही अच्छी तरह झपटकर चले और न डरे न गिरें, तव तो आश्चर्य्य और प्रशंसाकी बात है। हौले हौले एक ही नट सिर्फ़ एक ओर ही जा सके तो इसमे कुछ नटकी तारीफ़ नही। 'रसचन्द्रिका'का कथन बिलकुल ठीक है कि "जो अच्छे नट होते है वे आते भी है और पिछले पॉव लौट भी जाते है"- विहारी भी ऐसे ही सुनिपुण मनचले (साक्षात् मनरूपी!) नटोका वर्णन करते है। हौले हौले 'जूं' की तरह रींगनेवाले डरपोक रद्दी नटोका नहीं!

इस दोहेका अनुवाद 'यशवन्तयशोभूषण'मे 'प्रत्यनीक अलङ्कारके उदाहरणमे यह हैं :—

"परम्परालोकनरज्जुरेषा ह्यट्टान्तरादट्टभुवि प्रबद्धा।
गतागतं निर्भयमत्र यूनोर्नटौ विधत्तो मनसी नितान्तम्॥"

६०

कंजनयनि मंजन किये बैठो ब्यौरति वार।
कच अँगुरिन बिच दीठि दै चितवति नन्दकुमार॥

(सखीका वचन सखीसे)

अर्थ—(कंजनयनि)— कमलनयनी नारी, (मंजन किये, बैठी बार ब्यौरति)-मज्जन-स्नान-किए बैठी बाल(केश) सुलझा रही है (कच अँगुरिन बिच, दीठि दै)—बालों और उंगलियोंके बीचमे दृष्टि देकर (नन्दकुमार चितवति *)—नन्दकुमार—श्रीकृष्णको देख रही है।

नायिका स्नान कर बाल सँवारने बैठी है, कंघी कर रही है। सामने ही कही नन्दकिशोरजी भी विराजमान हैं, सो उंगली और बालोंके बीच नज़र डाले उन्हें देख रही है। यहां बाल सुलझ रहे हैं, वहां नयन उलझ रहे हैं। बाल सॅवारनेके बहाने उन्हें देख रही है। इससे "पर्यायोक्ति" साफ़ ही है।

'प्रतापचन्द्रिका' के मतसे 'कंजनयनि' में "धर्मवाचक-लुप्तोपमा" है। कंज उपमान। नयन उपमेय। वाचक और 'धर्म' नदारद! "स्वभावोक्ति" भी स्पष्ट है।

इसी भावकी एक आर्या "आर्या-सप्तशती"में है। यथा:—

"काचित् कञ्चिद् वक्ति"—

"चिकुर-विसारण-तिर्यङ्नत-कण्ठी, विमुख-वृत्तिरपि बाला।
त्वामियमगुलि-कल्पित-कचावकाशा निलोकयति ॥२३१॥"

---

* "निरखति नन्दकुमार" —किवा- नायिका नायक सो कहति है, हे कुमार! कच अगुरिन विच दीठि देकै हमारी 'नन्द' जो है ननद सो देखति है। किवा—नायिका वचन सखी सों—हमारी जो नन्द (ननद) सो कुमारको निरखति है।" (हरिप्रकाश)

—कोई सखी किसी नायकसे कहती है कि—बाल सँवारनेमें गरदनको तिरछी झुकाए, पीठ फेरे हुए भी, उँगलियों और बालों के बीचमें देखनेकी जगह बनाकर यह तुम्हें देख रही है !

कितना सादृश्य है !— " चिकुर-विसारण " (केश-परिष्करण) "'ब्यौरति बार"। 'अङ्गुलिकल्पित-कचावकाशा' और 'कच अँगुरिन बिच दीठि दै' 'विलोकयति' और 'चितवति' दोनो जगह एक हैं !

इसी आर्याकी छायापर इस दोहेकी रचना हुई है तो भी "नन्दकुमार" की कृपासे बिहारी इस मैदानमें गोवर्धनसे पीछे नहीं रहे, बलिक माधुर्यमे कुछ आगे बढ़ गये हैं ! पढ़नेवालेकी ज़बान और सुननेवालेके कान इसमें साक्षी हैं !

६१

जुरे दुहुनि के दृग झमकि रुके न झीने चीर।
हलको फ़ौज हरौल ज्यौं परत गोल पर भीर ॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ—(दुहुनिके दृग)— दोनोंके नेत्र (झमकि जुरे)—झपटकर जल्दीसे—आपसमें भिड़ गये ! (झीने चीर न रुके)—बारीक वस्त्रके घूंघटमें न रुके। (ज्यौं हलकी हरौल *)—जैसे अगली फ़ौज निर्बल और थोड़ी होनेपर (गोल† पर भीर परत)—गोल-सेनाके मध्यस्थित प्रधान भागपर—भीड़ (विपत्ति) पड़ती है !

---

* हरौल या हरावल, सेनाके उस भागको कहते हैं जो सबमें आगे रहता है। अँग्रेजीमें शायद इसीका रूपान्तर Herald है !

† "गोलकी फौज जो है बड़ी फौज" (हरिप्रकाश)

नायिका वारीक चीरसे मुंह ढके है, सामने नायक डटे हैं। चीरको चीरकर दोनोके नेत्र-भट आपसमें भिड़ गये हैं। इस घटनाको कविने दो सेनाओके भिड़नेका दृष्टान्त देकर कविताका रूप दिया है।

अलङ्कार—'दृष्टान्त'। हलकी हरौलमे 'छेकानुप्रास'। लकारकी आवृत्तिसे "वृत्त्यनुप्रास" है।

"चेद्बिम्व-प्रतिविम्वत्व दृष्टान्तस्तदलङ्कृति।" (कुवलयानन्द)

"जहा एक वातमें एक वातकी छाया परै—

"भाव विम्व प्रतिविम्वकौ दृष्टान्त सुनेहै नाम।" (हरिप्रकाश)

जहां उपमान और उपमेयके भिन्न भाव, विम्व-प्रतिविम्व-भावसे दिखलाई दें, वह "दृष्टान्त" अलंकार है। जैसे यहाँ 'उपमेय' नेत्रोंके मिलने और 'उपमान' सेनाके भिड़नेके भिन्न भावोका परस्पर विम्व-प्रतिविम्व भाव है।

"भाव विम्व प्रतिविम्वकौ दृष्टान्त सुकवि धीर।
मिले सुदृग, दृष्टान्त ज्यौ परति गोलपर भीर॥" (अमरचन्द्रिका)

इस दोहेपर अमरचन्द्रिकामें कोई दस दोहोंमें प्रश्नोत्तर है, जिसका संक्षेप यह है :—

प्रश्न—"नायिकाकी ओर तो चीरकी 'हरौल' है, पर नायकके पास कौन हरौल है! अर्थात् नायकके नेत्र-भट नायिकाके चीररूप 'हरौल' को हटाकर जा मिले, पर नायिकाके नेत्र-भटोंने दूसरी ओरकी किस हरौलको हराकर गोल-(नायकके नेत्ररूप मुख्य सेना-भाग)-पर धावा किया? नायिकाकी नेत्र-सेना अपनी हरौल (चीर) को स्वय तो हटावेगी नहीं, कोई सेना अपनी हरौलको स्वय आगेसे हटाकर या रोककर नहीं वढती, इसलिये दूसरी ओर भी एक 'हरौल' होनी चाहिये। एक ओरकी 'हरौल' दोनों ओरकी 'हरौल' नहीं हो सकती।"

उत्तर—"दोनों ओर "हरौल" हो, यह कोई नियम नहीं है । बड़ी बादशाही फौजके आगे 'हरौल' रहती है, लुटेरे कज्जाकोंकी सेनाके आगे "हरौल" नहीं रहती । सो यहां पटरूप 'हरौल' के पीछे, नायिकाके नेत्र 'गोल'— (या गोलमें रक्षित बादशाह) है, उसपर नायकके लुटेरे नेत्र धावा बोलकर—चीरकी हरौलको हटाकर—टूट पड़े है ! चीर 'हलका'—बारीक—होनेसे 'हलकी हरौल' थी, वह नायकके सुभट नेत्रोंके आक्रमणको न रोक सकी, इसलिये नायिकाके नेत्ररूप 'गोल' पर भीड़ आ पड़ी। वह भी उधरसे जी तोड़कर भिड़ गये ! " — *

*"नायिकाकी ओर घूंघट हरौल है, नायककी ओर हरौल कौन ?—नायिकाकी आंखि पादशाही फौज । नायकके नेत्र दखिनी जानिये, (दक्षिणी फौजमें) हरौलकी रीति नहीं ।" (हरिप्रकाश)

" हेत यह है कि झीना चीर, जो हलकी फौज थी हरौलकी, सो नायकके दृग जो "कजाक' थे सो झीने चीरमें न रुके । झमककर भीतर आये, और नायिकाके दृग जो गोलकी जगह थे तिनपर भीर परी, सो वे भी झमकके जुर गये ।" "और झीने चीरको हरौलकी उपमा इसवास्ते दीनी कि सुभाय (!) बना था !" (रसचन्द्रिका)

६२

पहुँचति डटि रन सुभट लौं रोकि सकैं सब नाहिँ।
लाखनिहूँ की भीरमें आंखि वहीं चलि जाहिँ॥

(सखीकी सखीसे उक्ति *)—

अर्थ:— (रन सुभट लौं)— रणशूरके समान (डटि पहुंचति)— डटकर—दृढ़तासे पहुचती हैं, (सब नाहिँ रोकि सकैं)— सब (मिलकर भी) नहीं रोक सकते, (लाखनिहूं की भीरमे)— लाखोकी भीड़मे (आँखि वहीं चल जाहिँ) —आँखे वही— (नायककी आँखें नायिकाकी ओर, और नायिकाकी आँखे नायककी ओर)— चली जाती हैं !

यह नेत्रोकी लड़ाईका दूसरा दृश्य है। यहां हरौलकी हद नही है, दोनो ओर खुला मैदान मालूम होता है। दो रणमाते सूरमाओका बराबरका जोड़ है, जो लाखो दर्शकोकी भीड़को चीरते फाड़ते ख़म ठोकते बराबर बढ़े आ रहे हैं। किसकी शक्ति है जो इन्हे रास्तेमे ज़रा भी रोक सके! यह लो, आपसमे भिड़ हो तो गये! भाई वाह! पूरे सूरमा है! फिर "पूर्णोपमा"का अलङ्कार इन्हे दर्शकोकी ओरसे पुरस्कारमे क्यो न मिले! मैदान बराबरका रहा!

१—अलङ्कार "पूर्णोपमा"। रणसुभट—उपमान। आँख—उपमेय। लौं—वाचक। पहुचना—साधारण धर्म।

२— "विभावना"— प्रतिबन्धक— भीड़ रहते भी पहुचना— कार्य हो गया।

---

* "उक्ति नायककी कैं नायिकाकी। पूर्वानुराग, औत्सुक्य सञ्चारी। वचन अनुभाव।" (प्रतापचन्द्रिका)

३— "विशेषोक्ति"— भीड़, रोकनेका पुष्कल कारण है, पर रुकना कार्य नहीं हुआ।

४— आँख वहीं चलकर पहुचती हैं, और जगह नहीं, इससे "परिसङ्ख्या" (प्रताप-मते)

'सुभट सकै' से "छेकानुप्रास" भी।

६३
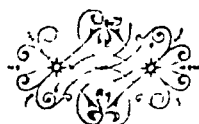
ऐंचति सी चितवनि चितै भई ओट अरसाय।
फिर उझकनिकौ मृगनयनि दृगनि लगनियाँ लाय॥

(नायकका वचन सखीसे)—

अर्थः—(ऐंचति सी, चितवनि, चितै)— खींचती हुई सी चितवन — दृष्टि से देख कर, (अरसाय ओट भई)–ऐंडती अँगड़ाती हुई अलसानेकी अदा—(अनुभाव)से (ओट भई)— सखीकी या दीवारकी आड़में हो गयी। (मृगनयनि*)— नायिकाने (फिर उझकनिकौ)– फिर झांकने या उचक-कर देखनेका (दृगनि लगनियाँ लाय)– आंखोंको झांसा दे दिया, या लाग लगा दी। मृगनयनी आंखोंको इस-प्रकार देखनेका झांसा देकर ओटमे हो गयी!

---

* "नायिका अपनी हकीकत कहै तो 'मृगनयनी' सखीका सम्बोधन है," (हरिप्रकाश)।

—इस नज़रसे देखा कि देखने वालेको खींच लिया ! और इस अदासे देखा कि वह फिर उस 'देखने'को देखने-की आशा लगाए है । फिर देखनेकी टोहमे उधर खड़ा देख रहा है कि ओटसे निकल कर, फिर उसी चितवनसे देखेगी ।

नायिका परकीया। अभिलाषा, शङ्का, सञ्चारी भाव। अलसाना— अनुभाव ।

अलङ्कार—"अनुमान" (अमरचन्द्रिकाके मतमे) यथा:—

"मो चितवन कौ ऐचि लिय, जानी चाहति मोहि ।
यातें फिर वह झाकि है 'अनुमान' सु यह टोहि ॥"

—अर्थात् उसने मेरी आंखोको खींच लिया है, मुझे आसक्तिपूर्वक देखा है, इससे जाना कि वह मुझे चाहती है, इससे फिर भी झांकेगी — यह अनुमान' है ।

हरिकविके मतमे, यहां 'ऐंचति' क्रियाके आगे 'सी' वाचक है, इससे 'उत्प्रेक्षा'। 'मृगनयनी' यहां "लुप्तोपमा"। — प्रतापके मतमे 'रूपक' और 'कारक दीपक' भी है ।
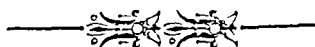
६४

दूरौ खरे समीप कौ मान लेत मन मोद ।
होत दुहुनिके दृगन हीँ बतरस हँसी विनोद ॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ.— (दूरौ खरे)— दूर खड़े हुए भी, (समीपको मोद, मन मान लेत)— समीपका आनन्द मनमें मान रहे हैं। अथवा दूर हैं तो भी "खरे समीप"— अतिसामीप्यका आनन्द मना रहे हैं। (दृगन हीं)— आंखोंहीमे (दुहुनिके)—

— दोनोंके, (बतरस, हँसी, विनोद होत)— बातोंका मज़ा, हँसी मज़ाक़, सब कुछ हो रहा है!

नायिका परकीया। दोनोंको—हर्ष सञ्चारी भाव। कटाक्ष-विक्षेप — अनुभाव।

दोनों दूर खड़े हैं, पर आंखोंकी कृपासे मानो पास बैठे हुए बातोंका मज़ा ले रहे और हँसी मज़ाक़ कर रहे हैं!

अलङ्कार— "विभावना"। दूर खड़े हैं पर पासका मज़ा ले रहे हैं!

(प्रतापचन्द्रिकाके मतमें) "विभावना और 'दीपक'की संसृष्टि"। तद्यथा—

"दृग हँसी—उपमेय, बतरसहँसी—उपमान, विनोद एक पद, याहीको (एक पदको) धर्म कहे है।"

"उपमानरु उपमेय सों इक पद लागै जाय।
ता सों "दीपक" कहत है सकल सुकवि समुदाय॥"

तथा 'होत' एक क्रियासे "तुल्ययोगिता" है।
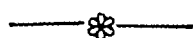
६५

जदपि चवायनि चीकनी चलति चहूँ दिसि सैन।
तदपि न छांड़त दुहुनिके हँसी रसीले नैन॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ—(जदपि चवायनि चीकनी)—यद्यपि चवावसे चिकनी—निन्दासे सनी (सैन)—इशारे (चहूंदिसि चलति)—चारों ओरसे चलते हैं, (तदपि) तो भी, (दुहुनिके)—दोनोंके, (रसीले नैन)—रसीले नेत्र (हँसी न छांड़त)—हँसी नहीं छोड़ते।

पूर्वानुराग । धृति सञ्चारी । 'सैन' पदसे परकीया व्यङ्ग्य ।

दोनोंका प्रेम प्रकट हो गया है—इस बातको अपने पराये सब जान गये हैं । चारो ओरसे उँगलियां उठती हैं ! इशारे होते हैं—ताड़ने वालोंकी आंखोंसे निन्दासूचक सैन चलती हैं, तो भी इन दोनोंके रसीले नैन हँसी नहीं छोड़ते ।

"जब आँखे चार होती हैं हँसी फिर आही जाती है ।"

अलङ्कार—"विशेषोक्ति"— 'सैन' कारण है, पर 'हँसी छूटना' कार्य न हुआ पर न हुआ ! 'तीसरो विभावना'—

"बाधक सैन, चवाव छत (सत्यपि) हँसी काज तऊ होय ।"
(अमरचन्द्रिका)

पूर्वार्द्धमे चकारसे 'वृत्त्यनुप्रास' । उत्तरार्द्धमे 'हँसी रसी'से छेकानुप्रास ।

इसपर अमरचन्द्रिकामे कुछ प्रश्नोत्तर भी है । उसका भाव यह है :—

प्रश्न—"चवाव भरी सैन चलती है"—ऐसा तो कहा जाता है, पर यहां (दोहेमें) "चीकनी सैन' से क्या अभिप्राय है ?"

उत्तर—"यह है—कि "रूखी" सैन क्रोधभरी होती है, और यह प्रायः दोषदर्शी विद्वेषीकी होती है, उसके उत्तरमें कहा जा सकता है कि यह दुष्ट व्यर्थका दोष देते है, इसलिये इसकी परवा नहीं । पर "चीकनी सैन" स्नेही और हितैषीकी होती है, जो केवल हितबुद्धिसे चलाई जाती है । यहां "चिकनी सैन" का यह अभिप्राय है कि ये दोनों प्रेमी ऐसे ढीठ हैं जो अपने हितैपियोकी सैन की भी परवा नहीं करते । और हँसनेसे बाज नहीं आते ।"

६६

सटपटाति सो ससिमुखी मुख घूंघट पट ढांकि ।
पावकझर सी झमकि कै गई झरोखा झांकि ॥

(नायकका वचन सखीसे)—

अर्थ—(सटपटाति सी)—छटपटाती सी—मानो व्याकुल हुई (ससिमुखी)— चन्द्रमुखी नायिका (मुख घूंघट-पट ढाँकि)—मुखको घूंघटके आंचलसे छिपाकर (पावक-झरसी झमकिकै)—आगकी लपटकी—भवूकेकी—तरह झमककर,(झरो-खा झांकि गई)—झरोखेमे झांक गयी।

शशिमुखी नायिका छटपटाकर झरोखेमे ऐसे झांक गयी मानो आगकी लपट झमक गयी !

गुणकथनसे नायकका पूर्वानुराग व्यङ्ग्य। वचन अनुभावसे नायिका परकीया। तथा उसके शङ्का सञ्चारी भाव व्यङ्ग्य।

अलङ्कार—"पूर्णोपमा" । शशिमुखी—उपमेय । पावक-झर—उपमान । सी—वाचक । झमकना— साधारण धर्म । "उत्प्रेक्षा"—'सटपटाति सी'में । झकारकी आवृत्तिसे "वृत्त्यनुप्रास"

——:o:——

"आकृति-लक्षिता-वर्णन"—

६७

कबकी ध्यान लगी लखौं यह घर लगि है काहि ।
डरियत भृंगी कीट लौं जिन वह ई ह्वै जाहि ॥

(सखीकी उक्ति सखीसे)—

अर्थ—(कबकी ध्यान लगी, लखौं)—यह कबकी (नायकके) ध्यानमें लगी है, मैं देखती हूं, (यह घर काहि

लगि है)– यह घर किसे लगेगा, अर्थात् इस ध्यानस्थ नायिकाके घरको कौन सॅभालेगा । (डरियत)—डर है कि (भृङ्गी* कीट लौं)—भृङ्गीके पकड़े हुए कीड़ेकी तरह (जिन वह ई हु जाहि)—मत वही (नायक ही) हो जाय ।

नायिका, नायकके ध्यानमे तन्मय बनी वैठी है। उसकी यह दशा देखकर सखी दूसरी सखीसे कहती है कि मैं देख रही हूं यह कितनी देरसे ऐसे ही ध्यानमे लगी वैठी है, इसे तो अपनी ही सुध नही, इसके घरकी खबर कौन लेगा ! कहीं ऐसा न हो कि यह भृङ्गीके क़ाबूमे पड़े कीड़ेकी तरह तद्रूप– (नायक-रूप)–ही हो जाय !

भृङ्गी (भमीरी) कीड़ा दूसरे –(झींगर आदि)– को पकड़कर अपने घरमें बन्द कर रखता है, और वार वार उसके सामने उड़ता और गुंजारता रहता है, उस पकड़े हुए कीड़ेको प्रतिक्षण उसीका ध्यान वना रहता है, जिससे कुछ दिनोंमें वह कीड़ा, भृङ्गी वन जाता है !

पूर्वानुरागमे नायिकाकी स्मृति दशा। वितर्क सञ्चारी भाव।

अलंकार—'गम्योत्प्रेक्षा', (हरि कविके मतमें)। ध्यानसे "स्मृति" अलंकार, (अमरचन्द्रिकाके मतमे)। "उपमा" (प्रतापके मतमें)। 'दृष्टान्त' और 'निदर्शना'का संकर, (परमानन्द-कविके मतमे)।

---

* भृङ्गी —"भृङ्गी कौ नाम सस्कृतमें 'डिडीरव (!) पूरबमें "घिरनी", सो कीरा पकरि कै अपनो स्वरूप करि लेत है ।" (हरिप्रकाश)

"भृङ्गी कीटकी भांति—कहैं 'कुम्हरिया' कीड़े की रीति से । " (लालचन्द्रिका)

भ्रमरी-कीट या भृङ्गी-कीटका उल्लेख ध्यानकी महिमासे तद्रूपप्राप्तिके प्रसङ्गमें संस्कृत ग्रन्थोंमें भी है। इस विषयके दो पद्य नीचे उद्धृत हैं—

१— *" बिभेमि सखि ! सवीक्ष्य भ्रमरीभूत-कीटकम् ।*
तद्ध्यानादागते पुंस्त्वे तेन सार्धं रतिः कथम् ॥"

× × ×

—कोई विरहिणी कहती है सखी ! कीड़े को भृङ्गी बना देखकर मैं डर रही हूं, निरन्तर उसके—(प्रियके) ध्यानमें यदि मुझे 'पुंस्त्व' प्राप्त हो गया—प्रियका ध्यान करते करते यदि मैं 'पुरुष' बन गयी— तो फिर उसके साथ रमण कैसे होगा !

२— *" कीटोऽयं भ्रमरीभवेदविरतध्यानात्तथा चेदहं,*
रामः स्यां त्रिजटे ! हतास्मि पुरतो दाम्पत्यसौख्यच्युता।
एवं चेत् कृतकृत्यतैव भविता रामस्तव ध्यानतः
सीता, त्वं च निहत्य रावणमरिं गन्तासि रामान्तिकम् ॥"

—त्रिजटासे सीताजी कहती हैं कि जिस प्रकार निरन्तर ध्यान करते करते यह कीड़ा भृङ्गी बन जाता है, इसी प्रकार यदि मैं भी रामचन्द्रजीका ध्यान करते करते, 'राम' बन गयी तो फिर मर गयी—दाम्पत्य-सुखसे वञ्चित होकर कहीं की न रही !

इसपर त्रिजटा कहती है कि यदि कहीं ऐसा हो जाय—तू राम बन जाय—तो फिर काम बन गया समझो, रामचन्द्रजी तुम्हारा ध्यान करते करते सीता, बन जायेंगे। तुम अपने शत्रु रावणको स्वयं मारकर अपने राम—(नहीं 'रामा')—से जा मिलियो !

६८

रहो अचलसी ह्वै मनौं लिखी चित्र की आहि।
तजे लाज डर लोक कौ कहौ विलोकति काहि॥

(सखीका वचन सखीसे)-

अर्थ :— (अचल सी ह्वै रही) – जड़के समान हो रही हो, (मनौं चित्रकी लिखी, आहि) – मानो चित्र-लिखित मूर्त्ति हो ! (लोक को लाज डर तजे) – लोककी लज्जा और भयको छोड़कर (कहो काहि विलोकति) – कहो किसे देख रही हो ?

नायिकासे सखी कहती है कि ऐसी निश्चल बनी मानो कोई तसवीर बैठी हो, तू लोकलाज और गुरूजनके भयको छोड़कर किसे देख रही है ? बता तो सही !

हेतुलक्षिता परकीया। स्तम्भ सात्त्विक।

अलङ्कार—"वस्तूत्प्रेक्षा"। ककार से "वृत्यनुप्रास"।

६९

पल न चलै जकि सी रही थकि सी रही उसास।
अब ही तन रितयौ कहा मन पठयौ किहिँ पास॥

*(सखीका वचन नायिकासे)—

अर्थ :— (पल न चले) – पलक भी नहीं चलती, (जक सी रही) – जकड़ी सी हो रही है, और (उसास थकि सी रही) – सांस भी थक सा रही है, (अब ही कहा तन रित-

*सखीकी 'उक्ति, परिहास करत है,। परकीया नायिकासों"(हरिप्रकाश)

यौ) - अभी—सङ्गम-समय से पहिले, दिन में ही—क्या शरीर शून्य— रीता, खाली—कर दिया ! (किहिं पास मन पठयौ)– मन किस के पास भेज दिया है ?

सात्त्विक जड़तासे जकड़ी हुई नायिका प्रियका चिन्तन कर रही है, उसमें ऐसी तन्मनस्का हो रही है कि पलक मारना और सांस लेना भी भूल गयी है ! यह देखकर सखी कहती है कि क्या तन रीता (खाली) करके मन किसीके पास भेज दिया है ! जो ऐसी संज्ञाशून्य और निश्चेष्ट बनी बैठी है ?

मनकी गतिसे ही शरीर और प्राणोंकी गति हो है। जब मन चला गया, शरीर शून्यप्राय हो गया, और प्रा भी थककर रुक रहे !

हेतु-लक्षिता परकीया नायिका। स्तम्भ सात्त्विक। स्मृ संचारी। पूर्वानुराग व्यङ्गय।

अलङ्कार—"अनुक्तास्पदा वस्तूत्प्रेक्षा" (जकी सी, थर सी" की "सी" उत्प्रेक्षावाचक 'मानो'के अर्थमें है "स्मृति"— "मन पठयौ" से। 'जकी थकी सी' "छेकानुप्रास"।

—*—

७०

नाम सुनत ही ह्वै गयौ तन औरै मन और।
दबै नहीं चित चढ़ि रह्यौ अबै चढ़ाये त्यौर।

(सखीका वचन नायिकासे)—

अर्थ :— (नाम सुनत ही) - नाम सुनते ही, (तन औ मन और ह्वै गयौ) - तन और, ओर मन और हो गया ! (अ त्यौर चढ़ाये) – अब त्यौरी चढ़ाने से, (चित चढ़ि रह्यौ ना

दवै)-चित्तपर चढ़ा हुआ (नायक या उसका स्नेह) नहीं छिप सकता।

किसीने प्रसङ्गवश नायकका नाम लिया, जिसे सुनते ही नायिकाका तन और मन, और से और हो गया! शरीरपर रोमाञ्च हो आया और मनसे प्रसन्नताकी झलक आने लगी। सखीने इसका कारण जानकर उसे छेड़ा तो वह त्यौरी चढ़ाकर छिपाने और मुकरने लगी। पर छिपा-नेसे कहीं ऐसी बात छिपती है!

लक्षिता नायिका।

अलङ्कार—"भेदकातिशयोक्ति"—

"भेदकातिशयोक्तिस्तु तस्यैवान्यत्ववर्णनम्"। (कुवलयानन्द)

"और" पद दीजे जहा अधिकाई के हेत।

अतिशयोक्ति भेदक यहै कहत सुकवि सिरनेत।"

'छेकानुप्रास'— अवै-दवै से—

७१
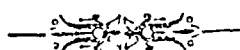
पूछे क्यौं रूखी परति सग बग रही सनेह।
मन मोहन छवि पर कटी कहै कटयानी देह॥

(सखीका वचन नायिकासे)—

अर्थ—(पूछे क्यों रूखी परति)- पूछनेसे क्यों रूखी पड़ती है! (सग बग रही सनेह)- स्नेह- (प्रीति) मे शरा-बोर हो रही है—सिरसे पैर तक स्नेहमें पग रही है! (मन-मोहन-छवि पर कटी)- तू मन मोहन की छविपर कट रही है—रीझ रही है, (कटयानी देह कहै)- इस बातको तेरी

कण्टकित देह कह रही है। अथवा — "मन मोहन छवि परकटि"—तेरे मनमें मोहन की छवि 'परकटी'—प्रकट हुई है, जिसे तेरी रोमाञ्चित देह कह रही है। किंवा—कटानी देहने तेरे मनमें मोहन की छविको प्रकट कर दिखाया है, तू कहती क्यों नहीं? यही बात है न?

रोमाञ्च सात्त्विक अनुभाव से हेतुलक्षिता नायिका। अवहित्था संचारी।

सखीने नायकके प्रेमको पहचान लिया, नायिका रुखाईसे उसे छिपाती है। सखी कहती है कि रुखाईसे स्नेह नहीं छिप सकता, सम्भव है, ज़रा सा 'स्नेह-विन्दु' 'रुखाईको राख' से छिपा भी दिया जाय, पर जो चीज़ स्नेह—(तैल, प्रीति) में डूब रही है, वह थोड़ी सी रुखाईकी राख छिड़कने से कहीं छिप सकती है! तेरी यह देह जिसपर कांटेसे (सात्त्विक) रोमाञ्च उठ आये हैं, इस बातको कह रही है कि तू मन मोहन की छविपर कट रही है—आसक्त हो रही है-मोहित हो रही है!

'स्नेहमे सग वगी' का 'रूखा पड़ना' और 'कटयानी देह'-का 'छविपर कटना' वतलाना, खूब है। वड़े चुस्त मुहावरे हैं।

सग वग होना—प्रेममें पगना-स्नेह मे सनना, शरावोर होना। "रूखा पड़ना" रुखाई दिखाना, नाराज़, होना। "कटना"—प्रेममें कट मरना, टूक टूक होना अत्यासक्त होना, रीझना।

अलङ्कार—"काव्यलिङ्ग" रोमाञ्च से स्नेह दृढ़ किया।

७२

प्रेम अडोल डुलै नहीं मुख बोलै अनखाय।
चित उनकी मूरति बसी चितवन माहिँ लखाय॥

(सखीका वचन नायिकासे)—

अर्थः—(प्रेम अडोल डुलै नहीं)—प्रेम अडोल—अचल—है, वह हिलानेसे डुलता नहीं—अर्थात् इतना दृढ़ है कि छुड़ानेसे छूट नहीं सकता। (मुख बोलै अनखाय)—तू मुखसे अनखाकर—नाराज़ होकर—बोलती है। पर (चित उनकी मूरति बसी)—तेरे चित्तमें उनकी मूर्ति वसी है, जो (चितवन माहिं लखाय)—तेरी चितवनमें दीख रही है।

नायकमें नायिकाका पूर्वानुराग देखकर सखी कहती है कि मैं समझ गयी, तेरा प्रेम उनमें इतना दृढ़ है जो किसी प्रकार हिलाए हिल नहीं सकता, तू दिखानेके लिये मुंहसे रुष्ट होकर बोलती है—जी से नहीं, केवल मुँहसे नाराज़गी दिखाती है। पर इससे क्या होता है? भीतर चित्तमें जो उनकी मूर्ति विराजमान है सो तेरे देखनेमें (अनुरागभरी दृष्टिमें) साफ़ दिखाई दे रही है! आन्तरिक प्रेम, बाहरके बनावटी कोपसे छिपाया नहीं जा सकता!

यहां "अडोल डुलै नहीं"—को पुनरुक्त समझकर और 'मुख बोलै'—में 'मुख' शब्दको व्यर्थ बताकर ('बोलै' ही से मुखका बोध हो जाता है, क्योंकि मुख ही से बोलते हैं) 'अमरचन्द्रिका' के प्रश्नोत्तरका दोहा और अपनी "वार्त्ता" लिखकर लल्लूलालजीने व्यर्थ बात बढ़ाई है। वास्तवमें न कोई पुनरुक्ति है न 'मुख' व्यर्थ है। जैसा कि हरिकविने कहा है—

—"दो वार वाधी वात अति दृढ होती है, यह रीति है, पुनरुक्ति नहीं, अति दृढता व्यक्त होती है।" "मुख शब्दमें यह ध्वनि हुई कि मनसे तू राजी है।"

वितर्क सञ्चारीसे नायिका परकीया। स्मृति दशा। चिन्ता सञ्चारी। आकृति अनुभावसे पूर्वानुराग व्यङ्गय।

अलङ्कार— "अनुमान"। "यमक"— 'चित चित' में। 'विभावना, अनुमान, और यमककी संसृष्टि'-(अनवरचन्द्रिका)।

७२

ऊंचे चितै सराहियत गिरह कबूतर लेत।
दृग झलकित मुलकित वदन तन पुलकित किहि हेत

(सखीका वचन नायिकासे)—

अर्थ:—(ऊँचे चितै) – ऊपर देखकर (सराहियत)– सराहते हैं, (कवूतर गिरह लेत)– कि कवूतर गिरह ले रहा है– कलावाज़ी करता हुआ क्या अच्छी उड़ान ले रहा है! (दृग झलकित, वदन मुलकित, तन पुलकित, किहि हेत)— परन्तु तेरे नेत्र डवडवा रहे हैं, मुखपर प्रसन्नताकी झलक है, और शरीर पुलकित–रोमाञ्चयुक्त—है, यह किस कारण!

नायकने अटारीपरसे अपना 'गिरहवाज़' कवूतर उड़ाया है। नायिका कवूतर देखनेके वहाने नायकको देख रही है। जिससे उसे अश्रु, रोमाञ्च- रूप सात्त्विक भाव हो आया है। इस वातको समझकर सखी कहती है कि अच्छी उड़ान वाले गिरहवाज़ कवूतर को उड़ता देखकर उसको प्रशंसा

करना तो ठीक है, पर तेरी आंखोमे आंसू, मुंहपर मुसकराहट और शरीरपर रोमाञ्च क्यो है? केवल कबूतरका उड़ना तो इनका कारण नहीं हो सकता! सच बता, क्या बात है?

"फकत है वास्ता इतना कि वह प्यारे का प्यारा ह !"

क्यो यही कारण है न?

अलङ्कार—"पर्यायोक्ति" कबूतरके बहाने नायकको देखना इष्ट है। "हेतु"- कारण देखना और कार्य अश्रु रोमाञ्च एक साथ हैं। यदि सखी नायिकाको सुनाकर नायकको जता रही- है कि यह तुमपर आसक्त है, तो "गूढ़ोक्ति"। ककारसे "वृत्त्य-नुप्रास"।

७४

यह मैं तो ही में लखो भक्ति अपूरब बाल।
लहि प्रसाद-माला जु भौ तन कदम्बकी माल॥

(सखीका वचन नायिकासे) –

अर्थः—(बाल) हे बाले! (यह अपूरब भक्ति, मैं तो ही में लखी) - यह अपूर्व भक्ति मैंने तुझ ही मे देखी कि (जु प्रसाद-माला लहि) - जो प्रसादी की माला पाकर (तन कदम्ब की माल भौ) - तेरा शरीर कदम्ब की माला हो गया!

नायकने नायिकाको, सखीके हाथ माला भेजी है। नायिका-के पास उस समय कोई बहिरङ्ग सखो बैठी है, जान जाय इसलिये सखीने "प्रसाद-माला" + (जो देवालय-

+ "ठाकुर के पडा सों नायिका की प्रीति है यों भी लगावें हैं"
(हरिप्रकाश)

की ओरसे भक्त जनोंको दी जाती है) बताकर नायिका-को वह माला दी। जिसे पहनकर नायक-प्रदत्त मालाके सम्बन्ध से नायिकाको सात्त्विक रोमाञ्च हो आया। बहिरङ्ग सखी पहचान गयी, और परिहासपूर्वक उस " स्नेह-लक्षिता-" से कहती है कि यह अपूर्व भक्ति मैंने तुझी में देखी जो प्रसाद-मालाको पाकर तेरा शरीर 'कदम्बमाला' बन गया-कण्टकित हो गया-! कदम्ब-पुष्प कण्टकित -(पुलकित)- शरीरका उपमान है। कदम्बके पुष्प कण्टकाकार केशरसे युक्त होते हैं।

'अपूर्व-पद' के योगसे 'रोमाञ्च' शृंगारजन्य समझना चाहिये। तथा कहने वाली परिहासपूर्वक कहती है, इससे "भक्ति" का अर्थ यहां "प्रीति" है।

१— अलङ्कार- "हेतु" । प्रसादमाला— कारण, और रोमाञ्च-कार्य्य, एकसाथ कहा।

अथवा— "हेतुहेतुमतोरैक्य हेतु केचित्प्रचक्षते"

कण्टकित होनेके कारण मालाको और कण्टकित शरीरको एक कहा।

"परिसङ्ख्या"—"परिसख्या इक थल बरजि दूजे थल ठहराय।"
—यह अपूर्व भक्ति तुझीमें है औरमे नही— इस प्रकार अन्यत्र तादृश भक्तिका निषेध करके उसी (नायिका)मे वैसी भक्ति ठहरायी।

३—"रसवान्"— 'अपूर्व' पदसे 'अद्भुत' रस* आभासित है। वह शृङ्गारका अङ्ग (पोषक) है। जहां एक रस दूसरे

* "भक्ति पदमें सा[शा]न्त रस भासत है, यातें रसवत् अलंकार" (प्रतापचन्द्रिका)

रसका पोषक (अङ्ग) हो, वहां "रसवान्" अलङ्कार होता है।

४—"रूपकातिशयोक्ति"—'कदम्बमाला'—उपमानसे 'कण्ट-कित' तनु—'उपमेय'का बोध होता है।

५—"धर्मवाचकलुप्तोपमा"— उपमेय—तन, उपमान—कद-म्ब-माला तो हैं। तथा वाचक इवादि और साधारण धर्म—'कण्टकित'-होना लुप्त हैं।

——❀——
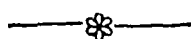
७५

कोरि [टि] जतन कीजै तऊ नागरि नेह दुरै न।
कहे देत चित चीकनौ नई रुखाई नैन॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ:—(कोरि जतन कीजै)— करोड़ यत्न करो (तऊ)—तो भी, (नागरि नेह दुरै न)— हे नागरी! स्नेह छिप नहीं सकता। (चीकनो चित कहे देत)— स्नेहसे चिकना चित्त (इस बातको) कहे देता है! (नैन नई* रुखाई)— और नेत्रोंमें यह रुखाई नयी है, नये ढंगकी है अर्थात् बनावटी है।

अथवा नेत्रोंकी यह नयी रुखाई चित्तके चिकना होनेको कहे देती है, इसलिये हे नागरी! —अपनी ओरसे तो तू स्नेह छिपानेमें बहुत चतुरता दिखाती है - 'नागरि' सम्बोधन पदसे यह भाव ध्वनित है—परन्तु करोड़ यत्न करनेपर भी स्नेह छिप नहीं सकता।

---

* किंवा— न ई रुखाई— 'ई' कहिए— यह, न रुखाई— रूखता नहीं है। (हरिप्रकाश)

अवहित्था— सञ्चारीसे 'हेतुलक्षिता' नायिका।

अथवा, खण्डिता नायिकाकी उक्ति नायकसे— कि तुम करोड़ यत्न करो "नागरि-स्नेह"—उस 'नागरी'का—जो तुम्हें अपने वश करनेमें प्रवीण है उस नायिकाका—स्नेह छिपा नहीं सकते!

अलङ्कार— 'पञ्चमी विभावना'— रूखे नयन, चीकने चित्तको कहते हैं, विरुद्ध कारणसे कार्य्योत्पत्ति। अथवा 'विशेषोक्ति'– 'करोड़ यत्न' रूप कारणसे भी 'स्नेह छिपाना' कार्य्य न हो सका। "काव्यलिङ्ग"—भी हो सकता है, क्योंकि उत्तरार्ध, पूर्वार्धका समर्थन करता है।

——:o:——

७६

और सबै हरखो[षी] फिरैं गावति भरी उछाह।
तुही बहू बिलखी फिरै क्यों देवरके ब्याह॥

(सखीका वचन नायिकासे)* —

अर्थ:— (और सबै हरखी फिरै)— और सब स्त्रियां प्रसन्न हुई फिर रही हैं, (उछाह भरी गावति)— और उत्साहसे भरी गाती हैं, (देवरके ब्याह)– देवरके ब्याहमें (बहू, तुही बिलखी क्यों फिरै)— हे बहू ! एक तुही नाराज़ अनमनी– हुई क्यों फिरे है ?

---

* "सासू बहू सौं कहे है, कि और सब तो हर्षित हैं, पर तू देवरके ब्याह सों कति (क्यों) दुखित है।" और दूसरो अर्थ यह है— कि जा के देवर का ब्याह है सो परोसिन से कहे है कि और सबै हर्षित हैं। तू मेरे देवर के ब्याह में क्यों दुखित है ?" (रसचन्द्रिका)

नायिका अपने जिस अविवाहित देवरमें आसक्त है, उसी देवरका विवाह है। घर बाहरकी सब स्त्रियां विवाहोत्सवमें इकट्ठी हुई खुशी मना रही हैं और उमंगसे भरकर मङ्गलाचारके गीत गा रही हैं। पर देवरासक्ता नयिकाको इस विवाहका दुःख है, वह इस उत्सवमे शरीक नहीं होती, बिलखी— अनमनी उदास या नाराज़ हुई- अलग अलग फिर रही है। सखी इस बिलखनेका कारण जानती है— छेड़नेके लिये नायिकासे कहती है। अथवा नायक (देवर)को सुनाकर कहती है। "विषाद" सञ्चारीसे अनुराग व्यङ्ग्य।

अलङ्कार— १—"गूढ़ोक्ति"—देवर (नायक)को सुनाकर वह (नायिका)से कहती है। २— "उल्लास"— देवरके व्याह रूप गुणसे नायिकाको बिलखना दोष हुआ!

'रसाभास' और 'धर्म-विरोध'का संघर्ष!

इस दोहेकी टीका करते हुए कई टीकाकारोंने 'धर्म-विरोध'के परिहारका भगीरथ परिश्रम किया है। हरि कवि लिखते हैं—

"अपने देवर सो रति वरनै तो "रसाभास" दोष होय, परोसिनिके देवर सों नायिकाकी आसक्ति थी, एक गावकी नववधूको तो "वहू" अव ही (भी) कहै हैं, यह रीति है। परोसिनिको वचन नायिका सों। "किंवा—"देवर की स्त्री आये (आने पर) नायक स्वच्छन्द घर में नहीं आवेगा, याते (इस कारण) स्वकीया सों सखी पूछति। "किंवा— नायिका बहुत सुन्दरी है, ता को पति दूसरा विवाह करिवे चल्यो है, ता सों (नायिका सो) सखी वचन :— "और जो "सबै" कहिए सखी, (समानवयस्का) सो तो हरपी फिरति है, नायिका पूछति है— कहा फिरे हैं लुगाई सब? (उ०) जहा तेरी (तेरे?) नायकके व्याहके गीति उछाहभरी गावति है, वहा, ऐसी स्त्री दूसरी नहीं मिलैगी याते तू "वहू" कहिए बहुत बिलखी क्यो फिरति है? क्यों 'दे वर' आजा

नायकको तूं ब्याह करि, मोहिनी नहीं मिलेगी— यह अर्थ।" (हरिप्रकाश)

इस अन्तिम कल्पनामें 'देवर' 'वहू' दोनों बिलकुल साफ़ उड़ गये! 'वहू'का अर्थ बहुत, और 'देवर'का पदच्छेद (टुकड़े) करके, "वर"-आज्ञां, "दे"- देहि, हो गया! अर्थात् सखी नायिका-से कहती है, तू अपने पतिको दूसरा ब्याह करते देख इतनी अ-प्रसन्न हुई क्यों फिरती है! उसे स्वयं आज्ञा क्यों न दे दे कि एक नहीं, दस ब्याह कर लो, मुझसी सुन्दरी कहीं ढूंढे न मिलेगी!

वास्तवमें यह अर्थ बहुत बढ़िया रहा, इससे "देवर बहू" के साथ ही "रसाभास" दोष की और 'धर्मविरोध'की भी समाप्ति हो गयी! न रहे बांस न बजी बांसरी!

श्रीलल्लूलालजीने यहां भी (१५वें दोहेकी तरह) 'अमरचन्द्रिका' का प्रश्नोत्तर लिखकर धर्मविरोधका शोशा छोड़ा है, जिसे बुझानेके लिये डाक्टर ग्रियर्सनको बहुत परिश्रम उठाना पड़ा है। उनके Additional notes में पहला नोट इसी पर है, जिसमें किसी विद्वान्‌ने बड़ी विद्वत्ता ख़र्च की है। जो द्रष्टव्य है। तथाहि :—

> "और सब प्रसन्न फिरती हैं आनंदसे भरी गाती (हुई)। हे वहू, तू ही देवरके व्याहमें क्यों बिलखी फिरती है?
>
> बिलखना—शोक-मग्न होना और गंभीर भाव धारण करना, अर्थात् हर्ष शोकादिका न प्रकाश करना। बि—विशेषरूपसे, लखना— देखना वा दिखाई पड़ना।"
>
> —इस दोहेमें 'बिलखी' का अर्थ शोकमग्ना नहीं है। गंभीरा है। (अर्थात् औरोंकी भांति उत्साहसे पूर्ण होके गाती नहीं फिरती। देवरके)

व्याहसे संबद्ध अनेक कार्योंके प्रबन्धमें संलग्न होनेके कारण, न्योतेमें आई हुई निश्चिन्त स्त्रियोंकी भाँति गाने बजाने चुहुल करने आदिका अवकाश नहीं पाती)। ऐसी दशामें उस (नायिका) से उसकी भ्रातृ-तरुणी (भौजाई) रस ऐन (परिहास-पूर्ण) वचन कहती है कि, वहू, तू-ही क्यों मुंह लटकाए फिरती है ।

भौजाईका ननदसे परिहास करना इस देशकी रीति है, और परिहासके अवसरपर जैसे साला वहनोईको अपना साला बनाता है, वैसे-ही भावज ननदको अपनी भौजाई बनाती है, और भौजाईकी संबोधन, वधू (वहू) शब्दसे प्रसिद्ध है। व्याहके अवसरमे सभी सबसे (दिल्लगी) करते हैं। और देवर भौजाई तथा ननद भावजका सभी कालमें परिहास हुआ करता है।

*किहिं तिय सौं—किसी स्त्रीसे (नायिकासे)। रस=हँसी। चुहुल=दिल्लगी। ऐन=घर। रस ऐन= परिहास-पूर्ण। यह वैन (वचन) का विशेषण है। नायिकासे (उसकी) भ्रातृ-तरुणीके रस-ऐन वैन इत्यर्थः।

"विलखी, विलखि, विलखना" आदिका गंभीरता सूचक अर्थ यदि सन्दिग्ध समझिए, तो रामायणके इस दोहेके अर्थका विचार कीजिए—

* अपना अर्थ लिखकर लल्लूलालजीने यह प्रश्नोत्तर लिखा है—
"प्रश्न—यहां भी देवर धर्म विरुद्ध।
"उत्तर—भ्राततरुणिके वेन। किहि तिय सौं रसऐन।"

"सुनहु भरत भावी प्रबल,
बिलखि कहा मुनि-नाथ।
लाभ हानि जीवन मरन,
जस अपजस विधि-हाथ" ॥

मुनि-नाथ वसिष्ठजी वेदान्तशास्त्रके आचार्य्य हैं। उनको किसीके जन्म मरणादिमें हर्षशोकके वश गाना रोना (बिलखना) शोभा नहीं देता। इससे यही अर्थ युक्तियुक्त होगा कि, मुनि-नाथने गंभीरतासे (विशेषतासे देखके—विचारके) कहा। क्योंकि लाभ हानि जीवन मरन जस अपजस ज्ञानपूर्ण आश्वासन वाक्य है, जो बिलखकर (रोकर) कहना संभावित नहीं है।"

"ऊपरवाले दोहेके अर्थमें इतनी खींच खांच केवल लाल कविकी टीकाके अनुरोधसे करनी पड़ती है। नहीं तो जब परकीयत्व मात्र ही धर्मविरुद्ध है देवर जेठ कैसा? सतसई धर्म-शास्त्र तो है ही नहीं। कविताका ग्रन्थ है। सो उसमें परकीयाका वर्णन हुआ ही करता है। वरंच देवरसे प्रकाश्यरूपमें हँसी जी लगीका नाता होनेके कारण परकीयत्वमें बड़ा सुभीता रहता है। इसीसे बहुधा ऐसी स्त्रियां अपने उपपतिको 'देवर' ही कहा भी करती हैं। अस्मात् यदि टीकाकारके प्रश्नका अनुरोध न किया जाय, तो नायिकासे अन्तरङ्गिनी सखीका वचन। और देवर शब्दको पतिके भाईके अर्थमें न ले के, उपपतिके अर्थमें मान लेनेसे कोई

हानि नहीं है। दयानन्दस्वामीने वेद(भाष्य) भूमिकामें, नियोगके प्रकरणमे, 'देवर'का अर्थ द्वितीय वर-(पति)-लिखा है"। -

–(डा० ग्रियर्सन-सम्पादित लालचद्रिकाका परिशिष्ट)

इन महानुभावोका इस प्रकार सतसईसे "रसाभास" और 'धर्म-विरोध' दूर करनेका यह भगीरथ-प्रयत्न प्रशंसनीय है। परन्तु यह देवर-विषयक "रसाभास" और "धर्मविरोध" संस्कृत और प्राकृतके अन्य कवियोंके वर्णनोमें भी प्रचुरतासे पाया जाता है। १५ वें, दोहेकी व्याख्यामे इस विषयकी दो प्राकृत गाथाएं उद्धृत की जा चुकी हैं। अब इसी प्रसंगकी एक "आर्य्या", और दूसरी "गाथा" यहां और उद्धृत की जाती है :—

"दलिते पलाल-पुञ्जे वृषभ परिभवति गृहपतौ कुपिते।
निभृत-निमीलित-वदनौ हलिकवधू-देवरौ हसतः॥३०२॥" आ०स०

—"पुरालके ढेरको बिखरा हुआ देखकर, घरवाला, कुपित हो, बैलको पीटने लगा, यह समझकर कि इसीने यह पुराल बखेरी है। इसपर 'हालिकवधू'—(बैलको पीटनेवाले किसानकी स्त्री) और देवर, एक दूसरेका मुँह देखते और चुपकेसे अपनी करतूतपर हँसते हैं कि कसूर तो हमारा है, बैल बेचारा योंही पिट रहा है! लड़ें कुम्हारी कुम्हार गधेके कान इठें!

× × ×

"काचन देवरेऽनासक्ता तेन च प्रियवाक्यशतैः प्रलोभ्य वशीकृता, ततश्च कुतश्चिन्निमित्ताद्विरज्यति तस्मिस्तमुपालब्धुमिदमाह —

"सच्च साहसु देअर तह तह चडुआरएण सुणएण।
णिव्वत्तिअकज्जपरम्मुहत्तणं सिक्खिअ कत्तो॥"-

—"(सत्यं कथय देवर ! तथा तथा चाटुकारकेण शुनकेन ।
निर्वर्तितकार्यपराङ्मुखत्वं शिक्षितं कस्मात् ॥)" ७।८८ (गा०स०)

—देवर ! सच बताओ उस (कार्तिक महीनेके !) मतलबी—खुशामदी कुत्तेने काम निकालकर पीठ फेरने (बेपरवाई)का 'गुण' किससे सीखा है ? (इस गुणमें उसके गुरु कहीं तुम्हीं तो नहीं हो !)
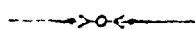
७७

नैन लगे तिहिं लगनि सौं छुटे न छूटै प्रान ।
काम न आवत एकु हू तेरे सौकि सयान ॥

(नायिकाका वचन सखीसे*)

अर्थः— (नैन तिहिं लगनि सौं लगे)- नेत्र उस लगनसे लगे हैं कि (प्रान छुटे न छूटै)- जो -(लगन)- प्राण छूटनेपर भी न छुटे । (तेरे सौकि सयान)- तेरी सैकड़ों चतुराइयोंमेसे (एक हू काम न आवत)- एक भी काम नही आती ।

परकीया प्रौढा नायिका । वचन अनुभाव, धृति सञ्चारीसे पूर्वानुराग व्यङ्ग्य ।

नायिकाको सखी समझाती है, कि ऐसी प्रीति मतकर जो जीका जंजाल है, मान जा । वह उत्तर देती है कि क्या करूँ,

---

* 'सखी नायिका को समुझावै है, सो नायिका उत्तर देइ है" (रस च०)
—"परकीया प्रौढ़ाका वचन, शिक्षक-सखीसे ।" (लालचन्द्रिका)

नेत्र उस प्रियतमसे कुछ ऐसी लगन (प्रीति) से लगे हैं जो प्राण छूटनेपर भी नहीं छूटेगी ! तुझमे चतुराई तो बहुत है, पर उनमेंसे हमारे काम एक नहीं आती। शिक्षा देनी सहज है, यह तो होता नहीं कि किसी चतुराईसे उस चित्त चोरसे मिलावे, शिक्षा देने बैठ गयी ! यह अच्छी हितैषिता है !—

" य कहाकी दोस्ती है कि बने है दोस्त नासह ।[१]
कोई चारासाज होता कोई गमगुसार होता !" —

अलङ्कार—"अत्युक्ति," प्राण छूटने पर भी लगन नहीं छुटेगी।

—"अलङ्कार अत्युक्ति वह बर्नन अतिशय रूप।"

× × ×

उर्दूके महाकवि ज़ौक़का भी एक शेर कुछ इसी भावका है:—

"उल्फ़तका मज़ा जब कोई मर जाय तो जाये,
यह दर्दे-सर ऐसा है कि सर जाय तो जाये।"

दोहेकी अत्युक्ति इससे बढ़ी हुई है। यह 'दर्दसर' तो सिर जाने (मर जाने) के साथ जाता रहता है। पर वह 'लगन' प्राण छूटने पर भी नहीं छुटती, पर नहीं छुटती !

——❀——
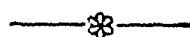
[१] नासह—शिक्षक। चारासाज—इलाज करने वाला। गमगुसार—शोक हरने वाला।

७८

तू मत मानै मुकतई किये कपट-बत कोटि।
जौ गुनही तौ राखियै आंखनि माहिँ अगोटि॥

(सखीका वचन नायिकासे*)

अर्थ — (कोटि कपट-बत किये)— करोड़ो कपटकी बातें करनेपर भी (तू मुकतई मत माने)—तू इससे जुदाई मत जान, (जौं गुनही) – यदि यह गुनहगार— अपराधी— है (तौ आँखिन माहिं अगोटि राखियै)— तो आंखोंमे नजर बन्द कर रखिए।

परकीया नायिका, शठ नायककी बहुतसी शिकायतें सुनकर रूठी बैठी है। उसे सखी समझाती और मनाती है कि नायकके विषयमे कपट (शठता)की करोड़ो बातें सुनकर भी तू उन—(बातों)- पर विश्वास मतकर और नायकसे जुदाईकी मत ठान। पिशुन लोगोंको क्या है, वे तो वैसे ही, नायकको कपटी बताकर तुझमे उसमे भेद

---

* "नायक शठ तहाँ सखी-वचन नायिका सों।" (अमरचन्द्रिका
—"जो सखीकी उक्ति होय नायिका प्रति तो ईर्ष्या सञ्चा[illegible] भेदोपायसे मान जानिए।" (अनवरचन्द्रिका)

—"सखी नायक पक्षकी भी हो सके है, क्योंकि इस ही मि[illegible] चतुराई सौं कहे है कि आँखिन मे राखि।" (रसचन्द्रिका)

[पाठान्तर— "—दियै कपट-वित कोटि"— जु गुनही—गुनहगार तौ आँखिन ही में राखि। कपटरूपी वित्त देइ तौऊ मुकतई—छूटनो उन[illegible] मति मानि।" (अमरचन्द्रिका) :— अर्थात् यदि वह वास्तवमें गुनहगा[र] है तो चाहे कितना ही कपटरूपी धन रिश्वतमें देकर छूटना चा[हे] (अपराध-मुक्त होना चाहे) तो भी छोड़ने पर राजी मत हो, कि[न्तु] आँखों में बन्द करके नजरबन्दी की सख्त सजा दे !

डलवाना चाहते हैं। तू उनकी बातोंपर ध्यान ही मत दे। और यदि तुझे उनकी बातोंपर ऐसा ही विश्वास हो गया है कि नायक अवश्य कपटी और अपराधी है, तो भी छोड़ना ठीक नहीं, यदि वह गुनहगार है तो उसे आंखों-के क़िलेमे 'नजर-बन्द' करके रख। अपराधीको क़िलेमें क़ैद कर देना ही उचित दण्ड है, योंही छोड़ देना ठीक नही!

अलङ्कार— "पर्यायोक्ति"। इस प्रकार दण्ड दिलानेके बहानेसे मिलाना इष्ट है।

"सम्भावना"—"जौ तौ पद जहँ होइ, सम्भावना तहँ जोड।"

हरि कविके मतमे "उपमा" भी। 'कपट-वित' पाठमें 'रूपक'।

इस दोहेको किसी किसीने परमार्थ पक्षमे भी लगाया है॥ यथा :—

किसी गुरुकी उक्ति अपने शिष्यसे— ❀

हे शिष्य! तू भण्डभक्तिके करोड़ कपट करने पर भी अपनी मुक्ति मत समझे, इन बातोंसे मुक्ति नही होगी। जैसे गुनहगारको बन्द कर रखते हैं ऐसे ही तू भगवान्‌को अपनी आंखोमे बन्द कर रख— उसके रूपमे अपने नेत्र लगा— संसारकी ओरसे आंखें बन्द करके, ईश्वरके ध्यानमें मग्न हो जा, कपटकथा की बातें बनानी छोड़ दे!!

——❀——

❀ "जो उक्ति काहू साधुकी हाय तो चित्त सो जानिए। वितर्क सञ्चारी ने पोष्यो निर्वेद स्थायी, कथन अनुभावसे शान्तरस व्यङ्गय।"
(अनवरचन्द्रिका)

अनवरचन्द्रिकामें "किये कपट चित कोटि"। पाठान्तर है।

७६

धनि यह द्वैज जहां लख्यौ तज्यौ दृगनि दुखद्वन्द
तुव भागनि पूरब उयो अहो अपूरब चन्द ॥

(सखीका वचन नायिकासे)—

अर्थः—(यह द्वैज धनि)—यह द्वितीया धन्य है (जहां लख्यौ)—जिसमें देखा (अर्थात् नायक-रूप चन्द्र (दृगनि दुखद्वन्द तज्यौ)—आंखोने दुखका बखेड़ा छोड़ दिया, अर्थात् इसके दर्शनसे आंखें सुखी हुई, अदर्शनक दुख दूर हुआ। (अहो तुव भागिन)—आ हा! यह तेरे भाग्यसे, (पूरब, अपूरब चन्द उयौ)—पूर्व दिशामें अपूर्व* चन्द्रमा उगा है।

दोयजके दिन नायिकाको चन्द्रमा दिखानेके बहाने पूर्व दिशामें खड़े हुए नायकको सखी दिखाती है कि यह दोयज धन्य है जहाँ आंखें इस अपूर्व-चन्द्रको देख दुख छोड़ सुख पाती हैं। दोयजका चन्द्रमा, पश्चिममे उदय हुआ करता है, पर यह पूर्वमे उदय हुआ है, इसलिये 'अपूर्व चन्द्रमा' है। जो तेरे भाग्य ही से उदय हुआ है, देख और आंखोंका दुखद्वन्द्व दूर कर!

---

* अमरचन्द्रिकाकारने नायकके प्रति सखीका वचन लिखकर "अपूर्व का यह अर्थ किया है कि पूर्ण चन्द्रमा 'राका'-पूर्णमासी-को होता है, पर यह दोयजके दिन ही पूर्ण चन्द्र उग रहा है, इसलिये 'अपूर्व है—"इत्यादि।

—"नायिका सकेतमें आई है, नायिकाने नायकको अन्यनायिका देखत देख्यो है। तब नायिकाको वचन। उत्तमा नायिका। किंवा-खण्डिताको वचन, नखक्षत देख्यो। पूरब सो सन्मुख, पच्छिम सो पीछे। अपूरब चन्द सों लालचन्द तुरत को चन्द- नखक्षत- विपरीत लक्षणा से'

(प्रतापचन्द्रिका)

अलंकार—१—"पर्य्यायोक्ति" । —चन्द्रदर्शनके बहाने नायकको दिखाना इष्ट है ।

२—"प्रस्तुताङ्कुर ।"—

"प्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य द्योतने प्रस्तुताङ्कुर : ।"

"प्रस्तुत-अकुर प्रस्तुत ही प्रस्तुत देइ जताय ।"

चन्द्रमा और नायक दोनों प्रस्तुत । प्रस्तुत चन्द्रमासे प्रस्तुत नायक जताया, (हरि कविके मतमे) । दकारसे "वृत्त्यनुप्रास" ।

——❀——

८०
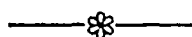
एरी यह तेरी दई क्यौं हूँ प्रकृति न जाय ।
नेह भरे हिय राखिये तू रूखियै लखाय ॥

(सखीका वचन सखीसे)—❀

अर्थ — (दई) हा देव ! (एरी ! तेरी यह प्रकृति क्यौं हूं न जाय) – एरी सखी ! तेरा यह स्वभाव किसी प्रकार भी नही जाता ! (नेह भरे हिय राखिये) – तुझे नायक अपने स्नेह भरे हृदय में रखता है, (तू रूखियै लखाय) – पर तू रूखी ही दीखती है !

नायिका, नायकसे मान किए 'रूखी' बनी बैठी है । सखी कहती है कि आश्चर्यकी बात है तेरा यह (रुखाईका) स्वभाव किसी तरह भी नही जाता ! नायकके स्नेहपूर्ण हृदयमे रह कर भी तू रूखी ही रही ! कुछ भी स्नेह (प्रीति, चिकनाई) का

❀ " बाग[त] दूती की उक्ति मानिनी नायिका से, उपालम्भ संचारी " (प्रतापचन्द्रिका)

असर न हुआ! घृत तैल आदि स्नेह भरे पात्रमें कैसी ही रूखी चीज़ डाल दी जाय, वह चिकनी हो जाती है, पर तू रूखी की रूखी ही रही!

अलङ्कार– "अतद्गुण"–

"सङ्गतान्यगुणानङ्गीकारमाहुरतद्गुणम्।"

"सु अतद्गुण जहँ संग को कछु गुण लागत नाहि।
नेह भरे हिय में रहे होत चीकनी नाहि॥" (अमरचन्द्रिका)

"विरोधाभास"— स्नेहसे भी चिकनी नहीं होती, 'स्नेह' और 'रूखा' पद श्लिष्ट हैं। स्नेह=तैल और प्रीति। रूखा= रूक्ष और अप्रसन्न। "विशेषोक्ति"

—स्नेह कारणसे चिकनाहट कार्य्य न हुआ।

"मीर" का यह शेर भी कुछ कुछ इसी भाव का है–

"आंखो ही में रहे हो दिल मे नहीं गये हो,
हैरान हूं य शोख़ी आई तुम्हे कहा से?

—❀—

८१
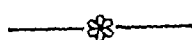
औरै गति औरै वचन भयो बदन रंग और।
द्यौसकतें पिय चित चढ़ी कहै चढ़ौहैं त्यौर॥

(सखीका वचन नायिकासे)–

—अर्थ :—(औरै गति)-और ही तरहकी निराली चाल है, (औरै वचन)-वचन भी और ही तरहके हैं, (बदन रंग औरै भयो)-मुंहका रंग भी कुछ और ही हो गया है, (चढ़ौहैं त्यौर कहै)-चढ़ी हुई त्यौरी कहती है कि (द्यौसकतें पिय-

चित चढ़ी) – दो एक दिनसे तू प्रियके चित्तपर चढ़ गयी है !

नायिकाकी चाल ढाल, रूप रंग, और तौर ढंग, बद-ले देखकर सखी कहती है कि मालूम हुआ, तू कुछ दिनों-से प्रियके चित्तपर चढ़ी है, इसीसे यह रंग चढ़ा है ! इसीसे यह सब बातें हैं !

लक्षिता नायिका ।

अलङ्कार— " भेदकातिशयोक्ति "— औरै" पदके योगसे । "वृत्त्यनुप्रास"—चकार से ।

८२

रही फेरि मुँह हेर इत हित समुहै चित नारि । दीठि परत उठि पीठको पुलकैं कहत पुकारि ॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थः— (मुंह फेरि इत हेर रही)— तू मुंह फेरे इधरको देख रही है, पर (नारि, चित, हित-समुहै)— हे नारी ! तेरा चित्त हित—प्रिय— के सामने है । (दीठि परत)— नायककी दृष्टि पड़नेसे (उठि पीठकी पुलकैं)— उठे हुए पीठके रोमाञ्च (पुकारि कहत)— इस बातको पुकारके कह रहे हैं ।

मानिनी नायिका, नायककी ओर पीठ फेरे, सखियों-की तरफ़ देख रही है, या प्रीति छिपानेके लिये, नायक-को ओर पीठ किए बैठी है । पर उसे नायकके देखनेसे सात्त्विक रोमाञ्च हो रहा है । सखी कहती है कि तू कितना ही

उधरसे मुंह फेरकर इधरको बैठ, तेरा चित्त उसी तरफ़ है,इस बातको हम नहीं, तेरी पुलकित पीठ पुकारकर कह रही है। मुंह फेरनेसे क्या होता है! जो बात है वह पीठ कह रही है! –"लक्षिता"* नायिका।

१— अलङ्कार— "अनुमान"— पुलकसे प्रीतिका ज्ञान। २–"पांचवीं विभावना"–'मुंह फेरनेसे भी हित(प्रिय)सामने रहा'– यह विरुद्ध कार्य्य। ३–"काव्यलिङ्ग"—प्रीतिका पीठकी पुलकसे समर्थन किया। ४ "छेकानुप्रास" हित, चित, दीठि, उठि, इत्यादि।

इसी भावकी एक प्राकृत गाथा "गाथा-सप्तशती" मे भी है। यथा:——

"अवलम्बिअमाणपरम्मुहीए एन्तस्स माणिणि पिअस्स।
पुट्टपुलउग्गमो तुह कहेइ समुहट्ठिअं हिअअम्॥"

("अवलम्बितमानपराङ्मुख्या आगच्छतो मानिनि! प्रियस्य।
पृष्ठ-पुलकोद्गमस्तव कथयति समुखस्थित हृदयम्॥") १।८७॥

× × ×

—प्रणयकलहमे कुपित नायिकासे सखी कहती है कि तू "अवलम्बित मान"— पकड़े हुए— बनावटी मान—से मुँह फेरे बैठी तो है, पर तेरा "पृष्ठ-पुलकोद्गम"— पीठकी पुलकें, रोमाच—पीछेकी ओर आये हुए प्रियको यह सूचना दे रहा है कि हृदय तेरा नायकके 'सम्मुखस्थित'—सामने —है!

तू बनावटी मानसे नायककी ओर पीठ किए बैठी है, पर पीठकी पुलकावलि कह रही है कि मुंह किधर ही हो हृदय तुम्हारे (नायकके) सामने ही है!

---

*"परिहासपूर्वक हेत लखित कियो, मानाभास"। प्रतापचन्द्रिका।

—दोनोंमें बहुत साम्य है —'पराङ्मुखी'— 'मुँह फेरि'—'पृष्ठ-पुलकोद्गम' —"पीठकी उठी पुलकैं"। "दितसमुहे चित"— "सम्मुख-स्थित हृदयम्"। 'कहत'— "कथयति"—सब कुछ एक समान है। गाथामें मुंह फेरकर बैठनेका कारण 'अवलम्बित-मान' पदसे स्पष्ट कह दिया है। दोहेमे यह गूढ़ है कि मानसे नायक-की ओर पीठ किए है या लज्जासे। और यही कुछ अच्छा मालूम होता है। दोहेमे पीठपर पुलकैं उठनेका कारण दृष्टि-का पड़ना कह दिया है। गाथामे नहीं कहा है। नायक-की दृष्टि पड़नेसे पीठपर पुलकैं उठ आना, अनुरागातिशय और सौकुमार्य्याधिक्यका द्योतक है। इस विशेषता और पदावलीका सुन्दर रचनासे दोहा बढ़ गया है! सहृदय जन इसमें साक्षी हैं।

———※———

८३

वे ठाढे[ड़े]उमदा[ड़ा]त उत जल न बुझै बड़वागि
जाही सौं लाग्यो हियो ताही के उर लागि ॥[1]

(सखीका वचन नायिकासे)—

—अर्थ: (वे उत ठाढ़े उमदा[ड़ा]त)—वह (नायक) उधर खड़े आलिङ्गनके लिये उमड़ा रहे हैं। अथवा आलिङ्गन-की उम्मीदमे हैं! (जल बड़वागि न बुझै)—जलसे बड़वाग्नि नहीं बुझती, (जाहीसौं हियौ लाग्यौ)—जिनसे तेरा हृदय

[1] नायकको देख नायिका चेष्टा करे है, तहां सखी वचन। "वे ठाढे, उमदाहु उत"—वे ठाढे, वे नायक ठाढे है 'उत'—उनकी ओर 'उमदाहु'—उन्मत्त की सी चेष्टा करौ। कोई " उमदाहु " को अर्थ—तेरी उमेद में ठाढे हैं'—कहत है।"

(हरिप्रकाश)

लगा है—दिल मिल रहा है— अथवा "जा ही सौं हियो लाग्यो"— जिसकी छातीसे तेरी छाती लग चुकी है (ताही के उर लाग) उसीकी छातीसे लग!

नायकको सामने देख नायिका, प्रेमचेष्टा करती है, सखीसे लिपटती है। सखी कहती है वह सामने खड़े उमड़ा रहे हैं उनसे जाकर लिपट, मुझसे क्यों चिमटती है। मेरी छाती लगनेसे तेरी कामाग्नि न बुझेगी, किन्तु प्रिय-के हृदय लगनेसे ही बुझेगी, यह भाव। क्योकि पानीसे (वड़वानल) पानीकी आग नहीं बुझती।

लक्षिता नायिका।

१— अलङ्कार— "अर्थान्तरन्यास"– वे ठाढ़े(ड़े),–विशेष-का 'जाहीसे लाग्यो' —सामान्यसे समर्थन किया। २— "दृष्टान्त"–(प्रतापके मतमें) यथा:— जैसे वड़वाग्नि ईशकी बुझाई बुझती है जलसे नहीं बुझती, वैसे— नायक जो तेरा ईश (स्वामी) है उसीसे तेरी कामाग्नि बुझेगी मेरी छाती लगनेसे नहीं बुझेगी"।——

कवि परमानन्दके मतमें "लोकोक्ति"—"दृष्टान्त"—यथा—

"शमं नोपैति वाडवो विना समुद्रजलेन।"

एतल्लोकदृष्टान्तेन द्रढयति इहास्मिन् लोके समुद्रजलेन विना वाडवो—वडवानल:–शम–शान्ति–नोपैति।"

अर्थात् जैसे समुद्र-जलके विना (अन्य जलसे) वाडवाग्नि शान्त नहीं होती, ऐसे ही मुझसे लिपटनेसे तेरी कामाग्नि शान्त नहीं होगी। इस प्रकार विम्ब प्रतिविम्ब भावसे "दृष्टा-न्तालङ्कार" है। और ऐसा लोकमे प्रसिद्धिमे है, इसलिये "लोकोक्ति" भी है।

"स्वभावोक्ति" और "काकूक्ति" (अमरचन्द्रिकाके मतमे)— नायिकाका सखीसे इस तरह लिपटना, "स्वभावोक्ति"। सखी-का यह कहना कि "जल न बुझै वडवागि"— अर्थात् मुझसे लिपटनेसे काम न बनेगा किन्तु नायकसे लिपट, यह "काकूक्ति"!

——❀——
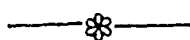
सुरत-लक्षिता-वर्णन

८४

लाज गरब आरस उमँग भरे नैन मुसकात।
राति रमी रति देति कहि औरै प्रभा प्रभात॥

(सखीका वचन नायिकासे❀)—

अर्थ:— (लाज, गरब, आरस, उमँग, भरे नैन मुसकात)— लज्जा, गर्व, आलस्य, उमंग (उत्साह) इनसे भरे तेरे नेत्र मुसकरा रहे है। अथवा, उक्त लज्जादि तेरे नेत्रोंमें भरे हैं, और तू मुसकरा रही है, (राति, रति रमी)— आज रात प्रीतिसे या रतिसे तू रमी है, नायकसे विहार किया है, इस बातको (प्रभात औरै प्रभा कहि देत)— प्रात:कालके समय और दिनसे विलक्षण शोभा कहे देती है।

❀ "अन्यसम्भोगदु:खिताकी भी उक्ति, खण्डिताकी उक्ति। किंवा— रमन कौ रति औ प्रभा कहती है, लाज लोककी। हमें ऐसी नायिका मिली है या ते गरब। आलस, रात जागे हौ तासों तुम विषै है। और उमगभरे तुमारे नैन हैं औ तुम मुसक्यात हो औरि दिन औरि प्रभा आज औरि प्रभा।" (हरिप्रकाश)

—लज्जा— स्वाभाविक सखीजनादिकी । गर्व— नायकको वशकर सपत्नियोंपर विजय पानेका । आलस्य— रतजगे और रति-रणके श्रमका और उसके साथ ही अपूर्व रति-रत्न-लाभ-की उमंग । साधारण परिश्रमजन्य आलस्यके साथ उमंग नहीं होती, इसमें उमंग भी मिली है । ये सब परस्पर-विरुद्ध भाव नेत्रोंमें पड़े झलक रहे हैं, जिनसे एक अद्भुत शोभा प्राप्त हो रही है ।

—साधारण लज्जा और आलस्यमें आँखें अच्छी तरह खुलती भी नहीं पर इस विलक्षण लज्जा और आलस्यके साथ गर्व और उमंग भी है जिनसे आंखें मुसकरा सी रही हैं! ये एक एक, रातकी रतिकी गवाही दे रहे हैं!

१— अलङ्कार— "भेदकातिशयोक्ति"— "औरै" पदसे ।

२— "तुल्ययोगिता"—'भरे'—एक क्रियासे (पूर्वार्द्धमें) ।

३— "पर्य्याय द्वितीय"— एक नेत्र या नायिकामें लाज आदि अनेकका निवास होनेसे ।

—※—

८५

नट न सीस साबित भई लुटी सुखनकी मोट ।
चुप करिये चारी करति सारी परी सरोटि ॥

(नायिकासे सखीका वचन)—

अर्थः—(नट न)— मुकरे मत, इनकार न कर, (सुखनकी मोट※ लुटी साबित भई)— तैंने सुखोंकी गठड़ी लूटी है, सो साबित हो गयी । (ये सरोट परी सारी)—

※ मोट— पोट, गाँठ, गठड़ी । सुखोंकी मोट— बहुत सुख ।

यह सलवट पड़ी साड़ी (चुप करि चारी करति)—चुपके-से चुगली कर रही है। अथवा—(चुप करि)— नायिका-की उक्ति कि, चुप रह, झूठा इलजाम मत लगावे। आगे सखीका वाक्य— कि, मैं क्यों चुप रहूँ, तेरी मसली हुई साड़ी ही चारी (चुग़ली) कर रही है, इसे चुप कर !

"सुरतलक्षिता"से सखी सुख लूटनेका हाल पूछती है, वह मना करती है, तब सखी सलवट पड़ी साड़ीको साक्षी—(मौक़े वारदातका चश्मदीद गवाह !)—बनाकर अपना पक्ष सिद्ध करती है कि बस चुप रह, बहुत बातें न बना, सुखकी पोट लूटनेका पता तो जहां तहांसे सुकड़ी हुई मली दली तेरी यह साड़ी ही दे रही है !

—मानो तेरे इस सफ़ेद झूठपर साड़ीको क्रोध आ रहा है ! जिससे इसके (साड़ीके) चेहरेपर सलवटें पड़ गयी हैं ! !

१— अलङ्कार—"काव्यलिङ्ग"— सुखकी लूट, सलवटपड़ी साड़ीसे दृढ़ की।

२— "अनुमान"—साड़ीकी सलवटोंसे सुरतका 'अनुमान' किया। ३— "लोकोक्ति"— 'सीस सावित भई' में। ४— "पहली विभावना"— जो बोले सो चुगली करे, साड़ी बोलती नहीं, और चुगली करती है ! ५— "सम्बन्धातिशयोक्ति"— "मोट" पदसे।

—"सम्बन्धातिशयोक्तिः स्यादयोगे योग-कल्पनम्।"

"सम्बन्धातिशयोक्ति जो देत अजोग हि जोग।"

—सुखोंकी मोट बाँधना, अयोगको योग देना है। (सुख कोई अनाजकी ढेरी नही है, जिसकी मोट बँध सके) —

६— "छेकानुप्रास"—'चारी—सारी' में । ७—"वृत्त्यनुप्रास"—सकार रकारसे।

——❀——
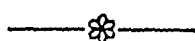
८६

मो सों मिलवति चातुरी तू नहिं भानति भेव।
कहै देत यह प्रगट ही प्रगट्यौ पूस पसेव॥

(सखीका वचन नायिकासे)— ❀

अर्थः— (मो सों चातुरी मिलवति)— मुझसे चतुराई चलाती है! (तू भेव † नहिं भानत)—तू भेद नही फोड़ती—भेदकी बात नही कहती। (यह प्रगट्यौ पूस पसेव †)—यह प्रकट हुआ पौष मासका पसीना ही (प्रगट ही कहै देत)— जो बात है उसे प्रकट कहे देता है!

तू तो मुझसे भेद छिपाती और चतुराईकी चाल चलती है, पर पौष मासमे तेरे शरीरपर झलका हुआ यह पसीना, सब कुछ साफ़ कह रहा है! क्यों?

❀"सखीकी उक्ति नायिका सों है, जो पसीना सुरतिको है। सुरत-श्रम जन्य है) तो नायिका लज्जिता है, जो सात्त्विक भाव है तो सखी उपालम्भ मिस परिहास करति है।" (प्रतापचन्द्रिका)

† पाठान्तर— भेद। प्रस्वेद।

— अलङ्कार१— "विभावना" पहली—

—"विन कारन कारज उदय, ग्रीषम बिन प्रस्वेद"। (अमर-च०)

२— "काव्यलिङ्ग"—पौषके प्रस्वेदने रतिको दृढ़ किया।

३— "वृत्त्यनुप्रास"— 'पकार' से। "छेकानुप्रास"— 'भानति भेव' मे।

८७

सही रँगीले रति-जगे जगी पगी सुख चैन।
अलसौंहैं सौंहैं किये कहैं हँसौंहैं नैन॥

(सखीका वचन नायिकासे)—

अर्थः— (सही, रँगीले* रतिजगे जगी)— सही है= बिलकुल सच है= कि तू 'रँगीले' रतिजगेमे जगी है – कुल-देवता या विवाहोत्सवादिके रतजगेमे नहीं, किन्तु रँगीले-रतिके रतजगेमें जगी है – (सुख चैन ‡ पगी)— सुख चैनमे—

---

*"रँगीली"— पाठान्तरमें, हे रँगीली! यह अर्थ। "रतिजगे"—श्लेषमें, रतिके लिये जो जागरन तामें जगी है।" (हरिप्रकाश)

‡ "सुख चैन"की पुनरुक्तिसे वचनेके लिये हरिकविने "सुख चयन" सखोंका समूह (चय—समूह, 'न' बहुवचन वाचक) अर्थ किया है। और लल्लूलालजीने —"चैन यह"— कि विरहकी पीर मिटी, और 'संग' का सुख हुआ"— यह अर्थ किया है। परन्तु 'सुख चैन' एक साथ बोला जाता है, ठेठ मुहावरा है।

अत्यन्त सुखमें— पग रही है। (अलसौहैं, हँसौहैं, सौहैं किये, नैन, कहैं)— इसे, आलस भरे—उनींदे, और हँसौहैं—हास्य-युक्त—हँसीले— तेरे नेत्र 'सौहैं किये"—सौगन्द खाकर कह रहे हैं। अथवा 'सौहैं किये हँसौहैं'—सामने करनेसे जिनमें हँसी आ रही है, ऐसे ये नेत्र कह रहे हैं।

आलस्य, हर्ष सञ्चारी। आकृति अनुभावसे 'लक्षिता' नायिका।

—अलङ्कार१— "काव्यलिङ्ग"—'अलसौहैं नेत्र'- इत्यादि-से रतिका रतजगा दृढ़ किया।

५—"अनुमान"—अलसौहैं नेत्रोंसे रतजगेका अनुमान है। ३—"यमक"—अलसौहैं हँसौहैं— इत्यादिमें। ४—"छेकानुप्रास" —जगी पगीसे। और, ५— "वृत्यनुप्रास"। काव्यलिङ्ग, यमक, और अनुप्रासकी -"संसृष्टि"।
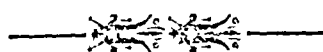
८८

औरै ओप कनीनकनि गनी घनी सिरताज।
मनी धनीके नेह की बनी छनी पट लाज॥

(नायिकासे सखीका वचन)*—

अर्थः— (कनीनकनि† औरै ओप)—तेरी कनीनिकाओं-

* "सखीकी उक्ति सखी (नायिका) सौं, नायिकाकी स्तुति करति है। कनीनिका, नेत्रपुत्रिका, वितर्क भाव ध्वनि है।" (अनवरचन्द्रिका)

-"अन्यसभोगदुःखिताको वचन सखीसों। किंवा 'लज्जिता' सों सखीवचन। (हरिप्रकाश)

† 'रसचन्द्रिका'में 'कनीनि—कन' पृथक् पद मानकर कनि' का 'मनी' के साथ अन्वय किया है, अर्थात् कनीनि—कनीनिका, मनीकी 'कनी' है।

-आंखोंकी पुतलियों—में कुछ और ही कान्ति है, (घनी
सिरताज गनी)— वहुतसी कनीनिकाओंकी वह-(तेरी
कनीनिका)-सिरताज गिनी गयी—मानी गयी—है! (पट-
लाज वनी, छनी)—लज्जारूप वस्त्रमे वनी—स्थित, छिपी
या वॅधी हुई भी, छनी—छन रही है—छनकर प्रकाश निकल
रहा है!

सखी नायिकाकी प्रशंसा कर रही है कि तेरी पुतलियोंकी
कान्ति कुछ और ही है, सवसे विलक्षण है। तेरी कनीनिकाएं
सैंकड़ोकी सरदार हैं, स्वामीके स्नेहकी मणि हैं। यद्यपि
लज्जारूप वस्त्रमें वॅधी और छिपी हैं तो भी उनका प्रकाश
छनकर वाहर निकल रहा है! मणिके प्रकाशको कपड़ेका आवरण
छिपा नहीं सकता!

इस दोहेपर 'अमरचन्द्रिका'की 'वार्त्ता' और हरिकवि-
की व्याख्या इसप्रकार है:—

"अर्थ कि–पियके नेह की "मनी"—मनीके द्वै अर्थ, एक गर्व,
एक मणि। सो वह (मणि) लज्जारूपी पट (वस्त्र) में 'छनी'—
निकसी है, लाज में छिपावती है तऊ प्रगट होति है। जैसे निर्मल
मणि की कान्ति पट में वॉधे हू छवि निकसती है। या के अर्थ
और हू हैं, पर यह मुख्य है। 'मनी' शब्द श्लिष्ट।" (अमरचन्द्रिका)

दोहेके जिन 'और अर्थों' की ओर सुरतिमिश्रने ऊपर
इशारा किया है, वे हरिकविने लिखे हैं। तद्यथा—

"कनीनिका" जो तेरी ऑखोंकी पुतली है, उस में आज
और ही (और दिन से विलक्षण) 'ओप' चमत्कार या प्रकाश है
कनीनिका कैसी है कि अन्य नायिकाओंकी 'घनी' वहुत,जो कनीनिकाए
उनकी 'सिरताज'— सरदार है, और "मनी वनीके नेह की' —धनी-

—(नायक) के स्नेह की 'मनी' है । नायकका स्नेह हमसे ही है औरसे नहीं, इस प्रकार मनी— मानने वाली— है । अथवा नायकके स्नेहकी 'मणि' —(मणिके तुल्य)— प्रकाशक है ! उन कनीनिकाओंमें पट-छनी लाज बनी है । वहाँ लज्जा तो जाती रही है, पर पट-छनी— सूक्ष्म— लाज अवतक बनी हुई है । कपड़छन कीहुई चीज सूक्ष्म होती है !"—

अथवा— 'मनी' — रूप गुणका गर्व करने वाला 'मानी'— जो नायक है, उसकी वह (कनीनिका) 'बनी' दुलहिन है, अर्थात् नायकका स्नेह इनसे लगा रहता है । नायकका स्नेह 'बना' —दुलहा— और कनीनिका 'बनी' है ! जो लाज के पट— वस्त्र—में 'छनी' आच्छन्न— छिपी है " —(हरिकवि)

"कनीनिका" आख का तारा । तात्पर्य्य— "औरे ओप कनीनिका तेरी आखके तारोमे और ही छवि है । "गनी घनी सिरताज" — तुझे मे बहुतोकी सिरताज समझती हूं । "मनी धनी के नेह की बनी" — प्रियके प्रेमकी बनी मणि, "छनी पट-लाज" — लाजके कपडे मे छ रही है । अर्थात् लाज करने से छिपती नहीं । "—(व्यासजी)

— अलङ्कार१— "भेदकातिशयोक्ति"— "औरै" पद योगसे । २— "तीसरी विभावना"— प्रतिबाधक— लज्जारूप वस्त्र भी प्रकाश छन रहा है । ३— "वृत्त्यनुप्रास"— गनी, धनी इत्यादिमे स्पष्ट ही है ।

८९

यह बसन्त न खरी गरम अरी न सीतल बात।
कह क्यौं प्रगटे देखियत पुलक पसीजे गात॥

(सखीका वचन नायिकासे)–

अर्थः—(यह बसन्त)– यह वसन्तऋतु है, (अरी)– अरी सखी! (न खरी गरम)— न अधिक गरमी है, (न सीतल बात)— न शीतल वायु है। फिर (कह, पसीजे गात)— बतला, पसीजे— पसीना आये हुए– शरीरपर (पुलक प्रगटे क्यों देखियत)— रोमाञ्च उठे हुए क्यों दीखते हैं!

नायकके सन्निकर्षसे नायिकाको सात्त्विक रोमाञ्च और पसीना हो आया है। अथवा 'रतिलक्षिता' नायिका- है। उससे सखी पूछती है कि यह वसन्तऋतु है, इसमें न बहुत गरमी पड़ती है जो पसीना लावे, और न ऐसी ठंडी हवा ही चलती है, जिससे रोमाञ्च हो आवे! फिर तेरे शरीरपर यह पसीना और रोमाञ्च क्यों प्रकट हुए दीख रहे हैं! पसीनेके लिये गरमी और रोमाञ्चके लिये सरदीका बहाना तो नही चल सकता, इसका कोई और ही कारण है, जिसे तू छिपाती है, पर वह छिप नहीं सकता!

इस दोहेमे 'क्रम-हीनता' दोषकी शङ्का उठाकर, पहले टीका- कारोंने कुछ समाधान किया है, कि दोहे के पूर्वार्द्ध में पहले 'गरमी' फिर 'शीतल वात' है। इसी क्रमसे उनके कार्य्य 'पसीजना' (पसीना आना) और 'पुलकित होना' आने चाहिए थे, परन्तु वैसा नहीं है। पहले 'पुलक' और पीछे 'पसीज' है। इस प्रकार यहां 'क्रमहीनता' (प्रक्रमभङ्ग) दोष है।

अमरचन्द्रिकामें आधाराधेयभाव की कल्पना करके इसका निवारण किया है। तद्यथा :—

प्रश्न—"१गरम २ सीत कहि पुनि, २ पुलक अरु १पसीज 'क्रमहीन'।
उत्तर—"अरी पसीजे गात में दिखियत पुलक सुलीन॥"

—अभिप्राय यह कि 'पसीजे गात' आधार है। 'पुलक' आधेय है। पसीजे गातमें पुलक है। इस प्रकार 'पुलक' जो शीतल वात-का कार्य्य है, पीछे ही पड़ा। पसीजना, जो गरमी का कार्य्य है, वह पहले रहा।

इस बातको अमरचन्द्रिकाकारने एक उदाहरण द्वारा विस्पष्ट किया है—

"जैसें सब तीर्थ पुष्कर में देखे—तहा पुष्कर कौ भाव प्रगट होत है-(नाम प्रथम ही प्रगट होता है !)"

'रसचन्द्रिका' में यह समाधान दिया है कि :—

" · सो यह बात दोहरे के छन्द के वास्ते धरी है, याकौं दोष नहीं, वहुत जगह आयो है !"—

यहाँ- क्रम विवक्षित नहीं है —इत्यन्ये।

अथवा—दोहे का 'सोरठा' कर देनेसे 'क्रमभङ्ग' दूर हो सकताहै।

यथा—

"अरी न सीतल वात, यह बसन्त न खरी गरम।
पुलक पसीजे गात, कह क्यों प्रगटे देखियत॥"

सतसई मे और भी कई सोरठे हैं।

हरिकविने खण्डिताकी उक्तिमें लगाकर यह अर्थ भी किया है कि—

"खण्डिता कहती है कि हे सखी ! तू कहो गात में (नायक के) प्रगट पुलक देखियतु है, जानति हो (मै जानती हूँ)काहू सो 'पसीजे'— राजी भये"—

अलङ्कार—१—"विभावना"—विना गरमी के प्रस्वेद और विना सरदी (कारण) के रोमाञ्च (कार्य) हुआ।

श्रीप्रतापने 'खरी' क्रियाका अन्वय खरी गरमी और खरी सीतल वात, दोनोंके साथ मानकर, "एक क्रिया तैं "तुल्य-योगिता"— भी मानी है।

९०

मेरे बूझे बात तू कत बहरावति बाल।
जग जानी विपरीतरति लखि विँदुली पिय भाल॥

(नायिकासे सखीका वचन*)—

अर्थ —(वाल)=हे वाल! (मेरे बूझे बात, तू कत बहरावति)=मेरे पूछनेपर तू वात को क्यों छिपाती है, क्यों बहकाती है,! (पिय-भाल, विँदुली लखि)=प्रिय के माथेपर विन्दी देखकर, (जग, विपरीतरति जानी)= जगत ने विपरीत-रति जान ली!

सखीने नायकके माथेपर विन्दी लगी देखकर अनुमान किया कि इन्होंने 'विपरीत-लीला' की है—नायिकाने नायकका और नायकने नायिकाका पार्ट Part लेकर विपरीत विहार किया है—सो वह नायिकासे कहती है कि मेरे पूछनेपर तू क्यों छिपाती है? तेरे प्रिय के-(विपरीतरति में "नायिकायमान" नायकके)— माथेपर लगी विन्दीहीसे एक मैंने क्या, जगत् ने, तुम्हारी वह 'उलटी बात' जान ली!

---

* "नायिका के अवहित्था सञ्चारी। विपरीत, रति, सखीने तर्क-भाव-तै लक्षित करी। एक मत से नायिका मध्या। (अनवरचन्द्रिका)

अलङ्कार—१-"अनुमान"—नायकके माथेकी विन्दीसे विपरीतरतिका अनुमान। (अमरचन्द्रिकाके मतसे)। २-"काव्य-लिङ्ग"—विपरीतरति का समर्थन विन्दी से किया। (अनवर-चन्द्रिकाके मतसे)। जग जानी—'लोकोक्ति,' और 'छेकानुप्रास'-का एकवाचकानुप्रवेश सङ्करालङ्कार। (प्रतापचन्द्रिका) ।

इसी दोहेके भावको एक "आर्य्या" भी है—

"उपसि परिवर्तयन्त्या मुक्तादामोपवीततां नीतम्।

पुरुपायितवैदग्ध्यं व्रीडावति! केर्न कलितं ते॥" १२१ (आ०स०)

—सखी, 'लक्षिता' नायिकासे कहती है कि—मोतियोंका हार जो तैने रात जनेऊ की तरह डाल लिया था, उसे अव तू प्रात काल के समय ठीक कर रही है, (फिर पूर्ववत् मालाकी तरह पहन रही है) इसीसे हे लज्जावति! तेरी पुरुषायित-विदग्धता, किसने नहीं जान ली!

—अर्थात् मेरे पूछने पर तो तू वडी लज्जावती वनती है, परन्तु जनेऊ-की तरह पहनी हुई इस मोतियोंकी मालासे एक मैंने ही क्या सबने तेरी विपरीत-रति-चतुरता की धृष्टता जान ली!

—इस प्रसङ्गमें गलेके हारको जनेऊकी तरह डालनेमे दो कारण हो सकते हैं। एक तो वह(हार)नीचेको लटकता हुआ वि-परीत व्यापारमें वाधक न हो। दूसरे- "पुरुषायमाणा"को पुरुषका चिह्न-(जनेऊ)- धारण करना ही चाहिए!!

विहारीने प्रियके माथेपर वेंदी लगाकर इस भावको और अच्छी तरह जगत्प्रसिद्ध कर दिया है!

यशवन्तयशोभूषणके ६४ पृष्ठपर इस दोहेका संस्कृतानुवाद यह दिया है—

"पृष्टे ! मया किमु त्वं गोपायसि ते प्रियस्य भालगतम् ।
बिन्दु विलोक्य बिम्बैर्विपरीता ते रतिरतु सविदिता ॥"

६१

सुदुति दुराई दुरति नहिं प्रगट करति रति रूप।
छुटे पीक औरै उठी लाली ओठ अनूप॥

(सखीका वचन नायिकासे)—

अर्थः—(सुदुति दुराई नहिं दुरति)= यह सुन्दर द्युति (कान्ति)छिपाए नहीं छिपती। किन्तु (रतिरूप प्रगट करति)=रतिके रूपको प्रकट कर रही है। (पीक छुटे)=पानकी पीक छुटनेसे (ओठ औरै अनूप लाली उठी)= होठपर और ही अनुपम लाली चमक उठी!

नायकने अधरपान किया है, इससे नायिकाके अधरसे पानकी पीक तो छुट गयी है, पर चुम्बनके आघातसे पानकी सुर्खी से विलक्षण एक और ही सुर्खी होठ पर झलक आयी है।

अथवा नायकके चुम्बन करनेसे नायिकाके होठपर पानकी पीक लग गयी हैं, जिसे छुड़ाकर वह रति-चिह्न मिटा रही है। इसपर सखी कहती है कि इस प्रकार छिपाने से यह सुन्दर शोभा नहीं छिप सकती, पानकी लाली छुड़ाई तो क्या हुआ, पीक छुड़ानेकी रगड़से एक और लाली चमक आयी!

अलङ्कार—१—"भेदकातिशयोक्ति", 'औरै' पद से। २—"तीसरी विभावना"–पीक छुड़ाने रूप प्रतिबन्धक से लाली-कार्य्य। ३—"वृत्त्यनुप्रास"।

हरिकविने 'अन्यसम्भोगदु:खिता' नायिकाकी उक्ति-परक यह भी अर्थ किया है कि "हे 'सुदुति !'†हे सुन्दर दूती ! ('स्वयं-दूती !') छिपानेसे छिपता नहीं, तू अपने इस रूपसे ही नायककी रतिको प्रगट कर रही है··· इत्यादि।" इस अर्थमें स्तुतिसे निन्दा, "व्याजस्तुति"— अलंकार। "विशेषोक्ति"—छिपाएसे नहीं छिपती, (प्रताप)।
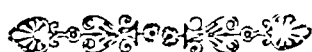
६२

रँगी सुरत रँग पिय हिये लगी जगी सब राति।
पैंड़ पैंड़ पर ठठकि कै ऐंड़ भरी ऐंड़ाति॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ:—(सुरतरँग रँगी)—सुरतके रंगमें रंगी है। (पिय-हिये लगी, सब राति जगी)—प्रियके हृदयसे लगी, सारी रात जागी है। (पड़ पैंड़पर ठठकिकै)—पग पगपर ठहरकर(ऐंड़ भरी ऐंड़ाति)—अभिमानसे भरी एड़ रही है—इठला रही है—! अँगड़ाई तोड़ रही है— !

सुरतान्तमे, नायिका रात्रिजागरणके श्रमसे और कुछ प्रिय-संभोगके अभिमानसे, ठहर ठहरकर एक अदासे ऐड़ रही

---

† "किंवा तेरी (नायकोपभुक्ता दूतीकी) सुन्दरि जो दुति (शोभा) सो दुरायें नहीं दुरति है"—(हरिप्रकाश)

है। सो सखी दूसरी सखीसे कह रही है। अथवा सखी 'सुरत-लक्षिता' नायिकासे ही कहती है कि इस अकड़ने और ऐंड़नेसे मालूम होता है कि तू सारी रात प्रियके हृदयसे लगी और जगी है, तभी यह मस्ती और ऐंड़ है!

'ऐंड़भरी'—क्रिया-विशेषण। "पैंड़ पैंड़"—वीप्सा।

अलङ्कार—"स्वभावोक्ति" और "छेकानुप्रास"।

९२

तरवन-कनक कपोलदुति बीचहिँ बीच बिकान।
लाल लाल चमकति चुनी चौका-चिन्ह समान॥

(सखीका वचन सखीसे*)—

अर्थ:—(तरवन-कनक)—तरवन†—तरकी, करनफूल—या ढेढ़ी–कानका आभूषण विशेष—उसका सोना, (कपोलदुति, बीचहि बीच बिकान)—कपोलकी कान्तिमें मिलकर बीच ही बीचमे ग़ायब होगया! (लाल लाल चुनी)—तरवनमे जड़ी लाल लाल चुन्नी, (चौका-चिन्ह समान चमकति)—दांतके चौकेके चिह्नके–दन्तक्षत—के समान ‡ चमक रही है!

---

* यदि नायिका सखीसे कहती है तो रूपगर्विताकी उक्ति।

† एक ब्रजवासी स्वर्णकारने 'तरवन' अर्थात् करवनके ये पर्याय वतलाये—१—करनफूल, २—तरकुली, ३—टेढ़ी, ४—वीर (ड़) और ५ टैठी, जो कानकी लौरमें पहनी जाती है।

‡ "तरकीका सोना गालकी छटाके बीचही बीच मिल गया। लाल लाल चुन्नी चमकती है जैसे दन्तक्षत।" (व्यासजी)

सखी परिहासपूर्वक नायिकाके रूपकी प्रशंसा करती हुई कहती है कि तेरे कानके करनफूलका सोना तो कपोलकी कान्ति-मे ऐसा मिल गया कि नज़रही नहीं आता, और उसमें जड़ी लाल चुन्नी ऐसी पड़ी चमक रही है जैसे नायकके दन्तक्षतका चिह्न हो !

अलङ्कार—१-" मीलित "—रंगमें रंग मिल गया, अर्थात् सोनेकी तरको कपोलकी द्युतिमें ऐसी मिल गयी कि तरकी और कपोलमें भेद प्रतीत नहीं होता।

"मीलितं, यदि सादृश्याद् भेद एव न लक्ष्यते।"

'मीलित' सो, सादृश्यतें भेद जवै न लखाय।"

२-"पूर्णोपमा"-'चुनी'-उपमेय। 'चोका-चिह्न'-उपमान। 'चमकना'—साधारण धर्म। 'समान'- वाचक पद।

३-"लोकोक्ति"—'वीच ही वीच विकान'-वीचही मे विक गयो, मोल भाव करनेकी नौवत भी न पहुची !

४-" वृत्त्यनुप्रास "— चकारकी अनेकवार आवृत्तिसे।
"एकस्याप्यसकृत् परः" (काव्यप्रकाश)
—एक व्यञ्जनकी भी अनेकवार समता हो तो भी वृत्त्यनुप्रास होता है। और, एकवाचकानुप्रवेशसङ्कर'-(प्रतापचन्द्रिका)।

"मीलित और पूर्णोपमाका सङ्कर—(अमरचन्द्रिका)।

अथवा यदि सखी, सपत्नीसे नायिकाका रतिचिह्न छिपाने-के लिये कहती है कि तेरी यह तरवनकी लाल चुन्नी, दन्तक्षतके समान चमक रही है, तो- "व्याजोक्ति"।

६४

पट कै ढिग कत ढांपियत सोभित सुभग सुबेख।
हद रदछद छबि देत यह सद रद-छदकी रेख॥

(सखीका वचन नायिकासे*)—

अर्थ:— (पट ढिग कै कत ढांपियत)— कपड़ा आगेको सरकाकर क्यों छिपाती है, (सोभित सुभग, सुबेख[ष])— इस सुशोभित सौभाग्यके वेष– (रति-चिह्न)-को। अथवा हे 'सुभग'[गे!] सौभाग्यवती! यह सुवेष (विना ढके ही) सुन्दर प्रतीत होता है। (यह सद रद-छदकी रेख)— यह तुरतकी दन्तक्षतकी रेखा (रदछद, हद, छवि देत)—रदच्छद—होंठ–पर हद्द दर्जेकी शोभा देती है।

नायिका रति-चिह्न— दन्तक्षत– को कपड़ेसे छिपाती है, सखी कहती है, कि क्यो छिपाती है। यह दन्तक्षत इस दशामे क्या ही अपूर्व शोभा दे रहा है!

— अलङ्कार १— "व्याजस्तुति"– (अमरचन्द्रिका)

२— "विभावना"— कपड़ेसे ढकना प्रतिबन्धक है, तो भी शोभा कार्य हो गया।

---

* किसीके मतमें यह खण्डिताकी उक्ति नायकसे है कि हे "सुभग! इस 'सुवेष'को कपड़ेसे क्यों छिपाते हो!" परन्तु नायकका, दन्तक्षत को कपड़ेसे छिपाना अच्छा नहीं मालूम होता। इसीसे, सुरतिमिश्र कहते हैं कि "या को अर्थ 'लज्जिता' कौ है, नायक सौं पट सौं ढापनौं असम्भव है"—हरिकवि भी ऐसाही लिखते हैं!
पर इसी भावका एक संस्कृत पद्य है। "कलहान्तरिता' की 'शठ' नायकके प्रति उक्ति है—

"नवनखपदमङ्ग गोपयस्यंशुकेन
स्थगयसि पुनरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम्॥"

३—"पर्यायोक्त"—एक ढङ्गसे बात कहना, प्रकारान्तरसे सुरतिके चिह्न कह दिये। (रसचन्द्रिका)

४—"काव्यलिङ्ग"— दन्तक्षतसे सुरतिको दृढ़ किया।

५—"वृत्त्यनुप्रास"— बहुत बार एक वर्णकी आवृत्तिसे स्पष्ट ही है। (प्रतापचन्द्रिका) ।

६—"यमक"— 'रद्छद-रद्छद' दो बार आया है।

'रद्च्छद्'— होठ। 'सद्'— सद्यःकृत। रद्-छद्=रद्—दांत—का, छद्- क्षत,— घाव, अर्थात् दन्तक्षत।

इस भावका एक संस्कृत पद्य भी है :—

"किं त्व निगृहसे दूति ! स्तनौ वक्त्रञ्च पाणिना ।
खण्डिता एव शोभन्ते शूराधरपयोधराः ॥"

—नायिका दूतीसे परिहास करती है कि हे दूती ! अपने स्तनोंको और मुखको हाथसे क्यों छिपाती है ! शूरवीर पुरुष, होठ और स्तन, ये (रणमें और रतिरणमें) खण्डित हुए ही शोभा पाते हैं !

मुदिता-वर्णन

६५

कहि पठई मन भावती पिय आवनकी बात ।
फूली आंगनमें फिरै आंग न आंग समात ॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थः— (पिय आवनकी बात)— प्रियने आनेकी बात (मनभावती कहि पठई)— मन चहती प्रियाको कह भेजी है। इससे (आँगनमें फूली फिरै)— आंगनमे— मकानके सहनमें-हर्षसे फूली फिरती है, (आंग आंग न समात)— अंगमें अंग नहीं समाता।

"आँगो आंग न मात"— ऐसा पाठ भी है— वहां यह अर्थ कि आंगी (कञ्चुकी)में अङ्ग (कुच) नहीं समाते ! अथवा— अँगिया फूले हुए अङ्गमे नहीं समाती।

पतिने परदेशसे अपने आनेकी ख़बर भेजी है। जिसे सुनकर "आगमिष्यत्पतिका" नायिका हर्षसे आंगनमें फूली फूली फिर रही है !

— अलंकार१—"लोकोक्ति"="आंग न आँग समात" यह कहावत है !

२—"अधिक अलंकार" आँगी आधारमें, कुच आधेय नहीं समाते। आधारसे आधेय अधिक हो गया !

३—"यमक"— आँगन आंगन"मे।

——*——

अनुशयाना-वर्णन

९६
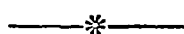
फिरिफिरिबिलखीह्वैलखतिफिरिफिरिलेतिउसास।
साइं सिर कच सेत लौं बीत्यो चुनत कपास॥

(अन्तरङ्ग सखीका वचन सखीसे)—

अर्थः—(फिरि फिरि बिलखी ह्वै, लखति)—बार बार बिलखी—दुःखित—हो देखती है (फिरि फिरि उसास लेति)— और बारबार उच्छ्वास-दुःखसे दीर्घ सांस-लेती है। (बीत्यो कपास)-बीती-जोसमाप्त होनेको है, ऐसी कपासको(साई सिरसेत कच लौं चुनत)-पतिके सिरसे सफ़ेद बालकी तरह बीन रही है।

अथवा "कपास चुनत, साईं सिर सेत कच (चुनत) लौं बीत्यौ"—कपास चुनते हुए उसे स्वामीके सिरसे सफ़ेद बाल चुननेके समान बीता—अर्थात् दुःख हुआ॥।

इसमें ध्वनि यह है कि कपासका खेत, बीनने वाली नायिकाका संकेत स्थान था। सो उसकी फ़सल हो चुकी है, बस यह आखरी बार, कपास बीननेकी बारी है। फिर कपासके पौदे उखाड़ डाले जायँगे। यही सोचकर वह बार बार दुखभरी दृष्टिसे खेतको देखती है और लम्बे सांस लेती है, उसे कपास बीनते समय ऐसा दुःख हो रहा है जैसे युवति स्त्रीको वृद्ध स्वामीके सिरसे सफ़ेद बाल चुनते समय दुःख होता है।

वर्त्तमान-संकेत-स्थान-विघट्टना, अनुशयाना, परकीया। ध्वनिपूर्ण होनेसे उत्तम काव्य।

अलङ्कार—"पूर्णोपमा"—कपास-उपमान। सिरकचसेत-उपमेय। लौं- वाचक। बीनना—धर्म। (अमरचन्द्रिका)

—(प्रकृतमें 'कपास—उपमेय। 'सेतकच'—उपमान। ऐसा कहना उचित प्रतीत होता है!)

'फिरि फिरि' —वीप्सा।

'रसचन्द्रिका'में इसका अर्थ इस प्रकार है :—

—"अनुसयाना-नायिका है। अर्थ प्रगट है। हेत यह है-सखी नायक सो कहै है कि हे साईं! कपास जो बीता है, सो नायिका कपासको ऐसे चुनै है जैसे कोई अपने सुपेद बार चुनेतैं दुखित होइ"—अलङ्कार दृष्टान्त, बिम्ब प्रति-बिम्बभाव सो कहै, सो यहा कपास ऐसे चुनै है जैसे साईं के सिरके सुपेद बार। 'पूरन उपमा' भी सम्भवति है॥"

—रसचन्द्रिकाके इस अर्थमें तो 'साईं', हे साईं!—सम्बोध्य बना सुन रहा था, और अन्तमें 'अलङ्कार' में आकर 'साईं'-के सिरके बाल उखड़ने लगे! अस्तु।

पाठान्तर—॥ "बीत्यौ बिनति कपास" (अनवरचन्द्रिका)

इसीके भावसे मिलती हुई एक यह 'गाथा' भी है :—

"णिप्पच्छिमाइं असई दुःखालोआइँ महुअपुप्फाइं।

चीए वन्धुस्स व अट्ठिआइँ रुअई समुच्चिणइ ॥"

(" निष्पश्चिमान्यसती दु खालोकानि मधूकपुष्पाणि ।

चिताया वन्धोरिवास्थीनि रुदती समुच्चिनोति ॥ गा०स० २ । ४)

× × ×

— मधूक–(महुवा)–वृक्षके समीपका निकुञ्ज, किसी पुश्चलीका सङ्केत-स्थान था। फूल वीननेके वहाने वह वहा नित्य जाती थी और अपने प्रियसे मिलती थी। महुवेके फूलोकी फसल हो चुकी है, आज फूल चुननेका अन्तिम अवसर है, सो सकेत-स्थानके विनाशके दुःखसे रोती हुई वह वचे खुचे फूल वीन रही है, यह देखकर कोई किसीसे कहता है कि—

—"असती, महुवेके फूलोंको, रोती हुई ऐसे चुन रही है जैसे चितासे वन्धुजनके फूलो (हड्डियो) को चुनती हो ' फूल "निष्पश्चिम"है– अव इसके पीछे चुननेको नहीं मिलेंगे—इसीलिये 'दुःखालोक'–है– उन्हे देखनेसे दु ख होता है।

गाथाके 'दुःखालोकानि' **और दोहेके** 'विलखी ह्वै लखति' **तथा** 'रुदती' और 'फिरि फिरि लेत उसास' "निष्पश्चिमानि मधूकपुष्पाणि समुच्चिनोति" 'वीन्यो चुनत कपास'—**ये पद विलकुल एक भावके द्योतक हैं। और इसमे सन्देह नहीं कि विहारीने इस गाथाकी छाया लेकर अपना यह दोहा वनाया है। परन्तु दोहा ध्वनिपूर्ण होनेसे "उत्तम काव्य" है। गाथाके ' असती" शब्दने ध्वनिका चमत्कार कम कर दिया। 'असती' शब्द सुनते ही मूर्ख मनुष्य भी उसके रोनेका कारण समझ सकता है, इसमे 'सहृदयैकसंवेद्यता' नहीं रहती। परन्तु दोहेमे ध्वनि निगूढ है। सहृदय ही समझ सकते हैं! दोहेमें कपास वीनने वाली व्यक्ति स्त्री है, इसका पता केवल 'विलखी' पदसे चलता है। इसके अतिरिक्त गाथाकी 'उपमा'—चितामें वन्धुके**

फूलकी तरह—भी श्रृङ्गारमें उद्वेगजनक है। विहारीने उपमा बदलकर और ध्वनि भरकर गाथाका मज़मून छीन लिया है!

६७
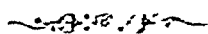
सन सूक्यौ बीत्यौ बनौ ऊखौ लई उखारि।
हरी हरी अरहर अजौं धर धरहर हिय नारि॥

(सखीका वचन नायिकासे)—

अर्थ:—(सन सूक्यौ)—सन सूख गया, (बनौ बीत्यौ)—बन—कपास—भी बीत चुकी—समाप्त हो गयी। (ऊखौ उखारि लई)—ईख भी उखाड़ ली गयी। पर (अरहर अजौं हरी हरी)—अरहर अभीतक हरी हरी है। इसलिये, (नारि, हिय धरहर धरि)—हे नारी! हृदयमे धीरज रख।

सन, बन—(कपास) और ईखके खेत, किसीके संकेतस्थान थे। सो एक एक करके नष्ट हो गये हैं। पहले सन सूखा, फिर बन बीता, पीछे ईख भी उखड़ गयी! इस विपत्ति-परम्परासे बेचारी नारी व्याकुल हो धीरज छोड़ बैठी है। उसे सखी धीरज बँधा रही है कि घबरावे मत, अभी अरहर हरी हरी खड़ी है।*

---

* इस गरीबकी हालत बिलकुल ऐसी ही हो रही है, जैसी इस उर्दू पद्यके पक्षीकी—

" बनाया आशियां जिस जा वहीं सय्याद आ पहुँचा!
है गुज़री उम्र तिनके चुनते चुनते बागवां! मेरी।"

आशियाँ— घोंसला। सय्याद— बहेलिया— चिड़ीमार।

इसमे यह ध्वनि है कि संकेतके लिये अभी अरहर-का खेत बना हुआ है और वह ख़ूब हरा है, जल्दी नही सूखेगा ।

"अनुशयाना" परकीया नायिका ।

अलंकार—१—"काव्यलिङ्ग"—संकेत स्थान नष्ट होनेसे दुःखिता नायिका को धीरज बँधानेके लिये अभी संकेतस्थल है, इसका समर्थन, हरीहरी अरहरसे किया । (परमानन्द)

२—"वृत्त्यनुप्रास"—(अनवरचन्द्रिका)

३—"छेकानुप्रास" और "वीप्सा" (अमरचन्द्रिका) यथाः—

"हरी हरी है वीपसा यह अति हेत विवेक ।
अरहर थरहर 'छेक' यह प्रास वार जो एक ।"

हरिकविने इसे 'मानिनी'*के मनानेमें भी लगाया है । यथाः—

"मानिनीसे सखीका वचन :—

'मन'—शनैश्चर और 'सुक्यो'—शुक्र, सो बीते—अस्त हो गये । र 'धनो' बन्नो ! (नववधू) "ऊखौ लई उखार" उषा—प्रभातवेला ने भी उखार—उजाली ली । अर्थात् नक्षत्र अस्त हो गये और दिन निकल आया । पर तेरी 'अर'—अड़, हठ "हरी हरी" वैसीहो हरी भरी है, वह कम नहीं हुई । "हरि अजौं" अब भी उस "हर" दूर कर । और "हरि" जो नायक है उसमें चित्तको धारण कर, लगा । मान छोड़कर नायकसे मिल यह भाव ।"

हरिकविके मतसे इस प्रकार "श्लेषालंकार" भी है ।

"श्लेष' अलकृति अर्थ बहु जहँ शब्दनिमें होय" ।

---

* मानिनीपक्ष-परक उक्त अर्थ सुरतिमिश्रको इष्ट नहीं था । यथा—"............अर प्रोषितपतिका और मानिनीका अर्थ बलवान् नहीं है ।" (अमरचन्द्रिका)

पत्यनुरागिणी-वर्णन

६८

सतर भौंह रूखे वचन करत कठिन मन नीठि।
कहा करौं ह्वै जाति हरि हेरि हँसौंहीं दीठि॥

(नायिकाका वचन सखीसे)—

अर्थ:—(सतर भौंह)—भौंहें टेढ़ी कीं, (रूखे वचन)—रूखी बाते भी कहीं, (नीठि मन कठिन करत)—किसी तरह मन भी कठोर किया। पर (कहा करौं)—क्या करूं (हरि हेरि)—हरिको देख कर, (दीठि हँसौंही ह्वै जाति)—दृष्टि हँसौंहीं-हँसीली हो जाती है।

सखी मानकी शिक्षा दे रही है। नायिका कहती है कि मैं तो अपनी ओरसे मान करनेमे कसर नहीं करती, भौंहें चढ़ा लेती हूं। बातें रूखी करती हूं, मन भी किसी तरह कड़ा कर लेती हूं। पर यह दृष्टि कृष्णको देखते ही हँस देती है, इसका क्या करूं!

"भावसंधि"। ईर्ष्याकी शान्ति, हर्षका उदय।

अलङ्कार-१ —"विभावना"—टेढ़ी भौंहें आदि, दृष्टिके हँसौंहीं होनेमे पूरे बाधक हैं, तो भी वह वैसी हो ही जाती है।

"प्रतिबन्धकके होत हू कारज पूरन मानि"

२-"वृत्त्यनुप्रास"—हकारकी आवृत्तिसे, स्पष्ट ही है।

इस दोहेका अनुवाद "यशवन्तयशोभूषण" मे 'अभावालंकार' के उदाहरणमे यह है:—

"कुर्वे भ्रुकुटिमाबध्य कृच्छ्रेण कठिनं मनः।
तथापि माधवे दृष्टे दृङ् मे भवति हासयुक्॥"

६६

तु हू कहति हौं आप हू समझति बहुत सयान।
लखि मोहन जौ मन रहै तौ मन राखौं मान॥

(नायिकाका वचन सखीसे)—

अर्थ:—(तु हू कहति)—तू भी कहती है और (हौं आप हू बहुत सयान समझति)—मैं आप भी—विना किसीके सिखाए पढ़ाए, बहुत सयानपन-चतुराई–जानती हूं। (मोहन लखि जौ मन रहै)—मोहनको देखकर जो मन रहे (तौ मन मान राखौं)—तो मनमें मान रक्खूं !

मन-मोहनको देखकर मनही वशमें नही रहता तो मान कहां रहे !

अलंकार—१-"विशेषोक्ति"—स्वयं सब सयानपन समझना, और सखीकी शिक्षा, यह सहकारिसम्पन्न प्रसिद्ध कारण है, तो भी मान रखना-कार्य्य नहीं हुआ !

"कार्याजनिर्विशेषोक्तिः सति पुष्कलकारणे।"
"पुष्कले—सहकारिसम्पन्ने, प्रसिद्धकारणसमूहे सतीति यावत्।"
"विशेषोक्ति जो हेतु सो कारज उपजत नाहि॥"

२-"सम्भावना"—जो मन रहे तो मान रहे,—

"जो तो' पद जहं होइ, सम्भावन है सोइ॥"

३-"वृत्त्यनुप्रास"। ४-" विभावना " कारन विन काज—(प्रतापचन्द्रिका)

५-"विशेषोक्ति-"विभावना"का संकर"-(रसचन्द्रिका)

"सर्व सयान" "सौक सयान"—पाठान्तर।

अमरुक कविके पद्यका यह उत्तरार्ध इसी दोहेके भावसे मिलता है।

"दृष्टेनैव मनो हृतं धृतिमुषा प्राणेश्वरेणाद्य मे
तत्केनात्र निरूप्यमाणनिपुणो मानः समाधीयताम्।"

१००

दहैं निगोड़े नैन ये गहैं न चेत अचेत
हौं कसिकै रिसकौं करौं ये निरखै हँसि देत

(सखीसे नायिकाकी उक्ति *)—

अर्थः—(ये निगोड़े नैन दहैं)— ये निगोड़ी आंखे ज जायं। अथवा ये निगोड़ी आंखे मुझे दहती है—जलाती कहना नही मानती। (अचेत, चेत न गहैं)—ये अचेत- बेहोश, होश नही पकड़ती! अथवा न 'चेत'— होश पकड़ती हैं, न 'अचेत' बेहोशी ही पकड़ती हैं! (हौं कसि कै रिसको करौं)— मैं खींचकर- दृढ़तासे क्रोध करती (ये निरखै हँसि देत)— ये देखते हो हँस देती हैं।

---

* "यह नेत्रोपालम्भ है, सखी नायिकाको दृढावति है कि मान करि, नायिका अपने नेत्रके स्नेहकी अधिकताई सखी स कहति है।" (कृष्ण कवि)

"नायिका वचन नेत्र सों" (हरिप्रकाश

"ये निरखैं"की जगह "ये निसिखे" भी पाठ है। इस दशामें "निसिखे" नेत्रोंका विशेषण है। अर्थात् ये 'निसिखे' हैं— इनपर शिक्षाका असर नहीं होता, सिखानेसे भी नहीं सीखते, क्रोध करना सिखाती हूं पर नहीं सीखते, शिक्षाको भूलकर झट हँस देते हैं !

सखी मानकी शिक्षा देती है। नायिका कहती है कि इन कमबख्त आंखोंके आगे पार नहीं बसाती। ये न चेत 'पकड़ती' हैं, न अचेत ही रहती हैं, मै तो बहुत खींच तानकर क्रोध करती हूं और ये उन्हे देखते ही हँस देती हैं !

अलंकार— १— "लोकोक्ति"— निगोड़े नैन जलें। 'निगोड़ा' स्त्रियोंकी गालीमें रूढ़ है।

२—"तीसरी विभावना"— क्रोध हँसीका प्रतिबन्धक कारण है, तौ भी हँसी— कार्य्य होता है। ३—"वृत्त्यनुप्रास"।

(इति सतसई-सञ्जीवनभाष्ये श्रीपद्मसिंहशर्म प्रणीते प्रथम शतकम्।)

अथ द्वितीय शतक
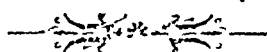
१०१

मोहि लजावति निलज ये हुलसि मिलैं सब गात।
भानु उदयकी ओसलौं मान न जान्यो जात॥

(नायिकाका वचन सखीसे)*—

दोहार्थः—(ये निलज सब गात)—ये निर्लज्ज सारे अङ्ग, (मोहि लजावत)—मुझे लज्जित कराते हैं, क्योंकि (हुलसि मिलैं)-नायकको देखकर हुलसि–उल्लासपूर्वक–मिलते हैं। (भानु उदयकी ओस लौं)—सूर्योदय होनेपर ओसकी तरह (मान जात न जान्यो)-मान जाता हुआ नहीं जाना जाता।

मान सिखानेवाली सखीसे नायिका अपने अङ्गोंको उपालम्भ देकर कहती है कि कैसा मान? उलटा यह निर्लज्ज अङ्ग अपनी करतूतसे उसके सामने मुझे ही लज्जित करा देते हैं। एक दो नहीं, किसीको तो एक 'निगोड़े नैनों' का ही रोना है, यहां ये सबके सबही, उसे देखकर उछल पड़ते है, दूरहीसे देखकर मिलनेको दौड़ पड़ते हैं! मैं अकेली किसे किसे रोकूं! आंखोंको, कि कानों को! हाथोंको कि पैरोंको, या वाणीको! कोई रूपका लोभी है, तो कोई बातोंका रसिया, कोई आलिङ्गनका अभिलाषी है, तो कोई कुछ कहनेके लिये उत्सुक है! निदान ये सबके सब उसे देखतेही उठ दौड़ते हैं! मैं अकेली अपनासा मुंह लिए रह जाती हूं! जैसे, सूर्य्यके उदय होते ही ओस स्वयं उड़ जाती है, ऐसे उसके आतेही मान न जाने कहां चला जाता है!

---

* "उत्तम नायिकाका बचन, अपने अंगों से कहे हैं" (रसचन्द्रिका)

बहुत अच्छी "पूर्णोपमा" है—मान- उपमेय। ओस- उपमान। उड़ जाना—साधारण धर्म। लौं- वाचक।

२-पांचवी "विभावना" भी सम्भव है। निर्लज्ज गात, लजाते हैं। विरुद्ध कारणसे कार्योत्पत्ति।

३-"वृत्यनुप्रास"—लकार, नकारकी अनेकवार आवृत्तिसे स्पष्ट ही है।

"दृष्टान्त"—उपमान उपमेयके, बिम्ब प्रतिबिम्बभावके प्रतिपादनसे। (कवि परमानन्दके मतमे)

१०२

खिंचे मान अपराध तें चलिगे बढ़े अचैन।
जुरत दीठि तजि रिस खिसी हँसे दुहुनके नैन॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ—(मान अपराधतें खिंचे)—नायिकाको मान नहीं छोड़ता और नायकको अपराध पकड़े हुए है—दोनों खिंचे बैठे हैं, पर (अचैन बढ़े चलिगे)—विरहव्याकुलता बढ़नेपर, दोनों मिलनेको चलही दिये। (दीठि जुरत)—दृष्टि मिलतेही (रिस-खिसी तजि)—क्रोध- नाराज़गी और खिसियानपन छोड़कर (दुहुनके नैन हँसे)— दोनोके नेत्र हँस दिये।

अथवा, नायिकाके नेत्र मानसे खिँचे हैं * और नायकके नेत्र अपराधजन्य लज्जा- खिसियान-से खिँचे हैं, पर 'अचैन' बढ़नेपर, (दोनोंके नेत्र) मिलनेको चल पड़े, और नज़र मिलतेही, मानके क्रोध (रिस) और अपराधकी लज्जा (खिम्ती) को छोड़कर (दोनोंके नेत्र) हँस दिये। *

भावसन्धि—हर्षोदय, ईर्ष्याशान्ति। (मानमुक्ति!)

अलंकार—१-"प्रहर्षण"—

"उत्कण्ठितार्थसमिद्धिर्विना यत्न प्रहर्षणम्।"

"विना जतन वाँछित फल होय, पहलो भेद कहत† कवि लोय।"

—सखीकी सिफारिश और दूतीके उपाय विना ही मेल होगया! इससे अच्छा "प्रहर्षण" और क्या होगा!

२-"तुल्ययोगिता"- 'खिंचे' यह एक क्रिया दोनोंको खींचे हुए है!

---

* "नायिकाके नेत्र मानसों खिचे, नायकके नेत्र अपराधसों खिचे हैं"

(कृष्ण कवि)

१—'नायिकाके नैन मान सों खिचे, और नायकके अपराध सों खिचे। व्याकुलता बढ़ने पै दोनों चले, जब दीठि दोनोंकी मिलि गई, तब नायिकाने तौ रिस छाँड़ी, तब नायकने अपराधकी खिसान छोड़ी, सो दौनौके नैन हँसे।'

(रसचन्द्रिका)।

"खिसी—सरमिन्दगी लिये कछु गोसा, (गुस्सा)" (हरिकवि)

† २—"इच्छितहूतैं अति फल लहै, दूजो भेद सुमति यह कहै।"

३—"जा को जतन ढूंढियत होइ, वस्तु हाथ आवे पुनि सोइ॥"

त्रिविध 'प्रहर्षन' जानो मित्त, लछिन लच्छ अवधारहु चित्त।" (प्र० च०)

३-"यथासंख्य"—१ मान, २ अपराध, १ रिस, २ खिसी। सब यथासंख्य हैं।

"यथासंख्य क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः।"

"१शत्रु २मित्र ३विपत्तिं च, १जय २रञ्जय ३भञ्जय।"

—क्रमपूर्वक कहे हुए पदार्थोंका उसी क्रमसे अन्वय होना 'यथासंख्य' कहलाता है।

जैसे दोहेके पूर्वार्द्धमें 'मान, अपराध' हैं, उत्तरार्द्धमें उसी क्रमसे उनसे सम्बन्ध रखनेवाले "रिस" और "खिसो" हैं। या जैसे संस्कृतके उदाहरणमें—"शत्रुं जय, मित्रं रञ्जय, विपत्तिं भञ्जय"—इस प्रकार क्रमपूर्वक अन्वय है।

३-द्वितीय-"पर्य्याय"- रिस, खिसी, गयी और उनकी जगह हँसी आयी।

४-'पोष्य-पोषकभाव संकर'--सब अलंकार 'पर्याय' के पोषक हैं। (प्रतापचन्द्रिका)

१०३

रति दिवस हौंसै रहै मान न ठिक ठहराय ।
जे तौ अवगुन ढूंढियै गुनै हाथ परिजाय ॥

(नायिकाका वचन सखीसे)—

अर्थः—(राति दिवस) रात दिन (हौंसै रहै)--हौंस-अवगुण ढूंढनेकी हविस-इच्छा-रहती है, पर (मान, ठिक, न ठहराय)—मान ठीक नहीं ठहराता, मान ठाननेका कोई ठीक कारण नहीं मिलता, या मान ज़रा भी नही ठहरने पाता, क्योंकि (जे तौ अवगुन ढूंढियै)—जितना अवगुण ढूंढो, (गुनै हाथ परि जाय)—गुण ही हाथ आ जाता है ।

सखी नायिकासे मान न करनेका कारण पूछती है, या नायिका स्वयं ही उससे नायककी अनुकूलताका वर्णन करती है कि मुझे रात दिन मान करनेकी "हौंस" (चाव)ही बनी रहती है कि मान करके देखूं, पर मान करनेका कोई कारणही नहीं मलता, मैं नायकके जितने अवगुण ढूंढती हूं, उतने गुणही हाथ आते हैं ।

इस दोहेको लल्लूलालजीने "सखीका वचन सखीसे" में लगाया है, और लिखा है कि—" इस दोहेमें नायका-वचन सखीसे कोई कहै तो न हो सके "—इसकी पुष्टिमे 'अमरचन्द्रिका' का प्रश्नका यह दोहा दिया है :—

"अवगुन जामें है नहीं सो अनुकूल विख्यात ।
बनै न तिय अनुकूल की ढूंढनि अवगुन बात "—

—अर्थात् जिसमें अवगुण न हो वही “ अनुकूल ” नायक कहलाता है, इसलिये ‘अनुकूल’ नायकमें उसकी स्त्रीका अवगुण ढूँढना नहीं बन सकता।”—*

परन्तु कृष्णकवि, हरिकवि, परमानन्दकवि तथा रस-चन्द्रिकाकारने इसे “ नायिकाकी उक्ति सखीसे ” † लिखा है। हरिकविने इसका नायक ‘धीरोदात्त’ माना है, और कहा है :—

“चावलकी राशिमे दस बीस काकर रहें तो हाथ नही आवे ”।

अर्थात् अनुकूल और धीरोदात्तमे भी अवगुणोका होना और ढूंढना सम्भव है, पर गुणोके ढेरमे अवगुण हाथ नही आते !

अलङ्कार—१—“विशेषोक्ति”—(लालचन्द्रिकाकारके मतसे) यथा—

“ढूँढन कारण है यहां अवगुण मिलै न ‘काज’।
अलङ्कार यौं जानिये ‘विशेषोक्ति’ कविराज।”

२—“विषादालङ्कार”—(सुरतिमिश्र, हरिकवि तथा पं० परमानन्दके मतसे) अभीष्ट—‘अवगुण’ ढूंढनेका प्रयत्न किया और अनभीष्ट—‘गुण’ हाथ आया !

यदि ‘पति-प्रेमगर्विता’ ‘स्वाधीनपतिका’ नायिका, अपनी सौभाग्य-सूचनाके लिये ऐसा कहती है तो “पर्य्यायोक्ति” भी हो सकती है। ‘रसचन्द्रिका’ ने यहां ‘विनोक्ति’ अलङ्कार माना है !

---

* “उत्तर-वार्त्ता— निज सखीके वचन सखी सौं। नायकके औगुन हम ढूढती है मान कराइबे कौं, सो नायक में पइयत नही।” (अमरचन्द्रिका)

† “ स्वकीया नायिका है, नायिकाको वचन सखी प्रति है, नायकके अवगुण हू याको गुण भासते है ” (कृष्णकवि)—

“नायिकाको वचन सखी सों, नायिका उत्तमा है जो नायकके अवगुण जानती ही नही ’— (रसचन्द्रिका)

यथा—"अलङ्कार 'विनोक्ति'–तिसका लक्षण, 'कछु विन सोभावान होइ, इहां औगुन विन पतिको कहो।" (१)।

किसी संस्कृत कविका भी इस भावका यह पद्य है:—

"एतत्किं प्रणयिन्यपि प्रणयिनी यन्मानिनी जायते
मन्ये मानविधौ भविष्यति सुखं किञ्चिद्विशिष्टं रसात्।
वाञ्छा तस्य सुखस्य मेऽपि हृदये जागर्ति नित्यं परं
स्वप्नेऽप्येष न मेऽपराध्यति पतिः कुप्यामि तस्मै कथम्॥"

—यह क्या बात है कि प्यार करने वालेसे भी प्यारी मान ठानकर बैठ जाती है, मैं समझती हूं कि मानमें प्रीतिसे भी कुछ विशेष सुख है। इसीलिये प्रीति छोड़कर मान किया जाता है। उस मानके सुखकी इच्छा मेरे हृदयमें भी सदा बनी रहती है, कि किसी तरह मान करके उस अद्भुत सुखका अनुभव करूँ, पर यह प्रिय स्वप्नमें भी मेरे साथ कोई अपराध नहीं करता, फिर इससे कोप कैसे करूँ!
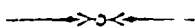
१०४

जौ लौं लखौं न कुल-कथा तौ लौं ठिक ठहराय।
देखे आवत देखिबौ क्यों हूँ रह्यौ न जाय॥

(सखीसे नायिकाकी उक्ति)—

अर्थः—(जौ लौं लखौं न)—जबतक उसे देखती नहीं हूं, (तौ लौं कुल-कथा, ठिक ठहराय)—तबही तक कुल-धर्मकी बात ठीक—निश्चल रहती है, (देखे देखिबौ आवत)—देखनेपर, देखनाही बन आता है, वही सुहाता है। (क्यौं हूं न रह्यौ जाय)—फिर किसी तरह विना देखे नहीं रहा जाता।

सखी सीख, देती है कि इस प्रकार परपुरुषके प्रेमपाशमें फँसना कुल-धर्मके विरुद्ध है। नायिका कहती है कि ठीक है, पर यह कुल-कथाका भाव तभीतक चित्तमें ठहरता है, जबतक उसे देखती नहीं, देखनेपर फिर किसी प्रकार नहीं रहा जाता, देखते ही बनता है।

अलङ्कार—१—"संभावना"—जौ लौं तौ लौ, शब्दसे (लल्लूलालजी)

"ज्यों यों होय त्यों यों होइगौ" सो यहा कुलकथा तौ लौं ठहराइ, जौं लौ देखो नहीं है।" (रसचन्द्रिका)

२—"व्याजस्तुति"—(परमानन्द कविके मतसे) नायकके सौन्दर्यातिशयके वर्णनसे, तदन्यपुरुषोंमें ऐसा सौन्दर्यातिशय नही। इस प्रकार, (अन्य पुरुषोंके सौन्दर्यकी) निन्दाकी प्रतीति होती है।

—जहां स्तुतिसे निन्दाकी या निन्दासे स्तुतिकी प्रतीति हो, वहां "व्याजस्तुति" अलङ्कार होता है।

३—व्याघात"—(हरिकविके मतसे)—"सखी कायक सों प्रीति छोडावति है—यातें विरोधी, तासों कार्य साध्यौ, व्याघात—अलङ्कार।"

"व्याघात जु कछु और ते कीजे कारज और।
बहुरि विरोधी तें जबै, काज स्याइये ठौर।"

१०५

कपट सतर भौंहैं करी मुख सतरौंहैं बैन।
सहज हँसौंहैं जान करि सौंहैं करति न नैन॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ:—(कपट, सतर भौंहैं करी)—कपट—(बनावट)से भौंहैं टेढ़ी कीं, (मुख सतरौंहैं* बैन)—मुंहसे सतरौंहैं—क्रोध-युक्त, वचन कहे, पर (सहज हँसौंहैं जान करि)—स्वभावही से हँसौंहै—हँसीले, जानकर (नैन, सौंहैं न करति)—नेत्रोंको सौंहैं-नायकके सामने, नहीं करती।

सखियोंने सिखा पढ़ाकर नायिकाको मान करनेके लिये तय्यार किया, सो उसने बनावटसे भौंहैं भी टेढ़ी कर दिखायी, मुंहसे—(जीसे नहीं !)—टेढ़ी मेढ़ी बातें भी कह सुनायीं, पर यह जानकर कि यह देखतेही बिना हँसे न रहेंगी—हँसना इनके स्वभावमे दाख़िल है—नायकके सामने आंखे नहीं की ! आंखो-की इस निर्बलताको सखी समझ गयी, इसी बातको वह दूसरी सखीसे कहती है।

'संभोग संचारी मान'—" जो मान, मनाने तक न ठहरे पहलेही छूट जाय, (हरिकवि) "नायिकाके हर्ष, अवहित्था, संचारी, पूर्ण ईर्ष्याभास। विब्बोक हाव, मानाभास।" (अनवरचन्द्रिका)

अलङ्कार—" काव्यलिङ्ग "—आँखोको सामने न करना, सहज हँसौंहै होनेसे समर्थन किया। २—" छेकानुप्रास "—भौंहैं–रौंहै। ३–"यमक"–सौंहैं सौंहैं।

---

* "अनखौंहैं"—पाठान्तर।

१०६

नहिँ नचाय चितवति दृगनि नहिँ बोलति मुसकाय।
ज्यों ज्यों रुख रूखो करति त्यों त्यों चित चिकनाय॥

(नायकका वचन सखीसे)—

अर्थः—(दृगनि नचाय, नहिं चितवति)—आंखें नचाकर नही देखती, (नहिं मुसकाय बोलति)—और न मुसकराकर बोलती है। अथवा, * 'नही नहीं' बोलती है—निषेध करती है—(ज्यौं ज्यौं रुख रूखौ करति)—ज्यौं ज्यौं रुख—(चेहरे) को रूखा बनाती है, (त्यौं त्यौं चित चिकनाय)—त्यौं त्यौं चित्त चिकनाता है। 'चित चिकनाना' स्नेहसे रीझना, या ललचाना।

अर्थात् कपट कोप प्रकट करनेके लिये यद्यपि वह कटाक्ष-विक्षेप पूर्वक देखती नही, और न मुसकराकर बोलतीही है, पर जैसे जैसे वह गम्भीरभाव धारण करके चेहरा रूखा बनाती है, वैसे वैसे मेरा मन और चिकनाता जाता है, उसके इस रूखे भावसे मन, और भी स्नेहमे सना और प्रेममे पगा जाता है।

हरिकविने इसे नायिकाके प्रति नायककी उक्तिमें लगाया है कि "एकान्तमे नायिका संभोगको चाहती है—" तासो नायक वचन।" तैसे तैसे तेरो चित चिकनाय है—यह अर्थ।"(!)।

अलङ्कार—१- "विभावना" चौथी। रूखे रुख-विरुद्ध कारणसे. चित चिकनाहट—कार्य्य। 'नहिं नहिंसे'— तीसरा "आवृत्ति दीपक"।
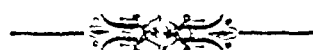
* पाठान्तर नहिं बोलत "अनखाय" नाराज—होकर नहीं नहीं बोलती है।

१०७

तौही कौ छुटि मान गौ देखत ही ब्रजराज ।
रही घरिक लौं मानसी मान किये की लाज ॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थः—(ब्रजराज देखत ही)—ब्रजराज-श्रीकृष्णका देखते ही (तौ ही को मान छुटिगौ)— तबहीका मान छुट गया, अर्थात् जब श्रीकृष्णको देखा मान तो उसी समय छूट गया। (घरिक लौं)—घड़ी एक तक (मान कियेकी लाज मानसी रही)—मान करनेकी लज्जा, मानसी–मानकी तरह– रही। अर्थात् मैंने यह व्यर्थही मान किया, इस प्रकारकी चित्तमे लज्जा घड़ी एक तक मान जैसी प्रतीत होती रही।

सखी सखीसे कहती है कि इसका मान तो कृष्णको देखतेही कभीका छुट चुका था, कृष्णके आनेपर जो कुछ देर तक मानसा मालूम होता रहा, वह मान नहीं था, किन्तु मान करनेकी लज्जा थी!

'मानाभास'। नायिकाकी प्रीति और कृष्णका सौन्दर्य्यातिशय व्यङ्ग्य ।

'अमरचन्द्रिका'में "मानसी" पर 'प्रश्न, वार्ता' है कि "यहा 'मानसी' रही न चाहिए, 'मानिनीसी' या 'मानवतीसी' चाहिए"- उत्तर यह दिया है कि 'घरीक' (घड़ी एक) मानकी 'सी' कहिए शोभा (श्री) रही!" तथाहिः—

"मैं जान्यौं अनुमान तैं तौही छुटिगौ मान ।
सोभा रही घरीक लौं मान किये की कान !"

—कान, अर्थात् हे कृष्ण ! -कृष्णसे सखीका वाक्य ।

हरिकविने 'नायिका सों सखी वचन' कहकर अर्थ किया है कि 'तोही को,—'तो'—तेरे, 'ही'—हृदय का मान छुटिगो ·· ···· 'मानमी' मनमें जो उपजै सो 'मानसी' मान करिवे की लाज मानसी रही—अर्थात् मनमे रही .. "

अलङ्कार—१–'अनुमान' (अमरचन्द्रिका)

२–"उत्प्रेक्षा"–(अनवरचन्द्रिका)

३–दूसरी "विभावना"– (श्रीप्रताप और परमानन्द कविके मतसे)। —अनुनयादिके विना, दर्शनमात्र- अपूर्ण कारण–से मान छुटना– कार्य हो गया ।

" हेतूनामसमग्रेपि कार्योत्पत्तिश्च सा मता । "—(सा—द्वितीया विभावना–)

"हेतु अपूरन तैं जवै कारज पूरन होय ।"

४–द्वितीय "पूर्वरूप"– (रसचन्द्रिकाकारके मतमें) । —

"पूर्वावस्थानुवृत्तिश्च विकृते सति वस्तुनि"

—जहाँ वस्तुका विनाश होनेपर भी दशा पूर्ववत् बनी रहे, वहाँ द्वितीय "पूर्वरूप" होता है । मान मिट गया, पर मान समान लज्जा बनी रही ।

५–"चपलातिशयोक्ति" (हरिकविके मतसे)–कृष्णका दर्शन–कारण, मान छुटना—कार्य, दोनों एक साथही हो गये ।

" चपलातिशयोक्तिस्तु कार्ये हेतुप्रसक्तिजे । "–(हेतोः प्रसक्तिर्मात्र तज्जन्ये कार्ये सति)।"

"चपलात्युक्ति जु हेतु के होत नाम ही काम ।"

"समालङ्कार" (?)—स्पष्ट ही है, मान किये की लाजने मान रक्खा ।"

(श्रीलल्लूलालजी)

— ~~~ —

स्वकीया प्रेमगर्विता-वर्णन

१०८

किय़ौ जु चिबुक उठाय करि कंपत कर भरतार।
टेढ़ीयै टेढ़ो फिरति टेढ़े तिलक लिलार॥

(सखीका वचन सखीसे);—

अर्थः—(चिबुक उठाय करि*)-- ठोड़ी उठाकर (कंपत कर भरतार)— कांपते हुए हाथसे पतिने (जु कियो*)—जो तिलक किया, (लिलार टेढ़े तिलक)-माथेके उस टेढ़े तिलकसे (टेढ़ीयै टेढ़ी फिरति)— टेढ़ी ही टेढ़ी फिरती है !

नायकने अपने हाथसे नायिकाके माथेपर तिलक बनाया है, जो सात्त्विक कंपसे हाथ कांपनेके कारण टेढ़ा बन गया है। प्रेम-गर्विता नायिका उसी टेढ़े तिलकको लगाए टेढ़ी टेढ़ी— प्रेम और रूपके गर्वसे गुमान भरी— इतराती फिर रही है !

अलंकार—१—पांचवी "विभावना" तिलकक्रियाकी अनभिज्ञताका सूचक टेढ़ा तिलक जो लज्जाका कारण है, उससे गर्व रूप विपरीत कार्य हुआ।

२— "परिकर" — तिलकका विशेषण 'टेढ़ा' साभिप्राय है।

३— "छेकानुप्रास— " और —"वृत्त्यनुप्रास— "।

—:*:—

* पाठान्तर—"के"। "दियौ"

१०६

तुम सौतिनि* देखत दई अपने हियतें लाल ।
फिरति सबनि में डहडही उहै मरगजी माल ॥

(नायकसे सखीका वचन)—

अर्थः— (लाल, सौतिनि देखत)- हे लाल ! सपत्नियों-के देखते (अपने हियते तुम दई)-जो अपने हृदयसे उतारकर तुमने दी है, (उहै मरगजी माल)- उसी मैली—मुरझाई—मालासे(सबनिमें डहडही फिरति)-सबमें हरी भरी —प्रसन्न हुई— फिर रही है ।

प्रियने सब सपत्नियोके सामने अपनी छातीसे उतारकर नायिकाको माला दी है, वह प्रेमके 'सार्टिफ़िकट' —स्वरूप उसी मैली मालाको गलेमें डाले हर्षसे फूली फिरती है ।

अलङ्कार—वही पाँचवी "विभावना" । मरगजी-मुरझाई-मालासे, डहडहाना-हराहोना, विरुद्ध कार्य ।

भारविका जलकेलि-प्रकरणका यह पद्य बिलकुल इसी भाव का है —

"प्रियेण संग्रथ्य विपक्षसन्निधावुपाहितां वक्षसि पीवरस्तने ।
स्रजं न काचिद्विजहौ जलाविलां वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि ॥"

(किरातार्जुनीय ८ सर्ग)

— सपत्नीके समीप— उसके सामने ही— प्रियने (अपने हाथसे) अच्छी तरह गूँथकर, छातीपर डाली हुई मालाको, जलसे भीगकर म्लान

---

* पाठान्तर—"बिय सौतिन" । 'प्रिय सौतिनि"

होजानेपर भी, किसी नायिकाने— उतारकर फैंका नहीं— उसे वैसे ही पहने रही— सच है—गुण, प्रेममें रहता है, वस्तुमें नहीं !

प्रेमास्पद होनेपर ही कोई वस्तु चित्ताकर्षक और उपादेय होती है— फिर चाहे वह कैसी ही— मैली कुचैली और गली सड़ी ही— क्यों न हो। दोहेकी "मरगजी माल" और पद्यकी "जलाविलां स्रजम्"—इसका प्रमाण है।

दोहे और पद्यका भाव सर्वथा समान है।

"विपक्षसन्निधौ सग्रथ्य उपाहिता"—"सौतिनि देखत दई"— "जलाविलां स्रजम्"—"मरगजी माल"— एक ही बात है। पद्यमें सपत्नीके सामने गूंथकर "वक्षसि" माला पहनाई है। दोहेमें—"सौतिनि देखत" "हियतें"— वक्षःस्थलसे उतारकर दी गयी है। भाव एक ही है। पद्यमें "वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि"— 'अर्थान्तरन्यास' मनोहर है। दोहेमें "डहडही फिरति"मे चमत्कार है। —मज़मूनमें "ताज़गी" है।

११०
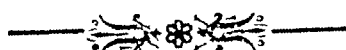
छिनक उघारति छिन छुवति राखति छिनक छिपाय
सब दिन पियखंडित अधर दर्पन देखत जाय।

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थः— (छिनक उघारति)— क्षण एकके लिये उघाड़ती है, (छिन छुवति)— क्षण एक तक छूती है, (छिनक

छिपाय राखति)— फिर क्षण भरके लिये उसे छिपाए रखती है। (सब दिन)— इस प्रकार, सारा दिन (पियखण्डित अधर)— प्रियके दन्ताघातसे कटे हुए होठको (दर्पन देखत जाय)— दर्पणमें देखते ही बीतता है।

नायक-देव, नायिकाका अधर-खण्डन करके कहीं परदेश चले गये हैं। सो उनके अनुरागके चिह्न— अधरक्षत— को वह कभी उघाड़ती है, कभी उसे उंगलीसे छूती है, कभी छिपा लेती है, सामने दर्पण धरे, सारा दिन इसी प्रकार उसे देखती रहती है !

—वियोगमें भी अनुरागातिशयसे संयोगकासा सुख मान रही है । वह नहीं तो उसकी निशानीहीसे जी बहला रही है, अच्छी तन्मयता है ! प्रियानुरागिणी वियोगिनीके स्वभावका बहुत अच्छा चित्र है।

अलङ्कार:— १— "स्वभावोक्ति"— २— "लाटानुप्रास" और ३- "पदावृत्ति दीपक"।

'अनवरचन्द्रिकाकार' कहते हैं कि "इस दोहेकी नायिका परकीया है"। यथा—

"जो नायिका परकीया होइ तो हर्ष, स्मृति, शंका संचारी क्रियानुभाव तें या के (नायिका के) तो रस है, ही अरु उपपति हू के व्यङ्ग्य है! जो परकीया न होइ तो उपपति नायकके रस व्यङ्ग्य न होे सके, या तें स्वकीया ते परकीया ही कहिये"—

—:-:-—

परकीया प्रेमगर्विता-वर्णन

१११

छला छबीले छैलको नवल नेह लहि नारि।
चूमति चाहति लाय उर पहरति धरति उतारि॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ:—(छबीले छैलको छला)— छबीले—तरहदार, फबीले— नायकका छल्ला— अँगूठी— (नवल नेह लहि)— नवीन स्नेहमें— पूर्वानुरागमें— पाकर, (नारि)— नायिका, (चूमति)— चूमती है, (उर लाय चाहति)— छातीसे लगाकर प्यार करती है, (पहरति)— पहनती है (उतारि धरति)— और फिर उतारकर धर देती है।

पूर्वानुरागमें नायिकाको छबीले छैलका छल्ला मिल गया है, सो मारे प्यारके कभी उसे चूमती है, कभी छातीसे लगाकर प्यार करती है, कभी पहनती है, और फिर कोई देख न ले, या मैला न होजाय, इस डरसे उतारकर रख देती है।

पूर्वानुरागिणी नायिकाके स्वभावका सुन्दर चित्र है।

पूर्वानुराग, श्रृङ्गार हर्ष सचारी, और त्रपानुभावसे परकीया नायिका।

अलङ्कार—"स्वभावोक्ति" और "अनुप्रास"की संसृष्टि"

(अनवरचन्द्रिका)

"जाति"—(स्वभावोक्ति)— "कारक दीपक"।

(हरिकवि)

स्वकीया रूपगुणगर्विता-वर्णन

१९२

दुसह सौति सालै जु हिय गनति न नाह विवाह।
धरे रूप गुन कौ गरब फिरै अछेह उछाह ॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ:— (जु सौति हिय, दुसह सालै)- जो सौत, हृदयके लिये दुःसह शल्य-कांटा-है। अथवा जो सपत्नी दुःसह है, और हृदयमे खटकने वाली है, (गनति न)- उसे यह गिनती ही नही ! (रूप गुन कौ गरब धरे)- रूप और गुणका गर्व धारण किए, (नाह विवाह)- पतिके विवाहमे, (अछेह उछाह फिरै)- अत्यन्त उत्साहसे फिरती है।

नायकका दूसरा विवाह होने लगा है। सपत्नीका दुःख स्त्रियोंके लिये असह्य होता है, यह एक ऐसा कांटा है कि जो किसी भी स्त्रीके जीमे विना खटके नहीं रहता। परन्तु अपने लोकोत्तर रूप और गुणके गर्वमें भरी हुई नायिकाको इसकी जरा भी परवा नही कि उसके सिरपर सौत आनेवाली है। वह इस विषादके अवसरपर और भी अत्यन्त उत्साहमें फिर रही है। सपत्नीकी समीपतामें मेरे रूप गुण और भी अधिक चमकेंगे, यह उसे दृढ निश्चय है। इसीसे वह धृति धारण किए और उत्साहसे भरी फिरती है।

अलङ्कार:— तीसरी "विभावना"— सपत्नी, उत्साहका प्रतिबन्धक कारण है, तो भी "अछेह उछाह"—कार्य हो रहा है।

अथवा, पांचवीं विभावना, विरुद्ध कारणसे कार्य्योत्पत्ति हुई। "वृत्त्यनुप्रास" स्पष्ट ही है।

श्रीप्रताप—"गनति न, या एक क्रियातें "तुल्ययोगिता"—भी कहते हैं।

११३

सुघर सौति बस पिय सुनत दुलहिनि दुगुन हुलास।
लखी सखी तन दीठि करि सगरब सलज सहास।

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थः— (पिय सुघर सौति बस सुनत)- प्रियको सुघड़-चतुर- सपत्नीके वशमें सुनकर (दुलहिनि दुगुन हुलास)- दुलहन—नवोढ़ाको दुगुना उल्लास—हर्ष—हुआ, (सखी तन दीठि करि)- सखीकी ओर दृष्टि करके (सगरब, सलज, सहास, लखी)—गर्व, लज्जा और हँसीसे देखा।

नवोढा नायिकाने जब यह सुना कि उसका पति सुघड़ सौतके वशमें है, तो इससे "सौतिया डाह" नहीं, किन्तु उसे दुगुना हर्ष हुआ। दुगुना यों कि पति सुघड़ सौतके वशमें है तो स्वयं भी 'सुघड़' होगा, इसलिये उसे अपने वशमें करना सुगम है। सपत्नी तो केवल सुघड़ ही है, मै सुघड़ और रूपवती दोनों हूं, मेरे रूप और गुणके आगे सौतकी एक सुघड़ाई न चलेगी।

गर्व, लज्जा और हास्यका अभिप्राय यह है कि 'गर्व' तो अपने रूप-गुणका। 'लज्जा' नवोढापनकी। लज्जाहीन गर्व ढिठाई

का सूचक होता है। 'हास्य' उदारताका सूचक, कि यह सुनकर मुझे बहुत हर्ष हुआ, बहुत अच्छा है जो ऐसा है!

'दुगुन हुलास'के कारणकी व्याख्या टीकाकारोंने कई प्रकारसे की है।

यथा:— "दुगुनो हुलास आनन्द, मो में रूप भी है चतुराई भी है यातें।" (हरि कवि)

"एक तो हुलास ब्याह का था ही, दूसरा पतिके सुघडापेका हुआ। .. .. .. इत्यादि, (रसचन्द्रिका)।

अमरचन्द्रिकाकारने प्रश्न किया है कि — "हुलास दुगुना नहीं, तिगुना कहना चाहिए, क्योंकि उत्तरार्ध में गर्व, लाज, हास, ये तीन भाव है।"

उत्तर यह दिया है कि— "गुण और रूपके गर्वको मुसकराहटसे प्रकट किया।"

—अर्थात् हास्य, हर्षहीका सूचक है। उल्लासके त्रित्वका द्योतक नही। इनके मतसे दुगुने हुलासका कारण नवोढाका रूप-गुण सहित, नूतन वय है। अर्थात् मैं नयी हूं वह पुरानी है। वह केवल सुघड़ ही है, मैं सुघड़ और सलोनी—सुरूपा—दोनो हूं।

लल्लूलालजी कहते हैं— "तात्पर्य्य यह कि एक तो अपना गुण-रूप अधिक जानती थी, दूजे समझी जो सुघड़के वस हुआ तो सुघड़ मै ही हूँ, मेरे ही अधीन होगा वह चार दिनकी आई क्या चतुरी होगी।"... .

लल्लूलालजीकी इस पिछली पंक्तिने दोहेका भाव ही उलट दिया! इनके मतमे यह 'दुगुन हुलास' 'दुलहिनि'को नहीं हो रहा, न उसने गर्व और लज्जापूर्वक मुसकराकर सखीकी ओर देखा ही है. किन्तु जिस सुघड़ सौतके वशमें नायक है वही अपने सुघड़ापेपर इतरा रही है, वही अपना गुण रूप अधिक

जानती है। किसीसे यह सुनकर कि नायक सुघड़के वस हुआ, उसे शायद कुछ सन्देह हो गया, फिर सोचकर समझी कि 'वह सुघड़' मैं ही तो हूं! ज़रूर मेरे ही अधीन होगा। मेरे आगे- मुझ पुरानी खुर्रांटके आगे— चार दिनकी आई वह दुलहिन क्या चतुरी होगी! अस्तु।

अलङ्कार— ४ थी, " विभावना "। "पर्याय"— "एक दीठि में अनेक को वास,याते।"—"तुल्ययोगिता"- गर्व लाज हास सहित लखी,या एक क्रिया तें।" (प्रतापचन्द्रिका)

११४

हँसि ओठनि बिच कर उचै किये निचौहैं नैन।
खरे अरे पियके प्रिया लगी बिरी मुख दैन॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थः— (ओठनि बिच हँसि)— होठोंमे हँसकर, (कर उचै)— हाथ ऊँचा किए, (नैन निचोहैं किये)— आँखें नीचे झुकाए, (पियके खरे अरे)— प्रियके बहुत हठ करनेपर, (प्रिया, मुख बिरी देन लगी)— प्रिया नायकके मुंहमें बीड़ी देने लगी।

संयोग श्रृङ्गार। नायिका मध्या। हर्ष, त्रपा, संचारी। विलास हाव। नायकको हर्ष सञ्चारी।

—नायकने अड़ लगायी है कि मैं तुम्हारी बनायी हुई पानकी बीड़ी तुम्हारेही हाथसे खाऊंगा, अपना हाथ नहीं लगाऊँगा। लगाकर लाओ भी तुम्हीं

और मुंहतक भी तुम्हीं पहुंचाओ ! सो वह मुस-कराती हुई हाथ ऊँचा किए और लज्जासे आँखें झुकाए, सजनके मुंहमे पानकी बीड़ी दे रही है। प्रियकी प्रेमभरी अड़ (हठ) को पूरा कर रही है! इस अनोखी अड़पर होठों-पर हँसी आ रही है। नायिका बाला या मध्या है, लज्जासे नेत्र नीचे हो रहे हैं, और हाथ बीड़ी लिए प्रियके मुखकी ओर बढ़ रहा है! बहुत सुन्दर "स्वभावोक्ति" है ! दशा-विशेषमे बीड़ी देनेका बड़ा अच्छा वर्णन है।

लल्लूलालजी कहते है कि—

"यहा बीडी का अर्थ दात रँगने की बीडी का है, पान की का नही। और और जा पानका अर्थ लीजै तो नेह की हीनता है, क्योकि पान तो खाते ही है।"—

'रसचन्द्रिकाकार' भी ऐसा ही कहते है :—

"बिरी, सो हेत यह है कि जिस सो दात रगे है, सो नायक के देने को अरी है। और जो बिरी पान हीकी कहिए तो या को (प्रिया को ?) अरना नही चाहिए, क्योकि नेह की हीनता है—"

परन्तु यह ठीक नहीं। रसचन्द्रिकाकारके कहनेका अभिप्राय तो यह मालूम होता है कि "प्रिया प्रियके दांत रँगनेको अड़ी है, प्रिय दांत रँगाना नही चाहता, और वह ज़िद कर रही है कि नही ज़रूर रँगूंगी!" पर ऐसा नहीं है। 'खरे अरे' का सम्बन्ध (अन्वय) 'पिय'के साथ है। अर्थात् प्रियकी अत्यन्त हठपर वह पानकी बीड़ी उसके मुंहमे दे रही है। सहृदयोकी दृष्टिमे इसमे स्नेहकी हीनता नहीं, प्रत्युत प्रेमकी पराकाष्ठा है। यदि ऐसा समझे कि दांत रँगनेकी बीड़ी लिए वह अड़ रही है, तो फिर उसकी हँसीका होठोंतक ही रहना और आंखे नीचेको झुकाना कैसा ?

"मांगने निकले और पीठ पीछे भांडा"। उसे तो खूब झकझोरी करके, अट्टहासपूर्वक, आंखें दांतोंपर जमाकर— (कहीं इधर उधर रँग न लग जाय इसलिये)- अड़ना चाहिये था!

लल्लूलालजी ऊपर (अर्थमें) तो लिखते हैं "वहुत हठ करनेसे नायकके, नायका लगी वीड़ी मुखमें देने"— और फिर 'रसचन्द्रिकाकार'के स्वरमें स्वर मिलाकर "नेहकी न्यूनता" भी वतलाते हैं,! इनका अभिप्राय शायद यह है कि "प्रिय दांत रँगानेके लिये अपना मुंह फैलाए वहुत हठ कर रहा है, परन्तु खुशीसे प्रिया ऐसा करना नहीं चाहती, उसे प्रियकी इस अनुचित हठपर हँसी और लज्जा आ रही है।" न जाने इन्होंने इसमें स्नेहकी क्या अधिकता सोची है, जो "पानकी बीड़ी"को ज़बरदस्ती "दांत रँगनेकी वीड़ी" बना रहे हैं! "क्योंकि पान तो खाते ही हैं"— यह भी एक ही हुई। होनेको तो सब कुछ होता है। पर, अवस्थाविशेषमें साधारण सी बात भी चमत्कारजनक हो जाती है। हठ करने-वाले और पान देनेवालीकी दशापर दृष्टि डालिए तो यही साधारण बात एक असाधारण और अत्यधिक मनोरञ्जक घटना प्रतीत होगी! कृष्णकविने भी वीड़ीका अर्थ पानकी बीड़ी ही किया है:—

"कान्ह कही अतिहि हठ कै तव राधिकाके जियमें यह आई,
ग्रीव नवाय दुराय कपोल किये नत नैन कछू मुसकाई।
वीरी वनाय, लई वरकज खवैवे को मंजु भुजा उकसाई,
यों हित की सरसाई विलोकि भई मनमोहन के मन भाई।"

परमानन्द कविनेभी 'विरी'का अनुवाद (नागवल्लीदलम्)— 'पानका वीड़ा"- ही किया है। यथा:—

"अनुनीता नतलोचना स्मितवदना रमणेन ।
तदा नागवल्लीदलं बाला ददौ करेण ॥"

'पानकी बीड़ी' देनेका वर्णन विहारीने दूसरी जगह और भी किया है। (वहां श्री लल्लूलालजीने भी "विरी"का अर्थ "पानकी बीड़ी" ही किया है)। यथा :—

"नाहि नहीं नाहीं कहै[1] नारि निहोरे लेय ।
छुवत ओठ विच[1]आंगुरिन विरी वदन प्यौ देय ॥"२४७

पहले प्रसंगमें (११४वें, दोहेमें) नायकवी अड़—हठ—पर नायिका उसके मुंहमें वीड़ी दे रही हैं। और यहां (२४७वें, दोहेमें) नायक आग्रहपूर्वक नायिकाको वीड़ी खिला रहा है।

अलङ्कार— "जाति"— (स्वभावोक्ति) या "हेत्वलङ्कार", हरिकवि)। "कारक दीपक", "छेकानुप्रास"—(श्रीप्रताप)
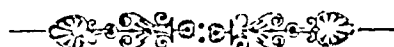
अन्यसम्भोगदुःखिता स्वकीया-वर्णन

११५

**बिथुर्‌यौ जावक सौतिपग निरखि हँसी गहि गांस ।
सलज हँसौंहीं लखि लियौ आधी हँसी उसास ॥**

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ:— (सौति पग, विथुर्‌यौ जावक निरखि)—: सपत्नीके पांवमें विथुरा हुआ— अस्तव्यस्त लगा हुआ, फैला

[1] पाठान्तर— "नाक मोरि नाहीं ककै'— "छुवत ओंठ पिय विच आंगुरिन विरी वदन तिय देय"।

हुआ— महावर देखकर, (गांस गहि, हँसी)— ईर्ष्या या अवज्ञाके भावको लेकर हँसी। (सलज हँसौंहीं लखि)— पर सपत्नीको लज्जासहित हँसते देखकर, (आधी हसो उसास लियौ)— आधी हँसीमें दुःखसे दीर्घोच्छ्वास लिया।

जावकको विथुरा हुआ देखकर, यह समझकर हँसी थी कि यह कितनी फूहड़ है जो इसे जावक लगाना भी नहीं आता! पर जब उसे लज्जित और हँसते हुए देखा तब उसकी इस चेष्टासे यह जानकर दुःखका सांस लिया कि यह (महावर) इसका लगाया हुआ नही है, किन्तु प्रियने लगाया है, इसी कारण बिखरा हुआ है, लगाते समय प्रियको सात्त्विक प्रस्वेद हो आया है, इसीसे यह फैल गया है। सपत्नीने अपने लज्जा और हँसीके भावसे यह जतलाया दिया कि यह मेरा लगाया नही है जो तू मुझे फूहड़ समझकर हँस रही है, किन्तु प्रियने स्वयं अपने हाथसे लगाया है, जो सात्त्विक पसीनेसे बह गया है! बेचारीकी हँसी पूरी भी न होने पायी थी कि आधी हँसीमें ही दुःखका सांस लेना पड़ गया! अफ़सोस!

अलङ्कार—तीसरा "विषम" जो बात इष्ट—हर्ष—का कारण समझी थी वही अनिष्ट—दुखदायी हो गयी। अथवा—"हेत्वलङ्कार"

"हेतोर्हेतुमता सार्धं वर्णनं हेतुरुच्यते।"

— हेतु, विथुरा जावक, हेतुमान् (कार्य्य) हँसी का एक साथ वर्णन है। या "सहोक्ति" भी होसकती है, आधी हँसी, उसासके साथ हुई!

इसी भावकी एक आर्या भी है:—

"अलुलितसकलविभूषां प्रातर्बालां विलोक्य मुदितं प्राक्।
प्रियशिरसि वीक्ष्य यावकमथ निःश्वसितं सपत्नीभिः॥१८॥"

—प्रात काल यह देखकर कि वाला नायिकाकी सब सजावट ज्योंकी त्यों बनी है, पहले तो सपत्निया प्रसन्न हुई, परन्तु पीछे यह देखकर कि प्रियके माथेपर यावक— महावर— लग रही है. उन्होंने लम्बा सास लिया !

अर्थात् सपत्नियोने यह समझा था कि यह रात पति-समागमसे वञ्चित रही है— पतिने इसकी बात नहीं पूछी, क्योंकि वेषभूषाकी सब सजावट ज्योंको त्यों बनी है, पतिसमागम होता तो यह सजावट ज़रूर मली दली जाती। परन्तु पतिके माथेपर महावर लगी देखकर वे समझी कि ओह, यह तो उलटी बात निकली ! प्रियने पैरोंपर सिर रखकर इसे मनाया, तो भी नही मनी ! यह 'दुर्भगा' नही, परम 'सुभगा' है, इसके पैरोंकी महावर, मनाते समय प्रियके माथेपर लग गयी है, पर यह मान छोड़कर तोभी नहीं मिली, इसीसे "अलुलितसकल-विभूषा" है !

आर्याके—"यावक". "नि श्वसित", "विलोक्य". 'मुदित" । और दोहेके— 'जावक, निरखि हँसी, उसास लियो"— एक हैं । परन्तु विहारीके दोहेमे सपत्नीको हँसने और सांस लेनेके लिये दो जगह देखना नहीं पड़ा —उसे पतिका महावरमें सना हाथ देखना नही पड़ा—अभी हँसी पूरी भी न होने पायी थी, कि बेचारीको उलटा सांस भरना पड़ गया। इशारे ही इशारेमे हँसी दुःखमे बदल गयी, न किसीको कुछ कहना सुनना पड़ा, न कहीं इधर उधर देखना भालना !

बड़ा चमत्कार है! आर्याके "प्रियशिरसि वीक्ष्य यावक" वाक्यने विस्पष्ट करके ध्वनिको कुछ दवा दिया। इस कारण 'आर्या' गुणीभूत व्यङ्ग्य होनेसे मध्यम, और दोहा ध्वनिप्रधान व्यङ्ग्यपूर्ण होनेसे उत्तम काव्य है।

११६

छला परोसिनि हाथतें छल करि लियौ पिछानि।
पिय हि दिखायौ लखि बिलखि रिससूचक मुसकानि॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थः—(छला पिछानि)—छला पहचानकर (परोसिन हाथतें, छलकरि लियौ)—पड़ौसनके हाथसे एक वहानेसे लेलिया। (लखि)—अपने आप देखकर, फिर (विलखि, रिससूचक मुसकानि)—विलखकर क्रोधसूचक मुसकराहटसे (पिय हि दिखायौ) —प्रियको दिखलाया!

पड़ौसनके हाथमे नायिकाके प्रियकी (प्रेमकी निशानी) अंगूठी पड़ी थी, सो नायिकाने पहचान ली और यह वात भी जानली कि इसके पास यह क्यो आयी है । किसी वहानेसे उसके हाथसे अंगूठी लेली, एक बार फिर ध्यानसे देखा कि वही है, कहीं धोखा तो नही हुआ। जब निश्चय होगया तो क्रोधमिली हुई मुसकराहटसे प्रियको दिखलायी कि देखिए पहचानिए, यह आपहीकी तो अंगूठी है न? क्यों कैसी चोरी पकड़ी है! न कहोगे!

अलङ्कार— "सूक्ष्म"– क्रोधसूचक मुसकराहटसे यह सूचित किया कि तुम्हारी चोरी पकड़ी गयी। छल्लेके वहाँ पहुंचनेका कारण मालूम होगया!

"पर्यायोक्ति"– छलसे छल्ला लेकर अपना इष्ट सिद्ध किया। "कारक दीपक"—एक छल्लेमें (पहचानना, छलसे लेना, देखना, दिखाना, इत्यादि) अनेक भाव हैं।

—"कारक दीपक एक में क्रमतें भाव अनेक।"

११७

विलखी लखै खरी खरी भरी अनख बैराग।
मृगनैनी सैन न भजै लखि बेनी के दाग॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ:—(विलखी खरी लखै)—आंसू टपकाती हुई, खड़ी देख रही है, (खरी अनख बैराग* भरी)—अत्यन्त क्रोध और वैराग-उदासीनता या नाराज़गीसे भरी है (बेनीके दाग लखि)– अन्य नायिकाकी वेणी (चोटी) के दाग़ देखकर (मृगनैनी सैन न भजै) -मृगनयनी नायिका शय्यापर नहीं आती!

* "बिलखी-आंसू भारती। बैरागको- अर्थ इहां बेराजीपनों— अरुचि जानिए।" (हरि)। 'बैराग' को अर्थ उदासी को है" (रसचन्द्रिका)

दूसरी स्त्रीकी चोटीके दाग़ चारपाईकी चादरपर लगे देख-कर मानिनी नायिका, क्रोध और उदासीनतासे भरी खड़ी विलख रही है, चारपाईपर पैर नहीं रखती!

अलङ्कार-" काव्यलिङ्ग"- चारपाईपर न आनेका समर्थन वेनीके दागसे किया।

" काव्यलिङ्ग " और "छेकानुप्रास"की संसृष्टि"
(अनवरचन्द्रिका)

वृत्त्यनुप्रास—(श्रीप्रताप)—
"मृगनैनी" मे उपमान-वाचक धर्म-लुप्ता, "उपमा" (हरिकवि)
—"मृगनैनी"— मृगके नयनसे नयन हैं जिसके। मृग, नेत्रोंका उपमान नहीं है, किन्तु 'मृगके नयन' उपमान है। जो यहां लुप्त हैं। मृगपदसे लक्षणाद्वारा मृगके नैनोंका बोध होता है। वाचक-'से' "लौं"— इत्यादि पद भी लुप्त है। "धर्म"— बड़े, कजरारे, इत्यादि भी नही है। केवल "नैन" उपमेय हैं। इसलिये बड़ी बढ़िया "उपमान-वाचक-धर्म-लुप्तोपमा" है।

कुछ इसी प्रकारके प्रसंगमे "वेनीके दाग" का उल्लेख अमरुकने भी किया है। यथा—

" वक्षस्ते मलतैलपङ्कशबलैर्वेणीपदैरङ्कितम् " ।

यहां ऋतुस्नानोन्मुखी नायिकाको आलिङ्गन करनेसे नायक की छातीपर तैल पंक स्निग्ध वेणीका छाप लगी है। विहारीने "सैन"—शयन–चारपाई (चारपाईकी चादर)- पर वनीके दाग दिखलाये हैं।

११८

ढीठ परौसिनि ईठ ह्वै कहै जु गहै सयान।
सबै सँदेसे कहि कह्यौ मुसकाहटमें मान॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थः— (ढीठ परौसिनि)— ढीठ पड़ौसनने (ईठ ह्वै)– मित्र बनकर (जु सयान गहै कहै)— जो सदेसे चतुराईसे कहे, (सबै सँदेसे कहि)— उसने वह सब सन्देसे कहकर —(मुसकाहटमे मान कह्यौ)— मुसकाहटमे मान कह दिया– प्रकट कर दिया।

इस पड़ौसनकी प्रच्छन्न प्रीति नायिकाके पतिसे है। यह 'सहेट' का सकेत करने या मिलनेकी बातमे नायकके घर आयी है। नायक उस समय वहाँ उपस्थित न था, मैदान खाल पाकर–मौक़ा हाथसे जाता देखकर– पड़ौसनने नायिकासे मित्रता गाठी—उसे भोली भाली और अपने छल छन्दसे देखकर समझकर उसके द्वारा—उसेही दूती बनाकर—अपने आनेकी सूचना और गूढ़ सदेसा नायक तक पहुचानेके लिये, कुछ इस ढग और चतुराई से कहा कि मानो इसमें नायिकाहीका कुछ हित छिपा हुआ है –उसीकी भलाईके लिये नायकसे कुछ कहने सुनने वह आयी है। इस प्रकार नायिकाको चकमा देकर 'ढीट पड़ौसन' चलती बनी। नायिका इस भेदको भांप गयी– पड़ौसनके आने और सदेसा कह जानेका रहस्य समझगयी। जब नायक आया तो नायिकाने पड़ौसनका सिखाया पढ़ाया संदेसा कह सुनाया। संदेसा सुनाकर पीछेसे कुछ इस अदासे मुसकरा दी जिसमे ईर्ष्या-मानकी झलक थी—मुसकराहटसे जतला दिया कि इस संदेसेका मतलब

दूसरी स्त्रीकी चोटीके दाग चारपाईकी चादरपर लगे देख-कर मानिनी नायिका, क्रोध और उदासीनतासे भरी खड़ी बिलख रही है, चारपाईपर पैर नहीं रखती।

अलङ्कार-" काव्यलिङ्ग"- चारपाईपर न आनेका समर्थन बेनीके दागसे किया।

" काव्यलिङ्ग " और "छेकानुप्रास"की संसृष्टि"
(अनवरचन्द्रिका)

वृत्त्यनुप्रास—(श्रीप्रताप)—
"मृगनैनी" मे उपमान-वाचक धर्म-लुप्ता, "उपमा" (हरिकवि)
—"मृगनैनी"— मृगके नयनसे नयन हैं जिसके। मृग, नेत्रोंका उपमान नहीं है, किन्तु 'मृगके नयन' उपमान है। जो यहां लुप्त हैं। मृगपदसे लक्षणाद्वारा मृगके नैनोंका बोध होता है। वाचक-'से' "लौं"— इत्यादि पद भी लुप्त है। "धर्म"— बड़े, कजरारे इत्यादि भी नहीं है। केवल "नैन" उपमेय है। इसलिये बड़ी बढ़िया "उपमान-वाचक-धर्म-लुप्तोपमा" है।

कुछ इसी प्रकारके प्रसंगमे "बेनीके दाग" का उल्लेख अमरुकने भी किया है। यथा—

" वक्षस्ते मलतैलपङ्कशबलैर्वेणीपदैरङ्कितम् " ।

यहां ऋतुस्नानोन्मुखी नायिकाको आलिङ्गन करनेसे नायक की छातीपर तेल पंक स्निग्ध वेणीका छाप लगी है। बिहारीने "सेन"—शयन-चारपाई (चारपाईकी चादर)- पर बेनीके दाग दिखलाये हैं।
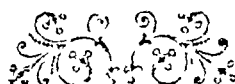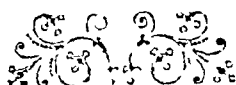
११८

ढीठ परौसिनि ईठ ह्वै कहै जु गहै सयान।
सबै सँदेसे कहि कह्यौ मुसकाहटमें मान॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थः—(ढीठ परौसिनि)— ढीठ पड़ोसनने (ईठ ह्वै)— मित्र बनकर (जु सयान गहै कहै)— जो सदेसे चतुराईसे कहे, (सबै सँदेसे कहि)— उसने वह सब सन्देसे कहकर —(मुसकाहटमें मान कह्यौ)— मुसकाहटमे मान कह दिया— प्रकट कर दिया।

इस पड़ौसनकी प्रच्छन्न प्रीति नायिकाके पतिसे है। यह 'सहेट' का सकेत करने या मिलनेकी बातमे नायकके घर आयी है। नायक उस समय वहाँ उपस्थित न था, मैदान खाल पाकर—मौक़ा हाथसे जाता देखकर— पड़ौसनने नायिकासे मित्रता गांठी—उसे भोली भाली और अपने छल छन्दसे बेखबर समझकर उसके द्वारा—उसेही दूती बनाकर—अपने आनेको सूचना और गूढ़ संदेसा नायक तक पहुचानेके लिये, कुछ इस ढंग और चतुराई से कहा कि मानो इसमें नायिकाहीका कुछ हित छिपा हुआ है—उसीकी भलाईके लिये नायकसे कुछ कहने सुनने वह आयी है। इस प्रकार नायिका-को चकमा देकर 'ढीठ पड़ौसन' चलती बनी। नायिका इस भेदको भांप गयी— पड़ौसनके आने और सदेसा कह जानेका रहस्य समझगयी। जब नायक आया तो नायिकाने पड़ौसन-का सिखाया पढ़ाया संदेसा कह सुनाया। संदेसा सुनाकर पीछेसे कुछ इस अदासे मुसकरा दी जिसमे ईर्ष्या-मानकी झल-क थी—मुसकराहटसे जतला दिया कि इस संदेसेका मतलब

मैं समझ गयी ! जिसलिये तुम्हारी टोह में वह यहां आयी थी मैं जान गयी !

इस दोहेका भाव कुछ अस्पष्ट है । प्रायः सब टीकाकारोंने इसकी भिन्न भिन्न व्याख्याएँ की हैं । अमरचन्द्रिकाकारने—

"याकी अर्थविधि कठिन है ताको निर्वाह भूमिका"—यह लिखकर इसपर एक "वार्त्ता" (भूमिका) लिखा है । जिसका सारांश यह है कि— "जिस पड़ौसनसे नायकको हँसते देख, नायिकाने मान किया है, वही ढीठ पड़ौसन नायकके कहनेसे उसे समझाने आयी है, सो वह नायिकाकी मित्र बनी— मानो नायिकाकी बड़ी हितैषिणी है, हितबुद्धिसे उसका भ्रम दूर करने आयी है ! बड़ी चतुराईसे नायककी निरपराधता सिद्ध कर रही है, सब सँदेसे जो नायकने भेजे थे, कहकर अन्तमें कहा कि मुसकाहटमें मान ? अरी कहीं मुसकराहटमें भी मान किया करते हैं ? नायक यदि हमे देखकर मुसकरा दिया तो इतनेसे क्या हुआ ? यह भी कोई मान करने या नाराज़ होनेकी बात है ? यदि नायक परस्त्रीसे छिपकर बातें करता पकड़ लिया जाय, या रतिचिह्न देख लिये जायँ, तब तो मान करना उचित भी है, केवल मुसकराहट देखकर मान करना सर्वथा अनुचित है । "मुसकाहट में मान" और 'मुसकाहट तें मान' का अर्थ एक ही है । दोनों तरह बोला जाता है — जैसे 'हँसी मे बुरा न मानना चाहिए या हसीसे बुरा न मानना चाहिए ।"—

हरिकविने भी इसके कई अर्थ किये हैं— उनमेंसे दो एक यह हैं :—

"नायिका दूतीसे कहती है कि 'ढीठ' (धृष्ट) नायकने पड़ौसनका 'ईठ' मित्र बनकर, उसपर आसक्त होकर,

जो सँदेसे चतुराई लिए कहे हैं, सो सब सन्देसे तू कह। दूती कहती है कि यह सँदेसा कहा है कि "मुसकाहटमें मान" मैं तो 'पड़ौसन से सिर्फ़ मुसकराया था इतनेहीसे मान कर लिया !"

अथवा— "सखीसे सखी कहती है— ढीठ जो नायक है, उसने पड़ौसनका मित्र बनकर, कहा कि हे पड़ौसन तू हमारे सब संदेसे नायिकासे कह, यह कहकर (सन्देसा) कहा कि— " तू हमे सयान गह्यो"— याको अर्थ— 'तू हमें काहू पास सोवत पायो, जो मान करै है ? फरि कह्यौ, मुसकाहटिमे हाँसीमें तू मान कियो !"—

'ढीठ' की जगह 'डीठि' या 'दीठि' पाठान्तर भी है। वहां यह अर्थ कि नायकको 'दीठि' देखकर, "परौसिनि ईठ ह्वै" पड़ौसिन की मित्र बनी कहती है कि 'सयान'— (स्याना)—चतुर नायक "गहै"—समझ जाय। अर्थात् नायकको सुनानेके लिये पड़ौसन से कह रही है, सो सब सदेसे कहकर, निष्कारण और असमय की मुसकराहट से मान जता दिया !

१— "नायक और नायिका पास बैठे है, सो सखी नायिका सो कहै है, कि ढीठ परौसिन तेरी ईठ (मित्र) हो के जो सँदेसे नायकके कहनी थी तुझ सौं, सो तू नायक सो कहु। सो नायिकाने कहो मुसकाहटमें मान। हेत (भाव) यह है कि और कछू न कहा। मुसक्यान में मान जतायो, अर्थात् खिसियानी हँसी, हँसी।"

अलङ्कार— 'पिहित'— छिपी पर बात को जानि के भाव कर दिखावै, सो यहा नायक के दोप छिपै जानि के मुसकाहट क भाव सो मान जतायो।"— (रसचन्द्रिका)

२— (दीठि) देख के नायक को (पर्गेमिन ईठ ह्वै) पर्गेमिन की इष्ट हो के, मित्र हो के, ममझदारी मे कहती है (बात पर्गेमिन मे कहती है, व्यङ्गय नायक पर है) सब सदेस कहके मुसकाई, इस निष्कारण मुसकाहट मे मान विदित हुआ"— (व्यासजी) ॥

अलङ्कार— "काकूक्ति" और "काव्यलिङ्ग"। 'काकूक्ति'— मुसकराहट में मान चाहिये ? अर्थात् नहीं चाहिये। "काव्य-लिङ्ग"— सन्देसे कहनेसे— पड़ोसन की ढिठाई दृढ़ हुई।

"सूक्ष्मालङ्कार"— मुसकराहटकी चेष्टासे नायकको मान जता दिया। "छेकानुप्रास"— दीठि ईठमे।
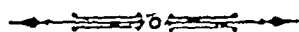
परकीया अन्यसभोगदुःखिता-वर्णन

११६

गह्यौ अबोलौ बोलि प्यौ आपै पठै बसीठि।
दीठि चुराई दुहुन की लखि सकुचौंहीं दीठि ॥

(सखीका वचन सखीसे)—

(आपै बसीठि पठै)-आपही दूती भेजकर, (पिय बोलि)— प्रियको बुलाकर, (अबोलौ गह्यौ) मौन धारण कर लिया (दुहु-नुकी दीठि सकुचौंही लखि)—दोनोंकी दृष्टि लज्जासे संकुचित देखकर (दीठि चुराई)— आंखें चुराईं।

※ हरिकविने एक 'दीठि' का अर्थ देखकर किया है। यथा "डीठि चुराई दुहुनकी" सामने नजर नहीं करे हैं। लखिकें, देखिकैं औ सकुचौंहीं- लज्जित, 'दीठि'को अर्थ देखि कें"—

अथवा— नायिकाने आपही दूती भेजकर नायकको बुलाया, पर दोनोंकी (नायक और दूतीकी) दृष्टिको चुराई और सकुचौंही देखकर (अर्थात् दोनो सामने नज़र नहीं मिलाते और लज्जित हैं, यह देखकर) उनके प्रच्छन्न संभोगका निश्चय किया और इस कारण रुष्ट होकर मौन साध लिया।

नायिकाने किसी सुन्दरी दूतीको नायकके पास (बुलानेके लिये) भेजा। वह दुष्टा दूती स्वयं नायिका बनकर वहां नायकसे काला मुंह करा आयी। नायक और दूती जब नायिकाके पास आये तो उनकी शरमाई हुई आंखोंसे नायिका ताड़ गयी कि कुछ दालमें काला ज़रूर है। इसलिये क्रोधसे उनकी ओरसे आंख फेरकर बैठ गयी! वे चोरी करके आये थे, इसने भी उनसे आंखें चुरा ली!

इस दोहेमें कई टीकाकारोंके मतसे "विषमालङ्कार" है। परन्तु अमरचंद्रिकाकारने इसपर अपने कई दोहे लिखकर इस बातका खण्डन किया है और यह सिद्ध करना चाहा है कि इस दोहेमें जिन्होंने "विषमालङ्कार" माना है, वह ठीक नहीं। हेतु यह दिया है कि "जहां इष्टके लिये उद्यम किया जाय और फल अनिष्ट हो वहां "विषम" होता है।—"यहां प्रियको बुलाना इष्ट था, सो वह आगया। यदि दूती प्रियको इसके पास न लाकर किसी और ठौर ले जाती तो अनिष्ट होता"—इस प्रकार "विषम" का खण्डन करके यहां एक नया "अमित" (?) अलंकार माना है, और उसका लक्ष्य लक्षण यह दिया है:—

'अमित' साधनै भोग वै साधक सिद्धि प्रवीन।
तिय साधक पिय सुरति-सिधि सखि साधन तिय लीन॥

'अमरचन्द्रिकाकार' की इस कल्पनाका खण्डन रसचंद्रिका-

कारने इस प्रकार किया है—

"नायिकाने पहले तो नायक सों अनबोलो (मौन) लियों हतो, फिर बुलाया पियको आपही बसीठ पठै कै (दूती भेजकर) सो सखी जो बसीठ (दूतत्व) को गई थी सो नायक सों सुरति करि आयी सो दोनोंकी दीठि सकुचौंहीं देखि कै, आपु ही डीठ चुराई"—अलकार "विषम" भेद तीसरो, तिसका लक्षण—" इष्ट उद्यम मे अनिष्ट प्राप्ति होय, सो यहा सुखको बुलायौ तौ (थौ ?) सो दोनोंको सकुचौंहौ देखिकै दुख भयो । और जो यों कहिये कि वसीठ और ठौर लै जाती, सो यह अजुक्ति है, काहू बरनौ नहीं"—

(रसचद्रिका)

अर्थात् अमरचंद्रिकाकारका यह कथन "कि यदि दूती नायकको किसी और जगह ले जाती तो "विषम" होता।" ठीक नहीं। क्योंकि किसी कविने ऐसा वर्णन नहीं किया। दूती अमानतमे खयानत तो कर आती है—इसका झींकना तो कवियोंने बहुत झींका है पर ऐसा कभी नही हुआ—किसीने वर्णन नहीं किया कि वह नायक को जहांके लिये लेने गयी हो वहां न लाकर किसी दूसरी जगह ले गयी हो। अस्तु।

अलङ्कार-१—"विषम"। २—"अनुमान" दृष्टि चुराने और लजाने से सम्भोगका निश्चय किया—

—" जहँ अदृष्टको हेतु सों जान लेत अनुमान।"

३—पदार्थावृत्ति दीपक— दीठ दीठ—एक पद, एक अर्थ।

ज्येष्ठा-कनिष्ठा-वर्णन

१२०

हठि हित करि प्रीतम लियौ कियौ जु सौति सिंगार,
अपने कर मोतिन गुह्यौ भयौ हराहर हार ॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थः— (प्रीतम हठि हित कर लियौ)—प्रियतमने हठ करके और प्रेमसे लिया था (जु सौति सिगार कियौ)-जिसे सपत्नीका सिंगार कर दिया—उसे पहना दिया, (अपने कर मोतिन गुहयौ हरा)-अपने हाथसे गूंथा हुआ मोतियोंका वह हार (हरहार*भयौ)-शिवका हार— सर्प- होगया !

नायिकाने अपने हाथसे एक मोतियोंका हार बनाया था. जिसे पतिने प्रेम भरे हठसे उससे लेलिया और अपनी दूसरी प्रियाको जा पहनाया, सो नायिकाको सपत्नीके गलेमे पड़ा वह अपने हाथका गुंथा हार सांपके समान भयानक प्रतीत हुआ।

हरिकविको इस नायककी दरिद्रतापर दया आयी है उन्होंने अर्थान्तर करके इसका दारिद्र्य दूर किया है। वह कहते हैं कि इस अर्थमें नायकका दारिद्र्य प्रतीत होता है कि उसने एक पत्नीसे हार लेकर वही दूसरीको जा पहनाया। इसलिये ऐसा अर्थ करना चाहिये कि नायिकाने अपने घरमें नायकका सिगार किया है, हार पहनाया, है, उस हारको पहने वह नायिकाकी सौतके घर गया सपत्नीने हठ

*"हरहार—शेषनाग, हार भी श्वेत है, शेषका भी श्वेत ही वर्णन है, शेष नाग सा भयानक होगया" (व्यासजी)

भावोदय। नायिकामें ईर्ष्योदय।

और हित करके वह हार ले लिया, उतरवा दिया और अपना हार पहनाकर उसका सिंगार किया" जिसने पहला सिंगार कियाथा,उसे यह नया सिंगार "हरहार, भयो, हरके हाग्यो भयो दुखदाई भयो।—

अलंकार—प्रथम विभावना विना कारणके कार्य ।

(अनवरचंद्रिका)

२-"व्याघात"- अपने हाथका गुहा मोतियोका हार सांप होगया! सुखद वस्तु दुखद होगयी (अमरचद्रिका)।

३—"वाचक-धर्म-लुप्ता उपमा"- (हरकवि)

"हरहार" हर के हारके तुल्य भयानक। इसमें वाचक-लौं आदि और साधारण -धर्म भयानकता-आदि लुप्त हैं।

४-पूर्वार्धमे छेकानुप्रास और उत्तरार्धमे "वृत्त्यनुप्रास"।

(श्रीप्रताप)
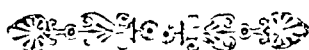
१२१

सुरँग महावर सौति पग निरखि रही अनखाय। पिय अँगुरिन लाली लखै खरी उठी लगि लाय॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ:— (सौति पग, सुरँग महावर, निरखि)-सपत्नी-के पॉवमे अच्छे रंगकी महावर लगी देख (अनखाय रही)-नाराज़ होरही थी, फिर (पिय अँगुरिन लाली लखै) - प्रियके हाथकी उँगलियोंमे लाली देखकर (खरी लाय लगि उठी)-अत्यन्त आग लग उठी।

—सपत्नीके सुन्दर पांवोमें सुरंग महावर लगी देखकर नायिकाको ईर्ष्याजन्य क्रोध हो ही रहा था, कि उसने प्रियकी उंगलियां भी रंगी देखी, इससे क्रोधाग्नि और भभक उठी। पहले तो यही ईर्ष्या थी कि यह प्रियको रिझानेकी तय्यारी कर रही है, सुरंग महावरसे रँगे इसके सुन्दर पांवोंपर पति ज़रूर लोट पोट हो जायगा* जब देखा कि प्रियकी उंगलियां भी लाल हो रही है, तो यह जानकर कि यह इन्हीने अपने हाथसे रंगे हैं और भी आग लग उठो, जी जल गया !—"वरत अनलमे मनु घृत परेउ" --

अलंकार— १—"अनुगुण-"

—"प्राक्सिद्धस्वगुणोत्कर्पोनुगुणः परसन्निधेः।"

जहां पूर्व सिद्ध गुण कारणान्तर—परसन्निधि आदिसे— अधिक होजाय वहां "अनुगुण" होता है।

"जावक लखि हुतियै सुरिस वढी सुपिय दुति देखि"

महावरको देखकर तो क्रोध था ही— पियकी उंगलियों की लाली देखकर वह और बढ़गया।

२— " समुच्चय "— (अनवरचन्द्रिका)

—"बहूना युगपद्भावभाजा गुम्फः "समुच्चयः।"

—"अहप्राथमिकाभाजामेककार्यान्वयोपि सः।"

एक साथ होनेवाले अनेक भावोका वर्णन जहाँ हो, वह 'समुच्चयालंकार' है।

"टोड 'समुच्चय' भाव वहु कहूक उपजे सग।

"एक काज चाहे कियो ह्वै अनेक इक सग"

---

*अच्छा रंग जो महावरका सौतिनके पाइनमें देखकर बुरा लगा, इस वास्ते कि जो मुझे अच्छा लगेगा तो प्रीतमको भी अच्छा लगेहीगा।

(रसचन्द्रिका)।

परन्तु इस अलंकारकी संगति इस दोहेमें ठीक नहीं बैठती। अतएव, क्रोध और लाग, अग्नि,–लक्षणासे क्रोधाग्नि, एक ही भाव है।

"हेत्वलंकार"—(हरिकवि)

हेतु—सुरंग महावर देखना। हेतुमान् (कार्य) अनखाना नाराज़ होना।

हेतु—प्रियकी उंगलियोंकी लाली। हेतुमान् आग लग उठना। "डबल" "हेतु" अलंकार है!

■ ——— □ ——— ■

स्वाधीनपतिका-वर्णन

१२२

रहौ गुहो बेनी लखे गुहिवेके त्यौनार।
लागे नीर चुचावने नीठि सुखाये बार॥

(नायिकाका* वचन नायकसे)—

अर्थः—(रहौ)— ठहरो, रहने दो, (बेनी गुही)— वेणी गुँथ चुकी। (गुहिवेके त्यौनार। लखे)-तुम्हारे गूंथनेकी चतुराई देखली (नीठि सुखाये बार)-किसी प्रकार कठिनतासे सुखाए बाल (नीर चुचावने लागे)--पानी टपकाने लगे।

नायक अपने हाथसे नायिकाकी वेणी (जूडा) बांध रहा है, नायिका कहती है कि बस रहने दो, तुमसे वेणी गूँधी जा चुकी, वेणी गूँधनेकी तुम्हारी कुशलता देखली! बाल (केश) जो मुश्किलसे सुखाये थे सो ऐसे भीग गये कि उनसे पानी चुचाने लगा। अर्थात् तुम्हारे सात्त्विक पसीनेसे बाल तर होगये।

अलंकारः—" व्याजोक्ति "—

* स्वाधीनपतिका नायिका, गर्व सचारी, कपट अनादरसे विव्वोक हाव।
। त्यौनार— प्रकार, कौशल (व्यासजी)

" व्याजोक्तिरन्यहेतूक्त्या यदाकारस्य गोपनम् । "

" व्याजोक्ति कछु और विधि कहै दुरै आकार । "

—सात्त्विक भाव नायिकाको हुआ है, पर कहती है कि तुम्हारे पसीजे हाथोंसे बाल भीग गये । इस प्रकार गर्वसूचक वाक्योंसे अपने सात्त्विक आकारको छिपाती है ।

२—"तृतीय असङ्गति"—

" अन्यत्कर्तुं प्रवृत्तस्य तद्विरुद्धकृतिस्तथा । "

काम कुछ आरम्भ किया जाय और होजाय कुछ और वेनी गूँधना प्रारम्भ किया और उसमें नीर चुवाने लगा !

(श्रीप्रताप)

रसचंद्रिकाकारके मतमें सात्त्विक भाव नायकको हुआ है, उसीके हाथके " पसीना सों वार (ल) चुवान लगे हैं "— इनके मतानुसार—

३—"पूर्वरूप" अलङ्कार है । जहां फिर अपने गुणको प्राप्ति हो जाय, वहां 'पूर्व रूप' होना है, यहां भीजे बाल मुश्किलसे सुखाये सो सात्त्विक भावसे फिर नीर चुवान लगे !

(रसचंद्रिका) ।

४—'काव्यलिङ्ग' भी सम्भव है । वेणी न गूँध सकनेका समर्थन नीर चुवानेसे किया ।

इस दोहेमें अमरचंद्रिकाकारने न जाने किस अभिप्रायसे "परिवृत्त्यलंकार" मानकर यह दोहा लिखा है और लल्लूलालजीने भी वही उद्धृत किया है—

परिवृत कीजै और कछु उपजि परै कछु और ।
गुहिवौ काज परति लख्यौ नीर चुवनि तिहि ठौर ॥ "

किंवा—गुहिवे कारजंत लख्यौ

पर यह लक्षण तो तृतीय असङ्गतिका

है। "परिवृत्ति" का लक्षण तो यह है:—

" परिवृत्तिर्विनिमयो न्यूनाभ्यधिकयोर्मिथः । "

" परिवृती लीजै अधिक थोरेई कछु देय "

अर्थात् जहां थोड़ी चीज के बदले अधिक ले ली जाय, व

'परिवृत्ति' अलङ्कार होता है।

कृष्ण कविने इसे ओर ही प्रकार लगाया है। यथा–

"यह नायक सखी वेष होके, नायिकाको शृंगार करन लाग्यौ बेनी गु

सात्विक भाव उपज्यौ, तब नायिकाने जान्यौ सो नायकसो कहति है।"–

"गोपीको वेष बनाय गुपाल जू श्रीवृषभानुसुता ढिग आये,

हौ सजि जानत नीके सिंगार कहो तु करौं कहि बैन सुनाये।

बैनी गुहावत प्यारी कह्यौ सु बनाय इते कितते तुम पाये,

नीर चुचान लगे अब हीं सटकारे से बार जे नींठि सुकाये।

१२३

पिय प्राननि की पाहरू जतन*करति नित आप

जाको दुसह दसा भये* सौतिन हू सन्ताप॥

(सखीका वचन सखीसे।)—

अर्थ:—(पिय प्राननिकी पाहरू)—प्रियके प्राणोकी पाह

रक्षक–पहरेदार है। अतः (आप नित जतन करति)–सपत्निय

---

*पाठान्तर— " करत जतन तन आप। करति जतन अति आप। भ

परयौ। † स्वाधीन पतिका, प्रोषितपतिकाकी व्याधि दशा, सपत्नियों

शंका संचारी।

आप नित्य यत्न-प्रतीकार करती हैं, (जाकी दुसह दसा भये)- जिसकी दुःसह दशा होनेपर (सौतिन हू संताप)— सपत्नियोंको भी संताप हुआ।

किं वा " नायिका आपको प्रियके प्राणोंकी पाहरू जानकर यत्न करती है, नहीं तो अब तक शरीर छोड़ देती"— (हरिकवि)।

विरह-व्याधि* से नायिकाकी दशा दुःसह हो रही है, उसका जीवन संशयित हो रहा है, वह प्रियके प्राणोंकी पाहरू" पहरेदार है। हरिकविके कथनानुसार " जो यह मरेगी तो नायक कभी जीवै नहीं। " इसलिये – (अपनी सौभाग्यरक्षाके लिये) सपत्नियां भी उसके इस दु खसे संतप्त हैं, और सापत्न्यके शत्रु-भावको छोड़कर प्रतीकारमें तत्पर हैं, हर वक्त इलाज माल्जेमें लगी हुई हैं।

"अलङ्कार— "सम्बन्धातिशयोक्ति"—

"सम्बन्धातिशयोक्तिः स्यादयोगे योगकल्पनम् ।"

" सम्बन्धातिसयोक्ति जहँ देत अजोगहि जोग ।"

अयोग–असम्बन्धमें सम्बन्धका वर्णन करना "सम्बन्धातिशयोक्ति" है। सपत्नीको सपत्नीके दुःखका सन्ताप हो, इसका योग नहीं है, तो भी यहां यह योग कहा गया है।

"सम्बन्धातिशयोक्ति— अजोग विषै जोगको वर्नन, सो इहां सौत कौ सन्ताप अजोग है, पियके प्राननके हेत जोग भयो " (रसचंद्रिका)

---

* "अग बरन विवरन जहां अति ऊंचे ऊसास ।
नैन नीर परिताप बहु 'व्याधि' सु केसवदास ।"

२—" वृत्यनुप्रास "— पकारकी आवृत्तिसे।
३—" छेकानुप्रास " दकारकी आवृत्तिसे ।
'करन जतन तन आप' पाठान्तरमें तन तनमें "यमक"।
इसी भावकी एक गाथा और एक आर्या भी है:—

"सो तुज्झ कए सुंदरि ! तह छीणो सुमहिलो हलिअउत्तो।
जह से मच्छरिणीए वि दोच्चं जाआए पडिवण्णम् ॥ "

(स तव कृते सुन्दरि ! तथा क्षीणः सुमहिलो हालिकपुत्र ।
यथा तस्य मत्सरिण्यापि दूत्य जायया प्रतिपन्नम् ॥ गा०स०१। ८४)

—दूती किसी नायिकासे कहती है कि हे सुन्दरी ! तेरे वियोगमें वह सुन्दरी स्त्रीका पति हालिकपुत्र इतना क्षीण हो गया है कि पतिमरणके भयसे उसकी मत्सरिणो (ईर्ष्यालु) स्त्रोने तुझे मिलानेके लिये दूतत्व करना स्वीकार किया है। वह तुझे मनानेके लिये तेरे पास स्वयं आना चाहती है। 'सुमहिल:" विशेषण का भाव यह है कि यद्यपि वह सुन्दर रमणीका पति है तो भी तुझपर आसक्त है। इससे नायिकाके सौन्दर्यातिशयकी स्तुति और हालिकपुत्रका दृढानुराग व्यङ्ग्य हैं। हालिकरमणीके'मत्सरिणी' विशेषणमें यह ध्वनि है कि वह ऐसी पतिप्राणा है जो सापत्न्यभावको भूलकर, स्वाभाविक ईर्ष्याको छोड़कर पतिकी प्राणरक्षाके लिये, अकार्य कार्य करने पर भी उतारू हुई है। इसलिये तू शीघ्र मिल नहीं उसकी हत्या तेरे सिर होगा।

" प्रियविरहनिःसहायाः सहजविपक्षाभिरपि सपत्नीभिः ।
रक्ष्यन्ते हरिणाक्ष्याः प्राणा गृहभंगभीताभिः ॥"(आ०स०३८०)

—हरिणाक्षी नायिका प्रियके विरहमें ऐसी निःसह—क्षीण— हो रही है कि स्वाभाविक शत्रु जो सपत्नियां हैं वे भी घर बिगडनेके डरसे उसके प्राणोंको बचा रही हैं !

गाथा, आर्या और दोहा, इन तीनोंका भाव एक है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'गाथा'की छायापर आर्या बनी और "गाथा" तथा आर्याकी छायाको लेकर यह दोहा रचा गया है। आर्याकारने गाथाके हालिकपुत्रको दूर करके प्राकृतताकी जगह 'नागरिकता' ला दी है। तथा गाथा के "मत्सरिण्यापि जायया" का भाव आर्याके "सहजविपक्षाभिरपि सपत्नीभिः" इन पदोंमें भर दिया है, और "तव कृते तथा क्षीण" का अर्थ "प्रियविरहनि.सहा" मे धरागया है। आर्याके इस विशेषण "प्रियविरहनिःसहायाः" का भाव टीकाकारने यह निकाला है— "एत्र च प्रकारान्तरमरणे ननार्थः सत्त्वादिति भावः।" अर्थात् यदि यह प्रियके वियोगमे क्षीण होकर न मरती किसी और कारण रोगादिसे मर जाती तो बात दबाई भी जा सकती थी। प्रियका समाधान करके घर बचा रहना सम्भव था। परन्तु इस 'भाव'मे स्वार्थभाव झलक रहा है, निर्व्याज प्रेमकी गन्ध नहीं।

तथा आर्याको सपत्नियोंका "गृहभगभीनाभि" विशेषण भी विशुद्ध प्रेमकी अपेक्षा दुनियादारीकी समझ, स्वार्थमूलक प्रेमको प्रकट करता है। उन्हें पतिका जीवित रहना, घर बचानेके लिये अभीष्ट है, गृह-रक्षाका ध्यान मुख्य और पति-प्रेम (यदि कुछ हो तो) गौण है! प्रेमके प्रपञ्चमें ऐसी वणिग्-बुद्धि कुछ शोभा नही देती। निर्व्याज प्रेममें घर बार की चिन्ता कैसी। चिन्ता तो एक और ऐसी चर्चा भी नहीं सुहाती!

"गृहभङ्गभीताभि"— के 'गृह' पदका अर्थ यदि "न गृहं गृह-मित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते"— के समान, लक्षणासे 'गृही' घर-वाला अर्थात् पति भी मान लिया जाय, तो भी वह बात कहां, जो "प्रिय प्रानन की पाहरूमे" है। "गृह" शब्दसे प्रियका बोध

कराना तो दूर रहा, यदि साक्षात् "पति" पदसे भी प्रियका बोध कराया जाय तो भी वह चमत्कार नहीं रह सकता, जो "प्रिय"में है। प्रेमके क़ानूनमें तो 'पति' "भर्ता" "स्वामी" 'नाथ' इत्यादि प्रियवाचक पदोंका प्रयोग भी अनौचित्यमें गिना जाता है, फिर घरमें और प्रियमे तो बहुत दूरका सम्बन्ध है! सहृदयहृदय-मेवात्र प्रमाणम्।

"नार्येति परुषमुचित प्रियेति दासेत्यनुग्रहो यत्र।
तद्दाम्पत्यमितोऽन्यन्नारी रज्जुः पशुः पुरुषः॥" आ० स०

विहारीके दोहेमे प्रेमकी निर्व्याजताको संशयित करने वाला ऐसा कोई पद या भाव नहीं है। वह बहुत गम्भीर है। "प्रिय प्रानिनको पाहरू" पदने उसमे प्राण डाल दिये हैं! आर्याकी सपत्नियाँ तो गृह-भङ्गके भयसे प्राणमात्र बचा रहीं हैं। [प्राणा रक्ष्यन्ते] सिर्फ यह चाहती हैं कि इसके प्राण न निकले। उन्हें कुछ और दुःख या सन्ताप नहीं है। वह उसका अच्छा होना नही चाहती, (गृह-भङ्गका डर न होता तो शायद गला घोटकर मार डालतीं!) और दोहेकी सपत्नियाँ "जतन करत नित आप"— हर वक्त उसे अच्छी करनेकी फ़िक्र मे लगी हैं। ऊपरी जी से उसके उपचारमें नहीं लगीं कि वे उसके सन्तापसे स्वयं भी सन्तप्त हैं। पूरी समवेदनासे उसके दुःखमे शरीक हैं, वे केवल यही नही चाहतीं कि इसके प्राणमात्र न निकलें, प्रत्युत उन्हें बड़ी चिन्ता है किसी प्रकार यह अच्छी हो जाय। उन्हें 'गृह-भङ्गका' भय नही, पतिके 'प्राण-प्रयाणका डर है। पहरेदारकी निर्बलतासे प्राणेश्वरके प्राण-धनके विनाश की आशङ्का है, जब तक 'प्राणोंकी पाहरू' स्वस्थ दशामें न हो प्रियका प्राण-धन भी सुरक्षित नहीं है। इसीलिये वे सन्त

और सचिन्त हुईं उपचारमें तत्पर हैं, 'पहरेदार' और 'धनी' के चित्तमें यह विचार भी नहीं आने देना चाहतीं कि ये इसकी अस्वस्थतासे प्रसन्न या उदासीन हैं, पूरी हमदर्दीसे इलाज कर रहीं हैं। बीमारदारी इसे कहते हैं ! समवेदना ऐसी होती !! विशुद्ध पति-प्रेम इसका नाम है !!!

अपनेसे पहिले दो महाकवियोद्वारा वर्णित विषयको इस सुन्दरतासे वर्णन करना – प्राचीन भावमे नवीनताका चमत्कार दिखा देना, महाकवि विहारीलालहीका काम है !

१२४

टुनिहाई सब टोलमें रही जु सौति कहाय।
सु तौ ऐंचि पिय आप त्यौं करी अदोखिल आय॥

(सखीका वचन नवोढासे)—

अर्थ —(सब टोलमें)–सब सखियोके समूहमें या अड़ौस पड़ौसमे (जु सौति टुनिहाई कहाय रही)– जो सौत टुनिहाई–टोना करनेवाली– जादूगरनी कही जाती थी – प्रसिद्ध थी, (सुतौ आय)– सो तूने आकर, (पिय आप त्यौं ऐंचि)– प्रियको अपनी ओर खींचकर (अदोखिल करी)– वह सपत्नी दोष-रहित कर दी ।

नवोढा नायिकाके रूपादि गुणोंकी प्रशंसा करती हुई सखी उससे कहती है कि तेरे आनेसे पहले नायक तेरी जिस सौतके वशमें था, वह 'टुनिहाई'– टोना करनेवाली प्रसिद्ध

1 "नायिका उपासन्नपतिका—स्वाधीनपतिका" (अनवरचन्द्रिका)

थी, कि इसने पतिपर जादू करके उसे इस प्रकार अपने वशमें कर रखा है जो हर वक्त इसीके पास पड़ा रहता है। सो तूने आते ही अपने लोकोत्तर रूपादि गुणोंसे नायकको अपनी-ओर खींचकर अपनी उस सौतको दोषरहित कर दिया। अर्थात् उसे इस इलाज़ामसे बरी कर दिया कि वह टोनाकरनेवाली है। क्योंकि यदि वह 'टुनिहाई'—जादूगरनी— होती, तो नायकउसके फन्देसे छूटकर तेरे वशमे न हो सकता, इससे जाना गया कि जादूसे नही, किन्तु सौन्दर्य्यादि गुणोंहीसे उसने नायकको अपने अधीन कर रखा था, अब उससे अधिक रूपवती और गुणवती होनेके कारण नायकको तूने अपनी ओर खींच लिया।

अलङ्कार — १-" लेश "—

"लेशः स्याद् दोषगुणयोर्गुणदोषत्वकल्पनम्।

"गुनमें दोषरु दोषमें गुन कल्पन सो लेश।"

अर्थात् जहां गुणके स्थानमें दोषकी और दोषके स्थानमे गुणकी कल्पना हो जाय, वहाँ 'लेशालङ्कार'होता हैं। जैसे यहाँ सौतमे टोना करने रूप दोषके स्थानमे गुणवती होने रूप गुणकी कल्पना की गयी। नायकका वशमे होना टोनाके प्रभावसे नही था किन्तु सौन्दर्य्यादि गुणोंके कारण था। यह अब सब टोल—सखियोका गोल— जान गया। वह टुनिहाई कहलानेके दोषसे छूटकर सखियोके टोलमे गुणवती समझी जाने लगी।

२—"उल्लास"—

"एकको जो गुन दोष आन (अन्य) गहै सो उल्लास" (कण्ठाभरण)"नायिकाके गुणसे सौतमें गुण हुआ"(श्रीप्रताप)

अथवा,३—"हेतु अलङ्कार"-प्रियको खींचना—वशमें करना हेतु, "अदोखिल" होना- हेतुमान् ।

किंवा—युक्तिसे 'अदोखिल' होनेका समर्थन किया इससे ४—" काव्यलिङ्ग " भी होसकता है, सो इस प्रकारके सन्देहसे 'सन्देहसंकरालंकार' है। (हरिप्रकाश)

डाक्टर ग्रियर्सनद्वारा सम्पादित लालचन्द्रिकाके परिशिष्ट Additional notes में इस दोहेके लेशालंकारकी व्याख्यामें एक लम्बा नोट है। जिसमें दोषको गुण एक नये ही ढंगसे सिद्ध किया गया है। नोट बहुत ही अनोखा है! अत: साहित्य-मर्मज्ञोंके मनोविनोदार्थ उसे उद्धृत किये देते हैं:——

"जहाँ किसी कारणसे दोषको गुणके रूपमे प्रकाशित करें वहां लेशालङ्कार होता है। यथा सौतियों का (नायक को) वशमें रखनेका ढंग टोना (जादू वशीकरण आदि) दोष था। अर्थात् मारण मोहन उच्चाटनादि बुरे प्रयोग हैं , पर जब तूने- (नायिकाने) नायकको अपने गुण रूप आदि से अपने वश कर लिया, तो वही वशी-करणका दोष गुण हो गया। अर्थात् ऐसी दशामें नायक बहुत स्त्रियों की आसक्ति छोड़ कर, एक स्त्री पर स्नेह करने लगा। 'सब'और 'टोल' शब्द से अनेक नारी सिद्ध होती हैं नायिका नई और स्वकीया है। उसके पक्ष मे पति का अनेक नारी अनुरक्त होना, उसके (नायिकाके) रूपादि में न्यूनता का दोष, और नायकमे कामुकता का दोष, दिखाता था। पर जब नायिका ने उन्हीं कामों से (जिनसे सौतें नायक पर वशी-करणसा किए थीं) नायक को अपने वश कर लिया, तो नायिका

नायक के दोनों दोष मिट गये। अतः वशी-करण का दोष गुण हो गया। ”

इस नोटकी अन्यान्य कल्पनाओंकी सारताका विचार तो हम सहृदय पाठकोंपर ही छोड़ते हैं, पर “सब” और “टोल” शब्दपर कुछ कहना चाहते हैं। ‘सब टोल’ शब्दसे अनेक नारी सिद्ध नहीं होतीं, और के विषयमें तो कह नहीं सकते पर यह नायक अनेक नारियों में अनुरक्त नहीं था। किन्तु एकही नारीके प्रेमपाशमें बंधाथा। पुराने सब टीकाकार एक स्वरसे इस बातको कह रहे हैं, जादू करनेके लिये ‘सम्भूयसमुत्थान’की आवश्यकता भी नहीं कि बहुत सी सपत्नियाँ मिलकर ही मारण मोहन उच्चाटनादि बुरे प्रयोगोंसे एक नायकको वशमें रख सकें!

इस दोहेकी “सौति” एक ही है। वही सब टोलमें–सब सखियोंके समूहमें, या अड़ौस पड़ौसमें, अथवा सारे मुहल्लेमें टुनिहाई प्रसिद्ध थी, ‘सब टोल’ शब्द अनेक नारियोंके सूचक यहां कदापि नहीं हैं। ‘सौति’ एक वचन है, उससे सम्बन्ध रखनेवाली क्रियाएं ‘रही’ और ‘करी’ भी एक वचन हैं। इसमें सब टीकाकार सहमत हैं। किसी पुस्तकमें भी “सौतिन” ‘रहीं’ ‘करीं’ ऐसे बहुवचनसूचक पाठान्तर नहीं हैं। सतसईके बहुत प्राचीन टीकाकार कृष्ण कविका “सवैय्या” जो इस दोहेपर है वह पठनीय है:–

“ रात दिना छकि याही के धाम परयो रसमें रहतो सुखदाई,
पास परौस बके कहतीं यह बीस बिसे तिय है टुनिहाई।
तू जबतें गुन रूपकी रासि सुसील सुहागिल गौने ही आई,
प्राणपती अपने बस कै तैं भली करी सौति की छून बहाई।”

स्वकीया प्रोषितपतिका-वर्णन

१२५

रह्यौ ऐँचि अन्त न लह्यौ अवधि-दुसासन बीर।
आली बाढ़त बिरह ज्यौं पंचाली कौ चीर॥

(विरहिणी नायिकाका वचन सखीसे)—

अर्थः—(वीर अवधि-दुसासन)-वीर जो अवधिरूप दुःशासन है, सो (ऐंचि रह्यौ)-खींच रहा है, पर (अन्त न लह्यौ)-अन्त नही पाया (आली)-हे सखी ! (बिरह ज्यौं पंचाली कौ चीर बाढ़त)-विरह पाञ्चाली द्रौपदीके चीरके समान बढ़ रहा है।

प्रोषितपतिका विरहिणी, विरहको अनन्त दीर्घतासे घबराकर सखीसे कहती है कि पराक्रमी अवधिरूप दुशाःसन विरहको बहुतेरा खींच रहा है, पर उसका अन्त हाथ नहीं आता ! वह द्रौपदीके चीरकी तरह बढ़ता ही जाता है ! अभिप्राय यह कि अवधि भी विरहवेदनाको दूर करनेमें असमर्थ है, आनेकी अवधि आती है, पर प्रिय नहीं आता, अवधि समाप्त हो जाती है, पर विरहका अन्त नहीं होता। "दुःशासनकी" तरह अवधि अपना ज़ोर लगाकर थक जाती है। पर पांचालीके चीरकी तरह विरहका अन्त नहीं मिलता, वह द्रौपदीके चीरके समान बढ़ता ही जाता है। बहुत मनोहर "पूर्णोपमा" है !

" सा पूर्णा " यदि सामान्यधर्म औपम्यवाचि च।
उपमेयं चोपमानं भवेद्वाच्यम् .... ।"
" उपमेयरु उपमान जहं वाचक धर्म सु चार।
पूरन उपमा .... ।"

अर्थात्, जहां उपमान, उपमेय और इन दोनोंके सामान्य धर्म-सदृशताके हेतु गुण क्रिया या मनोज्ञत्वादि, तथा औपम्य वाची इवादि शब्द, सब हों, वहाँ "पूर्णोपमा" होती है ।

—जैसे यहां, विरह उपमेय, पांचालीका चीर उपमान, अन्त न पाना–बढ़तेजाना साधारण धर्म, ज्यौं– वाचक शब्द।

अवधि-दुसासनमें 'रूपक'। 'रूपक' उपमाका पोपक है इसलिये रूपक उपमाका 'संकरालंकार' (अनवरचन्द्रिका)

"दोऊ अन्त न लहैं" इस एक क्रियासे "दीपक" (श्रीप्रताप)

रसनिधिकृत " रतनहजारा " में विहारीकी इस पूर्णोपमाका अनुहरण किया गया है। यथाः—

"दृग दुस्सासन लाल के ज्यौं ज्यौं खैचत जात ।
त्यौं त्यौं द्रोपदि चीर लो मन–पट बाढ़त जात ।।"

इसमें सन्देह नहीं, "अलंकार" का तो पूरा अपहरण हो गया, रूपक और पूर्णोपमा दोनों उतर आये ! पर जिस कविता-कामिनीको यह पहनाये गये हैं, उसे शोभा नहीं देते। इसमें चमत्कार नहीं, प्रत्युत 'नीरस' रसाभास प्रतीत होता है । 'मनस्विनी' नायिका शायद अपने मनकी निश्चलता और वहादुरीका वर्णन कर रही है कि लाल (प्रिय कहें या अप्रिय ?) के नेत्र रूप दुस्सासन ज्यौं ज्यौं खींचते जाते हैं, द्रौपदीके चीरकी तरह मेरा मनरूपी वस्त्र त्यौं त्यौं बढ़ता जाता है। अभिप्राय यह कि लाल-अहेरी

रूपके दाने डालकर अपना नेत्र-जाल कितना ही फैलावे पर मेरा मन-पंछी उसके हाथ नहीं आसकता ! इस दशामे तो शुद्ध रसाभास है। यदि इसके कहनेवाली दूती है, लाल सुनने वाले हैं, जिसके विषयमे कहा जाता है वह कोई पतिव्रता है, तब भी वही बात है।

१२६

*हिय औरै सी ह्वै गई टरे अवधि के नाम ।
दूजै कर डारी खरी बौरी बौरे आम ॥

(सखीका वचन सखीसे)†

(अवधि के टरे नाम)—आनेकी निश्चित अवधिके टलनेका नाम सुनकर, (हिय औरै सी ह्वै गई)—हृदयमे और ही प्रकारकी होगयी थी—उद्विग्नहृदया—होगयी थी, (दूजै बौरे आम खरी बौरी करि डारी)—इस पर बौरे-मौले हुए- पुष्पित-आमने अत्यन्त बावली बना दिया।

प्रोषितपतिका विरहिणी प्रियवियोगमें अवधिके दिनकी ओर लौ लगाए, दिल थामे, बैठी दिन गिन रही थी कि अचानक समाचार सुना "आनेकी अवधि टल गयी है—पीछे हटगयी है— उस दिन न आ वेंगे—फिर आवेंगे,—

* पाठान्तर—"ही" । "हिये"। "औरि"। "टरी"। "वाम" ।

† "यह बसन्त समय नायिकाकी अवस्था सखी नायक सों कहति है, सखी सखी हू सों कहै।" (कृष्णकवि)

कानमें यह भनक पड़तेही ग़रीबके होश उड़ गये, दिल टूट गया—" बस खूं टपक पड़ा निगहे-इन्तज़ारसे ! "आशाका बांध टूट गया। हृदय-हृदमें चिन्ता-तरंगोंका तूफ़ान सा उठने लगा, बेचारी अबलाको बौखलानेके लिये यही 'दुर्घटना'—अवधिका टलना-कुछ कम न थी कि इसपर ऊपरसे वसन्तने आकर और गज़ब ढा दिया। बौरे आमने रही सही कसर निकाल दी-विरहिणी बालाको बिलकुलही बावली— बनादिया !

अलङ्कार—"भेदकातिशयोक्ति"—बौरेके योगसे (अमचन्द्रिका) "उत्प्रेक्षा" "औरसी भई—और ही भई मानो,इहां "सी" 'मानो'के अर्थमें है। " (हरिकवि)

"समाधि अलङ्कार" (श्रीप्रताप)

" 'समाधि' कार्यसौकर्य्यं कारणान्तरसन्निधे. । "

—"सो 'समाधि' कारज सुगम और हेतु मिलि होत । "

जहां किसी अन्य कारणके आपड़नेसे कार्यसिद्धिमें सुगमता हो जाय, वहां 'समाधि'अलङ्कार होता है। जैसे दोहेमें वर्णित घटनामें अवधिके टलनेकी खबरने विरहिणीको बावली बनाना प्रारम्भ कर दियाथा,बौरे आमने यह काम सुगमतासे पूरा करदिया।

" मोहन सो बिछुरी जबन तबते न लही कल एक घरी है,
नैनन नीर ढरे निसि-बासर व्याकुल बाल अचेत खरी है।
ऐसी दसा पहले हि हुती पुनि और भई सुधि औधि टरी है,
तापर बौर रसालन देख्यौ वसन्त के मो [औ] सर बौरी करी है।"

(कृष्णकवि)

भाष्यके इस भागमें आये हुए दोहोंकी अकारादि क्रमसे पृष्ठांकसहित सूची

इति

शुद्धिपत्र ।

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
मेदनी	मेदिनी	५	१४
कुणल	कुण्डल	२६	४
अनेकमे	अनेकनमें	४०	१६
आलिम	आमिल	८६	दोहा

१८५ पृष्ठ पर २० वीं पंक्ति मे "बैठी है" के आगे "वह न" शब्द छूट गया है। १७४ पृष्ठपर ६५ वें दोहे में "सैन" शब्द किसी किसी कापी में नहीं उठा है, इसी प्रकार की अन्य भूलें विज्ञ पाठक स्वयं सुधार कर पढ़ने की कृपा करें।